श्रीगुरुजी : समग्र दर्शन

खंड ३

भारतीय विचार साधना, नागपूर

प्रकाशक :
पु. मो. सोनटक्के
कार्यवाह, भारतीय विचार साधना

सर्वाधिकार :
प्रकाशकाधीन

एकमेव वितरक :
सुरुचि साहित्य
झंडेवाला, नई दिल्ली ५५

मुद्रक :
दि. भि. घाक्रस
नाग मुद्रणालय
रईकर पथ, नागपुर

चित्ररचना :
वसंत चव्हाण, नागपुर

मुखपृष्ठ व चित्र छपाई :
शक्ती ऑफसेट, जेल रोड, नागपुर

संशोधित मूल्य
रु. 30/-

अनुक्रमणिका

कार्यकर्ताओं को मार्गदर्शन १

स्वयंसेवकों को मार्गदर्शन .... [illegible]

लेख ८१

भेंट-वार्ता—वक्तव्य १२२

संस्मरण .... [illegible]

निवेदन

'श्रीगुरुजी : समग्रदर्शन' ग्रंथमाला का तीसरा खंड 'भारतीय विचार साधना' को प्रकाशित करने हेतु-देते हुए हमें आनंद और संतोष का अनुभव होता है। सन् १९५० की वर्ष-प्रतिपदा से सन् १९६० फाल्गुन व ॥ ३० तक के कालखंड में प. पू. श्रीगुरुजी द्वारा बौद्धिकों, लेखों, वार्तालापों और वक्तव्यों द्वारा जो विचार व्यक्त किये गए उनमें से कुछ का संकलन इस खंड में किया गया है।

मार्च सन् १९५४ में संपूर्ण भारत से लगभग ३०० प्रमुख प्रचारकों के दस दिवसीय शिविर में प. पू. श्रीगुरुजी के साथ मुक्त विचार-विनिमय हुआ। इस शिविर में प. पू. श्रीगुरुजी ने जो भाषण किए उनमें से कुछ विशेष भाषणों का इसमें समावेश किया गया है। कर्नाटक के महाविद्यालयीन छात्रों से वार्तालाप, स्वामी विवेकानंद को समर्पित भाव-सुमनांजलि, गोवध-विरोध आंदोलन के लिए जन-जागरण निमित्त मार्गदर्शन, डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी को श्रद्धांजलि अर्पण करने के साथ भारतीय जनसंघ की स्थापना की जानकारी, लोकमान्य तिलक जन्मशताब्दि उपलक्ष में केसरी में 'हिंदुत्व का उद्घोष' शीर्षक से प्रकाशित लेख, चीनद्वारा तिबेट की तथाकथित 'मुक्ति' के बाद प. पू. श्रीगुरुजी द्वारा किया गया जागतिक राजनीति का अचूक विश्लेषण, आदि सामग्री इस खण्ड की विशेषता है।

महाराष्ट्र के प्रांत संघ-चालक पुणे के सुविख्यात अधिवक्ता मा. श्री. ब. ना. उपाख्य बाबाराव भिडे द्वारा प्रस्तावना लिखी गई है। समिति उनके प्रति आभारी है।

मूल उपलब्ध सामग्री हिंदी, अंग्रेजी तथा मराठी में है। मराठी, अंग्रेजी का हिंदी अनुवाद तथा संपूर्ण सामग्री के चयन-संपादन में जिन्होंने आत्मीयता से सहयोग दिया उनके प्रति स्मृति-संकलन समिति अत्यंत कृतज्ञ है।

भारतीय विचार साधना के भी हम अत्यंत आभारी हैं, क्योंकि उनकी उपक्रमशीलता और परिश्रम के कारण ही प्रस्तुत ग्रंथमाला के ७ खंडों में से इस खंड के साथ अबतक पांच खंड प्रकाशित हो सके हैं और इसके कारण समाज को प. पू. श्रीगुरुजी के अमूल्य विचारों से अवगत होने का सुअवसर प्राप्त हुआ है।

नागपुर

आश्विन शु. १० विजयादशमी
शकाब्द १९००
दि. ११ अक्तूबर १९७८

श्रीगुरुजी स्मृति संकलन समिति

प्रस्तावना

'श्रीगुरुजी स्मृति संकलन समिति' द्वारा संपादित व 'भारतीय विचार साधना' द्वारा प्रकाशित किये जा रहे 'श्रीगुरुजी : समग्रदर्शन' ग्रंथमाला का एक और खंड प्रकाशित होने जा रहा है। ये खंड जीवन के कालक्रम के अनुसार नहीं अपितु लेखन और संकलन की सुविधा के अनुसार आगे-पीछे प्रकाशित हो रहे हैं। यह तीसरा खंड है। सर्वप्रथम छठवां खंड प्रकाशित हुआ। उसकी प्रस्तावना प. पू. श्री. बाळासाहेब देवरस ने लिखी है। वस्तुतः वह प्रस्तावना यद्यपि प्रथम प्रकाशित छठवें खंड में सम्मीलित है फिर भी वह 'श्रीगुरुजी : समग्रदर्शन' संपूर्ण ग्रंथमाला की ही प्रस्तावना है।

इस ग्रंथमाला का नाम यद्यपि 'श्रीगुरुजी : समग्रदर्शन' है, फिर भी वह श्रीगुरुजी का चरित्र ही है। बडे-बडे महापुरुषों के जीवनचरित्र भिन्न भिन्न प्रकार के हुआ करते हैं। महापुरुष या विभूति के जीवन का मानवी जीवन पर जिस प्रकार का प्रभाव पड़ता है, तदनुसार वह जीवनचरित्र प्रस्तुत किया जाता है। कुछ जीवनियों में केवल अर्थपूर्ण किंतु केवल घटनाएं ही रहा करती हैं। प्रभुरामचंद्र का जीवनचरित्र देखें तो उनके जीवन की कुछ घटनाएं ही दृष्टि के सामने आती हैं। मानों वे घटनाएं ही बोलती हैं। उन्हीं में से मानवी जीवन का आदर्श उत्पन्न होता है, प्रस्तुत किया जाता है। परंतु महर्षि व्यास के जीवनचरित्र की ओर देखें तो उसमें घटनाओं के रूप में कुछ दिखाई नहीं देता, उनके विचार दिखाई देते हैं। भिन्न-भिन्न प्रसंगों के निमित्त वे व्यक्त हुए दिखाई देते हैं। जगत् के सभी विषयों पर उन्होंने विचार व्यक्त किये हैं।

'व्यासोच्छिष्टं जगत् सर्वम्' भली-बुरी सभी मानवी प्रवृत्तियों पर उन्होंने प्रकाश डाला है। श्रीशिवछत्रपति का जीवन लें। उनके जीवन की अनेकों घटनाएं आंखों के सामने आती हैं। शैशवकाल में बीजापुर के दरबार में प्रवेश करते समय गर्दन न झुकाने की स्वाभिमानी वृत्ति, अफजलखां के आलिंगन रूपी मगर-पाश से अपनी गर्दन छुडाने के लिए बाघनखों से उसके पेट की अँतडियां निकाल लेने की उनकी समयसूचकता, मुसलमानों के तख्त को चुनौती देनेवाले हिंदुओं के सिंहासन की स्थापना का पराक्रम आदि घटनाओं से उनका जीवन भरा हुआ है। परंतु राष्ट्रगुरु समर्थ रामदास स्वामी के जीवन का विचार करें तो उनके उपदेश, उनका दासबोध, उनका ग्रंथनिर्माण, आलो[illegible]

ही उनका जीवनचरित्र है। श्रीगुरुजी के जीवनचरित्र के संबंध में भी यही बात है। उनके मौलिक विचारों का दर्शन ही उनका चरित्रकथन है। उनके जीवन में घटनाओं की विविधता दिखाई नहीं देगी, क्योंकि उन्होंने अपना जीवन एक ही मार्ग पर ढाला था।

उनका सच्चा जीवन, उनके संघप्रवेश से ही आरंभ होता है; संघ ही उनका जीवन था। संघ को ही उन्होंने अपने जीवन का एकमेव लक्ष्य माना और इसी एकमेव कार्य के लिए विचारपूर्वक स्वतः को आमरण समर्पित कर दिया। उनका जीवन समर्पित था। संघ-निर्माता प. पू. डाक्टर हेडगेवारजी के जीवन में यही बात दिखाई देती है। किंबहुना डा. हेडगेवार जी का चलना, बोलना, ध्येयनिष्ठ जीवन श्रीगुरुजी के सामने था। वही आदर्श सामने रखकर श्रीगुरुजी ने अपना जीवन चरितार्थ किया।

जीवन का 'कार्य' निश्चित कर लेने के बाद उन्होंने अपना संपूर्ण ध्यान उसी पर केंद्रित किया। अपनी सभी शक्तियां उसके लिए दांव पर लगाई। अलग कुछ भी रहने नहीं दिया। व्यक्तिजीवन का संकोच कर वे संघजीवन जीये।

अपनी यह मातृभूमि, सर्वदूर फैला हुआ और विविधताओं से विभूषित उसका पुत्ररूप समाज, इसका प्राचीनकाल से चला आ रहा हिंदुराष्ट्र, इस हिंदुराष्ट्र को परम-वैभव के शिखर पर पहुंचाने की महान् आकांक्षा को उन्होंने अपना जीवन-लक्ष्य बनाया।

अपने समाज की वर्तमान दुरवस्था, उसकी अवनत स्थिति देखकर उनका मन विदीर्ण हो जाया करता था। यह संपूर्ण समाज सर्वांगपरिपूर्ण बनाना यही प्रत्येक हिंदुमात्र का जीवनकार्य बने, इसका मूर्तिमान उदाहरण श्रीगुरुजी ने प्रस्तुत किया। समाज तो है किंतु उसे 'स्वत्व' का बोध नहीं, उसमें स्वाभिमान नहीं, स्वतः को 'हिंदु' कहलाने में उसे लज्जा अनुभव होती है, उसमें विशुद्ध चारित्र्य नहीं, उसे समाजजीवन की—संगठित समाजजीवन की—पहचान नहीं, जिसे देखो वही स्वार्थ से सना हुआ, प्रत्येक व्यक्ति व्यक्तिनिष्ठ, तब उसमें देशभक्ति, राष्ट्रभक्ति कैसे रहे ! इस भांति के अनेक दोष समाज में भरे हुए और उसका परिणाम याने, अपने राष्ट्र का पिछले एक हजार वर्षों से अधिक समय का संकोच, आत्मविस्मृति, ह्रास का इतिहास। पहले का भारतवर्ष का मानचित्र भी आंखों के सामने नहीं आता। अब त्रिविष्टप कहां, अफगणि-स्तान कहां, ब्रह्मदेश और लंका कहां—और अभी-अभी पाकिस्तान के निर्माण ने तो इस देश के टुकडे ही करके रख दिये। ऐसी अवस्था में पडे अपने राष्ट्र को पुनः पूर्ववर्ती स्थिति तक ले जाने के लिए, पूर्ववर्ती वैभव प्राप्त कराने के लिए, संपूर्ण समाज एकरस, एकसंध, सुसंस्कारित, अनुशासनबद्ध याने ही सुसंगठित किया जाना चाहिये, इसके अति-रिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं, यह पक्की गांठ बांधकर संघ के माध्यम से संपूर्ण समाज को सुसंस्कारित करने का अभूतपूर्व कार्य श्रीगुरुजी ने जीवन भर, अंतिम क्षण तक किया।

प्राप्त-परिस्थिति में संघ ने एक अनोखी कार्यपद्धति अंगीकृत की। जिसे प्रचारतंत्र कहा जाता है, उसके माध्यम से लोगों को कदाचित कुछ जानकारी हो जाती है, किंतु

उससे सुसंस्कार नहीं होते। यह अनुभव ध्यान में रखकर, शाखा के द्वारा समाज के प्रत्येक घटक पर स्वत्व के, देशभक्ति के, समाजजीवन के संस्कार करने का तंत्र संघ की ओर से निर्माण किया गया और श्रीगुरुजी ने संपूर्ण जीवन भर उसी का प्रयोग किया। संपूर्ण देशभर अखंड संचार करते हुए बैठकों, भाषणों में यही विचार निरंतन प्रस्तुत किये और ये सब विचार सारांश रूप में इन खंडों में आए हैं।

इस खंड में, सन् १९५० से सन् १९६० कालखंड में विभिन्न अवसरों पर हुए उनके भाषण, उनके कुछ लेख, संघ कार्यकर्ताओं को संबोधित करते हुए उनके सामने विविध विषयों का मंडन-खंडन, कार्यकर्ता कैसा हो इसका विवेचन आदि बातों के साथ ही अन्य अनेक विषय भी इसमें आए हैं।

लगता है कि संघ के जन्म के साथ ही संघपर आक्षेप करनेवालों का भी जन्म हुआ है। प्रारंभकाल से ही अनेकों की ओर से संघ पर आक्षेप किये जाते रहे हैं। इतने वर्षों तक अविच्छिन्न रूप में और नितांत प्रकट रूप में संघ का कार्य चलता रहने के उपरांत भी विवेकशून्य आरोपों में कोई न्यूनता नहीं आयी है। आरोप सदा वही रहते हैं, कुछ तत्त्वज्ञान के संबंध में तो कुछ कार्यपद्धती के विषय में। इन सब आरोपों का श्रीगुरुजी ने पुनः-पुनः खंडन किया है।

संघ पर से पहला प्रतिबंध उठने के बाद, भयग्रस्त समाज में संघ का कार्य पुनः स्थिरपद बनाने के लिए श्रीगुरुजी को अविश्रांत और अथक परिश्रम करने पडे। उस समय संघ से संबंधित सभी विषयों का गहराई में जाकर श्रीगुरुजी को प्रतिपादन करना पडा और संपूर्ण देश में उन्होंने वह प्रतिपादन किया।

हिंदु ही क्यों? हिंदुओं का ही संगठन क्यों? हिंदुराष्ट्र कैसे? अहिंदुओं का क्या होगा? आदि विषय उस समय उपस्थित किये जाते थे और स्थिति आज भी वही है। संघ के सामर्थ्य की प्रचीति होकर तानाशाही में से पुनः स्वतंत्र राष्ट्र का उदय हुआ, सत्तांतर हुआ और संघ पर लगा प्रतिबंध वापस लेना पडा। इस प्रत्यक्ष अनुभव के उपरांत भी विचारवान कहलानवाले लोग भी पुनः आरोपों के दुष्चक्र में फंसे दिखाई देते हैं।

नितांत परहेज के रूप में सत्ता की राजनीति से अलिप्त रहने की नीति संघ ने प्रारंभकाल से अपनाई और उसी हितावह मार्ग का अवलंब करने का संघ का निश्चय रहने पर भी संघ राजनैतिक दल में विलीन किया जाए, ऐसा आक्रोश किया जाता है। राजनीति से व्यक्ति-व्यक्ति के बीच अपनापन उत्पन्न नहीं होता, सत्ता के माध्यम से मनुष्य में सुधार नहीं होता, यह साक्षात् अनुभव होने के उपरांत भी वही आरोप किये जाएं इसका दुःख होता है। संघ और राजनीति का संबंध किस भांति हो, जीवन में राजनीति का कितना और क्या स्थान हो, किस प्रकार संघ कोई विशिष्ट दल या संप्रदाय नहीं है आदि विषयों की, श्रीगुरुजी द्वारा, उनकी विशिष्ट शैली में की गई विवेचना आपको दिखाई देगी।

इतना ही नहीं, अपनी जीवनपद्धति, उसकी आध्यात्मिकता, जीवन का लक्ष्य, आदि विषय भी उन्होंने प्रतिपादित किये हैं। जो बात राजनीति के संबंध में है, वही बात तथाकथिक विधायक कार्यों के संबंध में भी है। विधायक कार्य, सेवाकार्य आदि के संबंध में भी उनके भाषणों में हमें मूलग्राही विवेचन दिखाई देगा।

इस प्रकार सभी विषयों का सोपपत्तिक विवेचन कर श्रीगुरुजी ने यह बोध करा दिया है कि संघकार्य ही जीवन का श्रेष्ठतम कर्तव्य है।

श्रीगुरुजी महान् तत्त्वचिंतक थे। उन्होंने समाजरचना विषयक अपने विचार तात्विक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किये हैं। अपनी समाजरचना में दुर्भाग्य से कालक्रम के अनुसार जो अनेक दोष घुस गए हैं, उन पर श्रीगुरुजी ने अचूक संकेत कर उनका निराकरण कैसे हो इसका व्यावहारिक मार्ग बताया है। मूलभूत सिद्धांत और तत्त्व के अनुरूप अपने समाज के प्रत्येक घटक का नित्य-नैमित्तिक आचरण किस भांति हो याने प्रत्येक व्यक्ति अच्छा स्वयंसेवक कैसे बने, इसका स्पष्ट चित्र हमें इस खंड में दिखाई देगा।

वस्तुतः इस खंड में सम्मीलित अधिकांश भाषण अनेकों ने और मैंने भी उस समय सुने हैं किंतु उन विषयों का महत्त्व असामान्य होने के कारण, वे विचार पुनः-पुनः मनःचक्षु के सामने आने चाहिये। इसके अतिरिक्त एक बात यह है कि हम सब भुलक्कड हैं। विस्मरणशीलता हमारा स्वभाव है। इसलिये यह आवश्यक है कि वे विचार यथासंभव उन्हींके शब्दों में प्रत्येक को पुनः-पुनः पढने चाहिये। इस पठन, चिंतन से संघ का कार्य करने की प्रेरणा हम सब को मिलेगी और वह प्रेरणा प्राप्त हो यही प्रार्थना है।

पुणे.

ब. ना. भिडे
प्रांत संघचालक, महाराष्ट्र प्रदेश

प्रकरण १

कार्यकर्ताओं को मार्गदर्शन

(जिला और उससे अधिक विस्तृत क्षेत्र में भारत भर प्रचारक के नाते कार्य करनेवाले लगभग ३०० कार्यकर्ताओं का एक सप्ताहव्यापी शिबिर वर्धा जिले के सिंदी नामक स्थान पर दि. १ मार्च सन् १९५४ से दि. १६ मार्च सन् १९५४ तक हुआ था। इस शिविर में मुक्त रूप से विचार–विनिमय हुआ और प. पू. श्रीगुरुजी ने अपनी वैशिष्ट्यपूर्ण शैली से पांच भाषणों में उन सब प्रमुख कार्यकर्ताओं को उद्‌बोधन किया। वे पांच भाषण यहां उद्‌धृत कर रहे हैं।.........संपादक)

जागतिक एकता और संघकार्य

गत २८ वर्षोंसे अपना संघ ‘ हिंदु संगठन ’ का कार्य कर रहा है। वह हिंदु संगठन क्यों करता है, इसका उत्तर यह है कि हिंदुसमाज संगठित नहीं है। हम इस समाज में उत्पन्न हुए हैं, इसके साथ हमारा अविभाज्य तथा आत्मीयता का संबंध है अतः हम इसे संगठित और शक्तिसंपन्न रखना चाहते हैं। यह हमारे हृदय की स्वाभाविक आकांक्षा है। संसार इस संबंध में चाहे जो कुछ कहे, वह हमारी सहज आकांक्षा की पूर्ति में बाधक नहीं हो सकता। इस स्थिति में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती। फिर भी, अपने ही मन में कभी-कभी प्रश्न-उपप्रश्न तथा संदेह उत्पन्न होते हैं। उनका समाधान न हुआ तो व्यथा उत्पन्न होती है जिससे कई बार कार्य की ‘ प्रेरणा ’ नहीं मिलती और कभी-कभी विपरीत ‘ प्रेरणा ’ मिलती है, जिसका कार्य से कोई संबंध नहीं होता। अतः बार-बार कुछ कहने की आवश्यकता होती है।

जागतिक पृष्ठभूमि में संघकार्य का विचार

हम विचार किस दृष्टिकोण से करें ? आजकल सभी सोचते हैं कि अपना विचार संकुचित न हो, वह विशाल, भव्य और जगद्व्यापी हो। सर्वसामान्य व्यक्तियों के लिए तो इतना ही विचार पर्याप्त है कि 'मैं हिंदु हूँ और अपने ही समाज के जीवन की पूर्णता के लिए उसका संगठन करूंगा। किंतु जागतिक पृष्ठभूमि में विचार करने पर यह प्रश्न पैदा होता है कि अपने समाज के संगठन की पूर्णता में जिस शुद्ध जीवन के साक्षात्कार की संभावना है तथा उसे प्राप्त करने का हमारा निश्चय है, उसका मानव-जीवन के साथ क्या संबंध है, वह उसके लिए उपयोगी होगा या नहीं। आज देश में ऐसे लोग हैं जो जागतिक वादों को लेकर चलते हैं। यहां तक कि आंतर्राष्ट्रीयता के चक्कर में पडकर राष्ट्र और आंतर्राष्ट्रीयता के समन्वय को भी भूल जाते हैं। कुछ तो बाह्य वादों को ही हमारे देश में प्रसृत करना चाहते हैं और कहते हैं कि उन्हीं वादों के अवलंबन से जागतिक एकता संपन्न होगी। अतः हमें भी सोचना होगा कि हम जिस कार्य को लेकर चले हैं वह भी इस एकता के लिए साधक हो सकता है या नहीं। जहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रश्न है, उसकी बातें तो की जा सकती हैं। उसके पीछे युक्तिवाद भी खडा किया जा सकता है, किन्तु उससे काम नहीं चलेगा। हमें तो प्रामाणिकता के साथ मन का समाधान करनेवाला तथा व्यावहारिक विचार चाहिए।

जब जागतिक तत्त्वज्ञानों का विचार करते हैं तो मूलतः दो प्रश्न उपस्थित होते हैं। प्रथम, मानव की एकता के लिए राष्ट्रजीवन को समाप्त किया जाए अथवा नहीं। दूसरा, अपने राष्ट्रजीवन को बनाए रखते हुए उसका शेष संसार के साथ समन्वय किया जाए अथवा नहीं और यदि किया जाए तो कैसे ?

जहाँतक जागतिक एकता का प्रश्न है, उसका विचार हमारे यहाँ भी हुआ है। अखिल मानव की एकता, उनमें पारस्परिक संघर्षविहीनता एवं बंधुता का जीवन निर्माण करने का आदर्श अति प्राचीनकाल से हमारे सामने रहा है। हमने 'सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः' की कामना करके एक भी व्यक्ति का दुःखी या रोगी रहना सहन नहीं किया है। आज का पाश्चात्य जगत अधिक से अधिक व्यक्तियों का अधिक से अधिक भला 'ग्रेटेस्ट गुड ऑफ द ग्रेटेस्ट नंबर' की ही कामना लेकर चला है, जब कि इसके विपरीत हमारा आदर्श, सब का पूर्ण सुख, रहा है।

रूस में राष्ट्र-भावना के निर्मूलन का असफल प्रयत्न

आज मानवसमाज छोटे-छोटे गुटों में बंटा हुआ है। राष्ट्र, राज्य, समाज एकही स्वरूप के विभिन्न नाम हैं। इन सब के अलग-अलग स्वार्थ हैं। 'जहाँ स्वार्थ वहाँ संघर्ष' के न्याय से उनमें पारस्परिक संघर्ष दिखाई देता है। इस संघर्ष के रहते मानव-एकता संभव नहीं है। अतः कई लोगों के सम्मुख यह विचार आता है कि राष्ट्र की भावना ही विच्छेदकारी और मानव-एकता के लिए

बाधक है, अतः उसको निर्मूल कर देना चाहिए। समाजवादी विचारधाराएँ यही आधार लेकर चली हैं। इसके विपरीत, दूसरा विचार यह है कि राष्ट्र शतकानुशतक, लोगों के हृदय में दृढ बद्धमूल भावना है, जिसका उन्मूलन संभव नहीं है। रूस में, जहाँ राष्ट्रभावना के उन्मूलन का आधार लेकर ही साम्यवाद का प्रयोग हुआ, इस बात की अनुभूति हुई कि राष्ट्रभावना को हृदय से दूर करने पर जीवन की प्रेरणा ही समाप्त हो जाती है! रूसी क्रांति के पश्चात् प्रारंभिक उत्साह की अवस्था में तो अवश्य ही कुछ भौतिक प्रगति हुई। पंचवार्षिक योजनाएँ सफल हुईं, किंतु धीरे-धीरे उत्साह ठंडा पडा और कार्य की प्रेरणा जाती रही। यहाँ तक कि बाद में बडे-बडे कारखानों में फौज बैठाकर लोगों से बलात् श्रम लिया गया। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर वहाँ भी राष्ट्र-भावना के पुनर्जागरण की आवश्यकता प्रतीत हुई और 'मदरलैंड' या 'फादरलैंड' चाहे जिस नाम का प्रयोग करें, उस सुप्त भावना को जगाने का प्रयत्न हुआ। मातृभूमि या पितृभूमि कहकर जब एक आत्मीयता तथा ममत्व का भाव उत्पन्न होता है तब कुल, परंपरा या समाज की अपनेपन की भावना से सेवा के ही लिए कार्य की प्रेरणा मिलती है। संपूर्ण विश्व की बात करनेवाले लोग अधिकांशतः आत्मकेंद्रित (सेल्फसेंटर्ड) ही देखे गए हैं। यथार्थतः संसार को एक मानकर चलनेवाले कुछ अपवाद ही मिलेंगे।

राष्ट्र एवं विश्व का समन्वय

अतः राष्ट्र एवं संसार के समन्वय का मार्ग ही शेष रह जाता है। यह समन्वय किस प्रकार किया जाए, यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। इस दिशा में समय-समय पर अनेक प्रयोग हुए हैं। पूर्वकाल की साम्राज्यवादी भावना भी छोटे-छोटे राष्ट्रों के संघर्ष को मिटाने के लिए एक नया तथा बडा उपाय था। किंतु स्वार्थ पर आधारित होने के कारण वह संघर्ष नहीं मिटा सका। 'लीग ऑफ नेशन्स' तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ संसार को एक सूत्र में बाँधने के प्रयोग हैं। विश्वराज्य 'वर्ल्ड स्टेट' की चर्चा भी चलती है। किंतु समस्या यह है कि क्या छोटे-छोटे राष्ट्र अपने अस्तित्व को मिटाने के लिए तैयार हैं? भारत की ओर ही देखें। यहाँ आज भिन्न–भिन्न राज्यों की मांग हो रही है। छोटे–छोटे अहं-भाव जागृत होकर संकीर्णता तथा विघटन को जन्म देते हैं। इस स्थिति में जब राष्ट्रभाव को मिटा नहीं सकते और विश्वराज्य का निर्माण संभव नहीं जान पडता तब किस मार्ग का अवलंबन करें? इसका समाधान आज कहीं नहीं दिखाई देता। हमारे यहाँ इसका हल है। किंतु उसका आधार भौतिकता में नहीं। भौतिकता एक दूसरे को अलग रखने का ही कारण होती है। विश्व-एकता का संपादन करने के लिए भौतिकता से अधिक श्रेष्ठ तथा उच्च भूमिका की आवश्यकता है। वह भूमिका क्या है और उसका निर्माण करने में हमारे इस हिंदु संगठन के कार्य का भी कुछ योगदान है या नहीं, इसका भी विचार करना होगा। हमारा योगदान तो बहुत है किंतु उसे समझने के लिए सूक्ष्म विचार आवश्यक है। केवल राजनीति और अर्थनीति के दो चार आधुनिक सिद्धांतों से वह बुद्धिगम्य नहीं।

व्यष्टि, सृष्टि, परमेष्टी

प्राचीनकाल से हमने तीन बातों का विचार किया है। एक, व्यष्टि (मैं का अस्तित्व) है। इसको सभी ने स्वीकार किया है। माया कहकर जिन्होंने जगत् को मिथ्या कहा उन्होंने भी 'मैं नहीं हूं' ऐसा नहीं कहा। द्वितीय, सृष्टि है। इसे मिथ्या कहते हुए भी यह आँखों के आगे है। अतः इसके अस्तित्व से इंकार नहीं किया जा सकता। तृतीय, इन सब का कोई निर्माता है जो दिखाई नहीं देता। अन्य लोगों ने इसका विचार नहीं किया। हमने किया है और उसी आधार पर मानव-एकता स्थापित करने का प्रयास भी किया है। व्यष्टि एवं सृष्टि के नियम समान हैं। इन सामान्य नियमों का ज्ञान तथा उसके साक्षात्कार से ही संपूर्ण सृष्टि की एकता का तादात्म्य हो सकता है किंतु शेष सृष्टि की एकता की बात छोडकर अभी हम मानव-एकता का ही विचार करें।

यो बुद्धेः परतस्तु सः

आज आदमी आदमी से टकरा रहा है। यह देखकर लगता है कि मनुष्य परस्पर संघर्ष न करे। किंतु ऐसा क्यों लगता है? यदि अपने को स्थूल मान लिया जाए, मरने के बाद क्या होगा इसकी चिंता न की जाए तब एक-दूसरे के साथ स्नेह क्यों किया जाए, इसका उत्तर नहीं मिलता। किंतु हमने उत्तर दिया है कि शरीर, जिसकी भिन्नता दिखाई देती है, हमारा जीवन-सर्वस्व नहीं है। उससे भी आगे बढकर श्वासोच्छ्वास आदि प्रक्रियाओं से शरीर को टिकानेवाले प्राण, सुख-दुःख का अनुभव करनेवाला मन, और उस मन को भी नियंत्रित करनेवाली बुद्धि तक भिन्न रह सकती है। वहाँ तक एक दूसरे के सुख-दुःख समान करने तथा एकात्मता निर्माण करने की इच्छा नहीं रहती। किंतु बुद्धि से आगे भी कुछ है और उसका अनुभव आता है गहरी नींद में। स्वप्नशून्य घोर निद्रा में जब मन निश्चेष्ट हो जाता है, बुद्धि शांत हो जाती है, उस अवस्था का भी ज्ञान तथा सुख लेनेवाली कोई वस्तु है। यदि वह न हो तो गहरी नींद की इच्छा क्यों रहे। गीताकार भगवान श्रीकृष्ण के शब्दों में — 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' बुद्धि से परे, उससे भी सूक्ष्म अगोचर तथा जिसके अधिष्ठान से बुद्धि भी काम करती है ऐसी कोई वस्तु है। वह अमूर्त है, उसकी कोई लंबाई-चौडाई नहीं है अतः सर्वव्यापक है, समस्त मानवों में वही व्याप्त है, सब में एकही वस्तु है, यह भाव ही कभी-कभी उत्पन्न होता है, दूसरे को सुखी करने की प्रेरणा देता है। जैसे मेरे शरीर से मुझे सुख-दुःख की अनुभूति होती है, उसी प्रकार दूसरे के शरीर से भी उस 'मुझे' ही सुख-दुःख का अनुभव होगा, अतः उसके सुख-दुःख में ही मेरा सुख-दुःख है, इस सत्य धारणा के कारण ही मानव सुसूत्रता की इच्छा, एकात्मता की कामना और अनुभूति और बंधुभाव की कामना करता है। मानवसमाज के सुख की प्रेरणा हमें तभी मिल सकती है जब हमें यह भान हो कि हम सबके अन्दर एक ही सत्य है, उसे फिर आत्मा, परमात्मा, शून्य, महाशून्य

चाहे जिस नाम से पुकारा जाए। जितनी मात्रा में इसकी अनुभूति होगी उतनी ही मात्रा में मानव-एकता सत्यसृष्टि में आ सकेगी।

यह ज्ञान हिंदु के पास सुरक्षित है, अन्य किसी के पास नहीं। जिसके पास धन है उसका कर्तव्य है कि वह उसकी रक्षा करे और उसे सब के लिए सुलभ कराए। इस कर्तव्य से विमुख होना अपने ही नहीं अपितु संपूर्ण परिवार के विनाश का कारण होगा। जो समाज इस ज्ञान को शेष संसार को देने के लिए समय-समय पर श्रेष्ठ महापुरुष उत्पन्न करता है, उस समाज को उत्तम रीति से जीवित रखना आवश्यक है। एतदर्थ सामर्थ्य निर्माण करने के लिए हम संगठन करते हैं। अतः हमारा संगठन विश्व की भलाई के लिए है। सृष्टिरक्षण ही हमारे पूर्व पुरुषों का ध्येय रहा। हिंदुसमाज ही ऐसे व्यक्ति उत्पन्न कर सकता है जो अपनी प्रत्यक्ष अनुभूति से इस ज्ञान का साक्षात्कार संसार को करा सकते हैं। दूसरों के लिए यह संभव नहीं है क्योंकि प्रत्येक तत्त्व को प्राप्ति के साधन होते हैं। हमारे पूर्वजों ने उन साधनों को खोजा, उन्हें प्रत्यक्ष करने का शास्त्र बनाया। बाहर के लोगों को उस शास्त्र का पता नहीं। वे बाहर की ओर देख रहे हैं। इन्द्रियां बाह्यगामी हैं। बाहरवाले बहिर्मुखी हैं। वे अंदर नहीं देखते। हम देखते हैं। इसका यथार्थ ज्ञान देने की पात्रता हमें निर्माण करनी है। अतः हमारे लिए करणीय है कि हिंदु-समाज को इतना जागृत कर दें कि वह निश्चल भाव से आत्मविश्वास के साथ, संसार की बाहर देखनेवाली प्रवृत्ति को भी अंतर्मुखी करके इस ज्ञान को दुनिया को सिखा सके।

शक्तिपात

ज्ञान प्रदान करने के लिए जैसे उपदेश सहायक होता है, वैसे ही शक्ति भी। अपने यहां 'शक्तिपात' का भी वर्णन है जिसका अर्थ है कि मनुष्य अपने प्रत्यक्ष संपर्क से दूसरे को अपना ज्ञान प्रदान करे। ज्ञानेश्वरी में वर्णन है कि संपूर्ण ज्ञान बताने के पश्चात् भगवान् कृष्ण ने बायें हाथ से-घोडों की रास पकडते हुए अर्जुन को आलिंगन दिया। यह आलिंगन नहीं था, अपने प्रत्यक्ष संपर्क द्वारा अपने हृदय का ज्ञान अर्जुन को प्रदान करना था। अर्थात् विद्युत् के समान ज्ञान का संचार किया। परंतु शक्तिपात के लिए शक्ति का होना आवश्यक है। कभी संपर्क से, कभी संघर्ष से दूसरे में शक्ति का संचार करके विपरीत भाव दूर करने तथा सत्य को अनुभूति कराने के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है। अतः हम सामर्थ्यसंपन्न, तेजस्वी जीवन उत्पन्न करेंगे जिससे हम अपनी दृष्टि से, और यदि न हुआ तो शक्ति से लोगों को जागतिक एकता की ओर ले जा सकेंगे। आत्मविश्वास से परिपूर्ण समाज ही संसार से बातें कर सकता है तथा उसका मार्गदर्शन कर सकता है। चारों ओर से पददलित, तथा मार खाया हुआ क्या कहेगा और क्या करेगा? जिसके अपने ही जीवन में उन्नति की प्रेरणा तथा पात्रता नहीं, वह संसार को क्या राह दिखाएगा? अपने जीवन से [illegible]

वाला दूसरों से क्या मुँह लेकर कुछ कहेगा ? निवृत्ति का भी हम लोगों ने अशुद्ध अर्थ कर लिया है। शास्त्रों में यह अर्थ नहीं। निवृत्ति का अभिप्राय जीवन से पलायन नहीं, अपितु जीवन को हजम करने के पश्चात् उसे नीरस मानकर, ईख के रस को चूसकर, उसे फेंकने के समान संसार को ठोकर मार देना ही निवृत्ति है। इसी प्रकार सृष्टि पर विजय पाकर जो उससे निवृत्ति लेता है वही सच्चा निवृत्त है। अपने यहाँ कहा है कि मनुष्य को तब नम्र बनना चाहिए जब उसमें दूसरों को विनम्र करने की पात्रता आ जाए, क्षमाशील कब बनना चाहिए जब अपमान करनेवालों को दंडित करने का सामर्थ्य संपादन कर लिया जाए। सेवा कब करनी चाहिए जब अपने लिए सर्वत्र सेवाभाव उत्पन्न करने की पात्रता आ जाए। संसार के सम्मुख अजेय बनकर खड़े रहने के लिए श्रेष्ठ सामर्थ्यशाली, तेजस्वी जीवन निर्माण करने के लिए ही यह विचार सामने रखें। दुनिया की बात करना याने घर की बात छोडना, यह भाव अशुद्ध है। दोनों का समन्वय यही श्रेष्ठ तथा उत्तम है।

९ मार्च १९५४ (सार्थ)

जागतिक एकता के संबंध में अब दूसरा विचार शेष रह जाता है। सब मिलकर एक ही हो जाएं, उनमें किंचित् मात्र भी भिन्नता न रहे और जीवन के सभी क्षेत्रों में एकरूपता हो ऐसी कल्पना जागतिक एकता के संबंध में कुछ लोग करते हैं। इसके विपरीत दूसरा विचार यह भी है कि भिन्न-भिन्न मनुष्यसमूह राष्ट्र के रूप में अपना जीवन बनाए रखते हुए भी परस्पर स्नेह से रहें और सामूहिक एकात्मता की अनुभूति करते जाएं। आज अनेक बड़े-बड़े लोग दोनों ही विचारों को लेकर चल रहे हैं। हमारा विचार भी इस संबंध में स्पष्ट है और वह प्राचीनकाल से चला आ रहा है।

राष्ट्रों का विनाश नहीं समन्वय

व्यष्टि और समष्टि के संबंधों के विषय में हमारा यह विचार है कि प्रत्येक व्यक्ति के गुण-वैशिष्ट्य को नष्ट न करते हुए उनका सामंजस्य निर्माण किया जाए। मनुष्यों के समूह राष्ट्र का भी अपना विशिष्ट व्यक्तित्व होता है। उनमें भी सामंजस्य निर्माण करना अभिप्रेत है। इस पृथ्वी पर व्यक्ति तथा उनके समूहों में भिन्न गुणधर्म तथा स्वभाव दिखाई देते हैं। विश्व-वैचित्र्य में उन सबका अपना-अपना स्थान है। भिन्न-भिन्न मनुष्यसमूह अपनी भिन्न-भिन्न प्रवृत्ति लेकर चलते हैं। उनके गुण-विशेषों को नष्ट कर एक सांचे में ढालने से प्रकृति का सौंदर्य तो नष्ट होता ही है, सुख भी नष्ट हो जाता है और जीवन का विकास भी रुद्ध हो जाता है। अतः इस वैशिष्ट्य में सामंजस्य निर्माण करना ही अपनी विशेषता है। हम राष्ट्रों का विनाश नहीं, समन्वय चाहते हैं।

अतः सब मानवों को एक स्तर पर लाकर तथा भिन्नत्व को मिटाकर [illegible]

व्यवस्थाशून्य अवस्था निर्माण करने का विचार हमारा नहीं। इसके विपरीत अपनी-अपनी प्रकृति को रखते हुए सब का मानव-उत्क्रांति के साथ समन्वित विकास करना ही हमारा विचार है। विश्वराज्य भी हो तो भी वह छोटे-छोटे स्वयंभू तथा स्वयंपूर्ण राष्ट्रों से विकसित होकर एक केंद्रीय शासन के रूप में हो, जो सबका नियमन कर सके। संपूर्ण मानव की एक ही स्थिति का विचार भी हमारे यहां है। किंतु वह तभी संभव है जब मानव अतिमानव के रूप में विकसित हो जाए। जबतक मानव, मानव रहेगा, जबतक उसकी भिन्न गुण-प्रकृति बनी रहेगी और जबतक गुण-वैशिष्ट्य को प्रकट करनेवाला तथा उसके अनुसार चलनेवाला राष्ट्र रहेगा तबतक अपनी संपूर्ण शक्ति और बुद्धि उसके समन्वय के लिए ही लगनी चाहिए।

अति-मानव का चित्र

अति मानव का चित्र हिंदुओं ने अत्यंत भव्य तथा दिव्य रूप से रखा है। अन्यों ने भी मानव होने के नाते इस बारे में कल्पनाएं की हैं। उसमें पूर्ण युक्तिवाद भले ही न हो, किंतु कुछ न कुछ साक्षात्कार अवश्य है। संशोधन का सामर्थ्य होने के कारण वे भी नई कल्पनाएं कर सकते हैं। भौतिकशास्त्र में आजकल अनेक-क्रांतिकारी अनुसंधान हुए हैं। यहाँतक कि एक अणुमात्र में से असीम शक्ति का प्रादुर्भाव हो सका है। इसको देखकर वैज्ञानिक ने कहा कि जिस सत्ता के एक अणु में इतनी शक्ति है उसकी श्रेष्ठता तथा भव्यता कितनी होनी चाहिए। केवल भौतिकशास्त्र के चिंतन से ही, यदि वह प्रामाणिकता के साथ किया जाए, तो मनुष्य-ईश्वर की कल्पना कर सकता है। मानवजीवन के संघर्ष को देखकर पाश्चात्य विचारकों के मन में भी उसे मिटाने की कल्पना उत्पन्न हुई। उन्होंने भी सोचा कि मानव परस्पर-स्नेह से क्यों नहीं रहता। सत्ता के बलपर उसे चरित्रवान क्यों रखा जाए? ऐसी अवस्था क्यों न उत्पन्न की जाए जिसमें सत्ता की आवश्यकता ही न रहे। इस स्थिति को उन्होंने अराजकतावाद (ॲनार्किज्म) सत्ताशून्य अवस्था (स्टेटलेस स्टेट) अथवा राज्यसत्ता का तिरोहन (विदरिंग अवे ऑफ द स्टेट) कहा। यह विचार मानव मन में चलनेवाले सुप्त विचारों का ही परिणाम है। साम्यवाद में भी मूलतः वर्गसंघर्ष का चाहे जितना विचार हो परंतु अंत में ऐसी अवस्था का ही चित्र देखा जिसमें सभी संघर्ष शांत होकर वर्गविहीन तथा राज्यविहीन अवस्था का निर्माण हो। किंतु आज के स्वार्थलिप्त तथा विषयासक्त मानव के लिए वह बात कविकल्पना तथा आकाशपुष्प के समान मिथ्या है। मानव जब अतिमानव बनेगा, सृष्टि के साथ अपने संबंधों का साक्षात्कार करेगा, चारित्र्य को ऊपर उठाएगा और परस्पर एकात्मता की पूर्ण अनुभूति करेगा तभी राज्यविहीन समाज की रचना संभव होगी। हमारे प्राचीन विचारकों ने भी कहा है–

न राज्यं न च राजाऽऽसीत्न दण्डो नच दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः रक्षन्ति स्म परस्परम्॥

न राज्य की आवश्यकता है, न राजा की, न दंड–विधान की और न दंडिक की। यदि आवश्यकता है तो केवल धर्म की। धर्म से ही प्रजा सौहार्द्र से रहेगी।

धर्म क्या है ?

अब प्रश्न आता है कि धर्म क्या है ? चंदन, भस्मलेपन, देवतावंदन, आदि बाह्य उपकरण धर्म नहीं। समूची सृष्टि जिन सूक्ष्म नियमों के आधार पर शून्य में विलीन नहीं होती है, चलती है उनको धर्म कहते हैं। उन नियमों का मनुष्य जीवन में जो प्रवर्तन होता है, वह भी धर्म है। जब मनुष्य अपने और सृष्टि नियमों को तथा उनके पारस्परिक संबंध और समन्वय को जाननेवाला बनेगा, तब ही राज्यविहीन समाजव्यवस्था संभव है। किंतु ये नियम अत्यंत गूढ हैं। अतः समाजरचना बनाकर संपूर्ण मानव को एक–जैसा रूप देना आज केवल कल्पना मात्र है।

अब दूसरा मार्ग रह जाता है कि संपूर्ण पृथ्वी पर एक शासन चले। किंतु सबके लिए एक प्रकार का शासन ठीक नहीं। क्योंकि राष्ट्रों की भिन्न-भिन्न प्रकृतियाँ तथा गुणवैशिष्ट्य हैं। हिंदु समाज में भी सबके लिए व्यवहार के एक नियम नहीं बनाए गए। नियमों के ये भेद प्रकृतिभिन्नता के ही कारण हैं। विद्वान यदि मद्यपान करे तो वह पाप माना गया है, जब कि साधारण श्रमिक के लिए वह क्षम्य है। तात्पर्य यह कि हमने सबको एक ही लकडी से हांकने का विधान (फ्लॅट रूल) नहीं किया है। यदि जीवन में हम समान नियम लागू करें और उसके अनुसार सबको बराबर मात्रा में भोजन दें तो कुछ बदहजमी के कारण मर जाएंगे, जबकि कुछ भूखें रहकर समाप्त हो जाएंगे। अतः अपने यहाँ क्रमानुसार विकास (ग्रेडेशन) का विचार है। हमने मनुष्यसमूहों के गुण-वैशिष्ट्य के अनुसार व्यवहार का निर्देश किया है। यह उचित भी है। सारी अवस्थाओं को देखते हुए यदि मानव के पोषण के लिए उसके वैशिष्ट्य को बनाए रखकर उसका राष्ट्र के रूप में विकसित होना आवश्यक है तो मानवता के विकास तथा कल्याण के लिए अपने राष्ट्र को उसकी संपूर्ण विशेषताओं तथा विविधताओं के साथ विकसित करना भी परमावश्यक है। अनेक विद्वान जो राष्ट्रभावना को विच्छेदकारी कहते हैं उन्हें मानव का साक्षात्कार नहीं। वे व्यवहार को भूलकर कल्पना के जगत में विचरण करते हैं। अतः हम अपने राष्ट्रजीवन के वैशिष्ट्य को लेकर मानवता के लिए उसका विकास करेंगे, यही हमारा निश्चय है।

संसार को संपूर्ण मानव की एकात्मता का दर्शन कराने के लिए, जो हमारे राष्ट्र का गुणवैशिष्ट्य है, क्या किया जाए, यह विचारणीय है। एकात्मता का ज्ञान उत्पन्न कराने के लिए संपर्क तथा संघर्ष दो मार्ग हैं। संपर्क में बातचीत तथा वादविवाद द्वारा ज्ञान दिया जाता है किंतु इससे कई बार ज्ञान मिलता नहीं और न इससे पूर्ण साक्षात्कार ही संभव है। व्यक्तिविशेष एक-दूसरे के साथ प्रत्यक्ष संपर्क स्थापित करते हैं – जिस प्रकार एक हौज से नल द्वारा दूसरा हौज जुडता है – तभी ज्ञान का संचार होता है। इस प्रकार

ज्ञान के संचार को शक्तिपात कहते हैं। इसके लिए आवश्यक पात्रता उत्पन्न करनी होगी। यदि केवल तत्त्वज्ञान से काम होता तो मनुष्य ईश्वर बन जाता। प्राचीनकाल से इस दिशा में प्रयास हुआ है। किंतु संपर्क बनाने मात्र से कोई व्यक्ति मान लेगा यह संभव नहीं। गौतम बुद्ध के काल से अनेक व्यक्ति इस दृष्टि से बाहर गए, किंतु वे स्थायी ज्ञान प्रदान करने में समर्थ न हो सके। अतः चिरंतन ज्ञान के लिए सामर्थ्य की आवश्यकता है। सामर्थ्य दो प्रकार का होता है। एक, प्रत्यक्ष भौतिक जीवन में अनुभव होनेवाला, दूसरा वह जो भौतिक अनुभूति के परे है। किंतु भौतिकता से परे का सामर्थ्य रखनेवाले व्यक्ति बहुत ही थोडी संख्या में उत्पन्न होते हैं। उनके द्वारा ज्ञान का संचार भी बहुत ही थोडे लोगों में हो पाता है जिससे अधिक आशा नहीं की जा सकती। बडे-बडे अवतारों ने भी सबको इस ज्ञान से युक्त नहीं किया। वे करेंगे भी नहीं। प्रत्येक व्यक्ति को उसके विकास के लिए स्वतंत्र छोडना उन्हें अभिप्रेत है। वे थोडे से अधिकारियों को ही ज्ञान देते हैं। अतः दूसरे प्रकार का ज्ञान आवश्यक है। भौतिक जीवन में से वह सामर्थ्य उत्पन्न करता है कि जिसके कभी प्रत्यक्ष दर्शन, कभी स्पर्श तथा कभी संघर्ष में से मानव–मात्र में स्थायी व्यवहार की भावना निर्माण की जा सके। अतः संसार में अपनी विशेषता प्रतिष्ठापित करने के लिए अपने राष्ट्र का जीवन वैभवशाली तथा सामर्थ्यशाली बनाना आवश्यक है।

जागतिक विचारधारा की पृष्ठभूमि में जब हम अपने कार्य का विचार करते हैं तो उसका ज्ञान स्थायी है। हमारी विचारधारा हिंदु है। हमें उसी का विकास करना है। हिंदु विशेषता को रखने से ही विश्व का कल्याण होगा।

आध्यात्मिकता को छोडकर कई लोग पृथ्वी के भिन्न-भिन्न समाजों की जीवन प्रणालियों को अपने यहाँ लादने की चेष्टा करते हैं। एक को दूसरे पर मढने से काम नहीं चलेगा। यदि मनोरचना का विचार न करते हुए बलात् लादने का प्रयत्न हुआ तो उससे भ्रम उत्पन्न होता है। स्वभाव का सहज विकास न कर कोई वस्तु जबरदस्ती थोपने से भ्रष्टता उत्पन्न होती है। इसके अनेक उदाहरण आज के जीवन में तो मिलते ही हैं, किंतु प्राचीन ग्रंथों में भी तपोभ्रष्ट ऋषियों का उल्लेख है। राष्ट्र के बारे में भी यही बात सत्य है। राष्ट्र भी एक जीवमान व्यक्तिसदृश है। जैसे व्यक्ति के जीवन की प्रकृति के विरुद्ध दूसरी भावना का आरोप करना हानिकारक होता है, वैसे ही राष्ट्र-जीवन में उसकी विशेषता को भुलाकर बलपूर्वक दूसरे भाव भरना व्यभिचार है। अतः जो अपने राष्ट्रजीवन को दूसरे ढाँचे में ढालना चाहते हैं वे समाजजीवन के साथ सच्चाई का व्यवहार नहीं करते।

हमारी प्रकृति क्या है? भौतिकता का परम विचार रखते हुए भी हमने उससे परे जो वस्तु है; उसका साक्षात्कार किया है और समाज को भी उसी दृष्टि से देखा है। उसी साक्षात्कार से हमें सुखलाभ होता है। उसके लिए प्रयत्न करना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य के गुण-अवगुण देखकर उसके लिए पृथक मार्ग की व्यवस्था करना आवश्यक

है। गुणों का आधार लेकर तो व्यक्ति का विकास किया ही जाता है। किन्तु अवगुणों का भी विचार करते हुए मनुष्य को सन्मार्ग पर लाया जा सकता है। एक साधु का पुत्र कुमार्गगामी तथा व्यभिचारी हो गया। उपदेश का उसके ऊपर कोई परिणाम नहीं होता था। अन्तमें साधु ने उसे अपनी प्रेयसी–वेश्या का ही–चरणों से लेकर कुन्तल राशि तक चिन्तन करने के लिए कहा। (पुत्र का ध्यान ईशचिंतन में नहीं लगता था। साधु ने उससे कहा कि जो रूप उसे अत्यधिक प्रिय लगता हो उसीका जगज्जननी के रूप में वह चिंतन करे।) इस रूप में जगन्माता का दर्शन करते ही उस पुत्र की कायापलट हो गई। इसीलिए विकृति को भी सत्कृति में परिवर्तित करने का विचार लेकर चलें। किसी व्यक्ति का अवगुण भी किस प्रकार राष्ट्रोपकारक हो, यह प्रयत्न ध्यान में रखे। सब का उपयोग हो और उन्हें विकास के लिए क्षेत्र मिले इसके लिए अनंत मार्गों का निर्माण हो, सब व्यक्तियों में अपने–अपने मार्ग पर चलने की पात्रता उत्पन्न हो सके यह विचार करके ही हमारे समाज की रचना हुई। उसे स्थायी रूप प्राप्त हो सके अतः शासनसत्ता का निर्माण किया गया।

हमारे शासन का स्वरूप पंचायती था और मूल इकाई ग्राम था। जन-मन की भावना को व्यक्त करनेवाले प्रतिनिधि पंचों को हमने परमेश्वर का ही रूप माना। पंच परमेश्वर की कहावत इसका प्रमाण है। यह हमारी राज्य–रचना का अधिष्ठान है जो नीचे से विकसित होता हुआ ऊपर तक चलना चाहिए। इस प्रकार के प्रतिनिधि समाज की प्रकृति व्यक्त करते हैं और जब वे एकत्र आते हैं तो राष्ट्र की प्रकृति का समष्टि रूप खडा हो जाता है। इस प्रकार के समूहों के, जिन्हें वर्ण 'गिल्ड,' 'सिंडिकेट' या ट्रेड–यूनियन चाहे जो नाम दें, प्रतिनिधियों द्वारा बना हुआ केंद्रीय शासन ही वास्तव में सब के हितों की रक्षा और उनके वैशिष्ट्य के विकास में सहायक हो सकता है।

अपनी इस वैशिष्ट्यपूर्ण पद्धति को कार्यान्वित करने तथा सुचारू रूप से चलाने के लिए और इसमें ही विश्व का कल्याण है यह दिखाने के लिए एक स्वाभिमानपूर्ण, चैतन्यपूर्ण तथा बलसंपन्न, तेजस्वी राष्ट्र निर्माण करने की आवश्यकता है। यह कार्य सर्व-प्रथम करणीय तथा अन्ततक निभाने की वस्तु है। संगठन अपने कार्य का अधिष्ठान है अर्थात् केवल नींव मात्र नहीं, अपितु आधारभूत होते हुए भी मूल से लेकर शिखरतक जो संपूर्ण में अनुस्यूत हो ओर जिसकी शक्ति से ही सब की धारणा हो। भगवान को हमने जैसे विश्व का अधिष्ठान कहा, जो विश्व के आदि, मध्य तथा अन्त में विद्यमान है और जिसकी शक्ति से ही संपूर्ण सृष्टि संस्थित है, वैसे ही हमारा संगठन समाज-जीवन के सभी कार्यों का अधिष्ठान है। भिन्न गुण, प्रकृति होते हुए भी शरीर के साथ अवयव-अवयवी सम्बन्ध की भांति राष्ट्रपुरुष का हित संवर्धन करते हुए सभी परस्परानुकूल, संघर्ष तथा स्पर्धाविहीन, स्नेहपूर्ण प्रवृत्ति से चलें ऐसा चित्र हमें उत्पन्न करना है। इसके लिए, अधिष्ठानभूत, सुसंबद्ध, सुसंगठित, तेजस्वी तथा अनुशासनयुक्त संगठन आवश्यक है जो ऐहिक सामर्थ्य के बलपर शेष संसार से कह सके कि हमारे श्रेष्ठ पुरुष [illegible]

हैं वही मानो और यदि वह न माने तो उससे मनवा कर ही रहें।

[१० मार्च १९५४ प्रातःकाल]

तत्त्व और व्यवहार

अपने कार्य से, अपना क्या संबंध है, क्या करना, क्या न करना, उसमें कार्य करनेवाले अन्यान्य बंधुओं से कैसा भाव रखना, निष्ठा का किस मात्रा में अपने अंतःकरण में प्रकटीकरण करना, इत्यादि बातों का हम विचार करेंगे। हम लोग इस प्रकार जो निर्णय लेंगे, उसमें संघ की उचित व्यवस्था होगी इसमें मुझे कोई संदेह नहीं है। व्यवहार का जो पहलू अपने सामने आता है उसमें अपने संघ के भिन्न-भिन्न क्षेत्र में रहनेवाले सहस्रावधि स्वयंसेवकों के साथ हमें कुछ व्यवहार करना है, इसका उपदेश न करते हुए विचार करना ही उचित होगा, यह मैं समझता हूं। कारण यह है कि आप में से बहुतांश बंधुओं ने संघकार्य की वृद्धि का प्रयास किया है और वे इस संबंध में आवश्यक जानकारी रखते हैं।

पहली बात जो हम सोचते हैं, वह यह कि जो कार्य हमें करना है, वह है अपने बंधुओं को कार्य में संलग्न करते हुए एक सूत्र में गूंथना, तत्पश्चात् अपने कर्तव्य का ज्ञान उनमें उत्पन्न करना जिससे कार्य करने की पात्रता एक अद्वितीय गुण के रूप में प्रकट हो। इस विषय का विश्लेषण यदि असंभव नहीं तो कठिन तो अवश्य है। क्योंकि भिन्न-भिन्न के साथ अपना संपर्क आता है या आएगा उसके संबंध में स्वतंत्र रूप से विचार करके आवश्यक व्यवहार हो, यह कठिन कार्य है। उस व्यक्ति को कार्य में उसका स्थान प्राप्त कराने का एक पहलू भी अपने सामने है। इसलिये उसको समझने का प्रयास करेंगे तो अच्छा होगा। अपने समाज में जितने लोग रहते हैं, उनमें उग्र संगठन का भाव तथा राष्ट्रभाव का ज्ञान योग्य रूप में नहीं रहता, यह अपने हृदय में धारण करते हुए हम चलते हैं। यह भाव क्यों उत्पन्न होता है? इसलिए कि एक स्वार्थहीन जीवन बिताने की सिद्धता हमने प्रकट की है और बाकी का समाज काफी हीन जीवन व्यतीत कर [illegible] है, मानों उसके अंतःकरण की श्रेष्ठता लुप्त हो गई है। ये विचार हमारे [illegible] स्वभावतः प्रकट या अप्रकट रूप में स्वयं के बारे में एक धन्यता का भाव उत्पन्न [illegible] हैं। मेरी अपनी दृष्टि में यह भाव पूर्णतः अनुचित है। उदाहरण के लिए मैं अपना [illegible] उदाहरण बताता हूं। नागपुर में भिन्न-भिन्न उत्सवों में कोई न कोई अच्छे व्यक्ति अध्यक्ष के रूप में आएं, ऐसा मैं लोगों को बताते रहता हूं। भिन्न-भिन्न प्रांतों के लोग आएं और यहां अध्यक्षपद ग्रहण करें, ऐसी इच्छा रहती है। इसीलिए मैंने अपने लोगों से कहा कि अच्छे अध्यक्ष दो। परंतु उन्हें कोई अच्छा आदमी नहीं दीखता। क्यों नहीं दीखता? इसलिए कि उनके चारों ओर जो लोग हैं उनकी योग्यता ...

उनके मन का विचार हो जाता है और इसलिए रा. स्व. संघ की नागपुर जैसी शाखा की अध्यक्षता करने के उपयुक्त होनेवाला व्यक्ति मानों कोई नहीं है। इस प्रकार की धारणा जब कभी मुझे दिखाई दी तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि अपनी दृष्टि जरा बहुत 'बडी' हो गई है ! बहुत बडी दृष्टि हो जाने के कारण योग्य व्यक्ति दीखता नहीं। जो कुछ योग्यता दुनिया में थी, वह सब अपने पास आ गई है और बाकी सब निकम्मे, निरुपयोगी व्यक्ति ही चारों ओर फैले हैं, चाहे वह कितने ही शास्त्रों में पारंगत, विद्वान क्यों न हों, अपने को उनकी विद्वत्ता से क्या लेना है, यह भावना अपने मन में उत्पन्न हो गई है। उस समय जिन-जिन स्थानों पर बातचीत करने का मौका आया मैंने अपने बंधुओं से कहा कि ऐसा सोचना अपने लिए योग्य नहीं अपितु अयोग्य है। यदि यह सोचा कि समाज के बाकी सब लोग अयोग्य हैं तो फिर कार्य कहां करेंगे ? कैसे और किस प्रकार से कार्य हो सकेगा ?

मुझे एक पुरानी बात याद आती है। अपने एक मित्र को, जो स्वयंसेवक के रूप में भी कार्य करते थे, बडे उत्साही भी रहे हैं, जिनसे बडी आशाएँ भी थीं, मेरा भी उनसे संपर्क आया था और उसी समय उनसे बातचीत करने का अवसर आया तो इधर-उधर की बात करते हुए मैंने पूछा कि कभी न कभी ग्रामीण क्षेत्रों में अपने को जाना ही होगा। तो अभी से ग्रामीण क्षेत्रों में शाखाएँ खोलना, प्रारंभ करना क्या ठीक न होगा ? उन्होंने कहा कि 'वाह'। आपने अच्छा प्रश्न पूछा। ग्रामीण तो महामूर्ख होते हैं। उनमें क्या शाखाएँ खोलना ? ऐसा विचित्र जवाब उन्होंने दिया। मुझे अति 'आनंद' हो गया क्योंकि अपनी जानकारी के अनुसार मैं जानता था कि यह बराबर नहीं। परंतु तो भी एक बात मैंने उनसे कही कि अपने संघ के अनुभव के आधार पर मेरा तुम्हारे बारे में भविष्यकथन है कि कुछ काल के बाद तुम संघ का कार्य छोड दोगे, यह मैं निश्चित रूप से कहता हूं। यह मैंने क्यों कहा ? क्योंकि उसके मन में इतना अहंकार जागृत हो गया था कि अपने ही बांधवों में वह पशुभाव का दर्शन करने लगा गया था। इतने अहंकार को लेकर मनुष्य समाज में संघ जैसा कार्य नहीं कर सकता। जहाँ शुद्ध बंधुता उत्पन्न करने का ही आग्रह होता है वहाँ तो यह कभी भी संभव नहीं। केवल इसीलिए मैंने उसे यह भविष्य कह दिया। परमात्मा अपना मालिक है। भविष्य सच हुआ। वह कार्य से दूर हो गया। अब उसकी ऐसी स्थिति है कि जब कभी मुझे देखता है तो आस-पास की गली में छापता हो जाता है या यदि गली न मिले तो उसके मन में इच्छा होती है कि वह किसी दीवार में ही लुप्त हो जाए। वास्तव में वह कोई बडी भविष्यवाणी थी, ऐसा नहीं तो उसके सामान्य स्वभाव के दर्शन से आगामी बात निकालकर ही मैंने रखी थी। इस प्रकार से मनुष्यस्वभाव का निष्कर्ष निकालते हुए चलना अनिवार्य है। क्योंकि अपने अंदर के अनंत गुण अपने संमुख होने के बाद भी, आसपासवालों में भी गुण हो सकते हैं, श्रेष्ठता हो सकती है, वे अच्छे हैं और उनको भी अपनाना है, यह भावना अपने हृदय में न रही तो कैसे कार्य होगा ? यह तो समझना ही चाहिए कि भगवान ने

संपूर्ण अंधःकार दुनिया के अंदर रखा और जो कुछ थोडा बहुत प्रकाश इस सृष्टि में था सो अपने लिए बच गया ऐसा नहीं है, तो सब के पास कुछ न कुछ विद्वत्ता है। अपने यहाँ देखें कि अपने पूर्वज खुद को आर्य कहते थे, श्रेष्ठ कहते थे और दुनियाभर को 'म्लेंच्छ' कहते थे, परंतु ये सब होने के बाद भी अपने बडे-बडे ऋषियों ने कहा कि म्लेंच्छों को भी भगवान के दर्शन हो सकते हैं। याने इतनी आदर की भावना सब के प्रति थी। अपना स्वाभिमान न छोडते हुए सब को अपनाकर रखने का गुण अपने सब व्यक्तियों ने प्रकट किया है, यह अपने को नहीं भूलना चाहिए। जिस कार्य को हम राष्ट्रीय जीवन के पुनरुत्थान का, धर्म की पुनःसंस्थापना का, राष्ट्र को फिर से देदीप्यमान स्वरूप प्रदान करने का कार्य कहते हैं, उस कार्य में अपने मन की भावना क्या है? क्या वह उसी प्राचीन परंपरा के अनुकूल है? उस परंपरा में सब के संबंध में आदर, सब को शुद्ध स्नेह से देख सकने की क्षमता, सब के हृदय में उदात्त भावना जागृत करते हुए उनके प्रति मन में घृणा, निंदा या अपमान की भावना न रखते हुए, इतना ही नहीं तो, उनके हृदय में भी अपने कार्य के बारे में श्रद्धा का भाव उत्पन्न करते हुए और स्वयं के बारे में भी कोई हीनता का भाव न रखते हुए व्यवहार करने की अपने को शिक्षा है, यह बात हम अपने ध्यान में रखें।

संघकार्य को स्वतंत्र रूप से ही अपने सामने रखने का मार्ग योग्य होने के कारण, व्यक्ति का उदाहरण देना ठीक नहीं परंतु व्यक्तिविशेष का उल्लेख करना ही पडता है। इतने बडे अपने संगठन की धारणा जिस महान् व्यक्ति के कारण हुई उस पुरुष की महत्ता का हम अनुमान लगा सकते हैं। उनकी महत्ता के बारे में किंचित् भी संदेह करने का कोई कारण नहीं है। ऐसे व्यक्ति का जब हम विचार करते हैं तो मन में यही भाव उत्पन्न होता है, कि सब का सत्कार करें। यहां मैं अपना एक अनुभव बताता हूं। यह उस समय की बात है जबकि संघ की जानकारी, बुद्धिमत्ता और उसके लिए परिश्रम की दृष्टि से, अनेक स्वयंसेवकों की अपेक्षा मेरी योग्यता बहुत कम थी और ऐसी कम से कम योग्यता रखने के पश्चात् भी मुझे भलीभांति याद है कि उन्होंने मेरे साथ इतने आदर से व्यवहार किया कि मुझे ऐसा लगने लगा कि मेरे अंदर कुछ न कुछ बडप्पन तो अवश्य होगा। इतना आदर क्यों? किसलिए? यहां तक कि उनका कोई काम करने की जरूरत पडे तो वे मुझे नहीं करने देते थे। तो इस प्रकार की भावना उनके हृदय में थी कि सब का सत्कार, सम्मान रखना चाहिए। कई बार अनेक छोटे-छोटे व्यक्ति उनके पास आते थे। उनके साथ भी आदर के साथ बात करने की प्रवृत्ति उनमें विद्यमान थी। कभी-कभी मन में विचार भी आता था कि साधारण लोगों के साथ इतना आदर का व्यवहार क्यों? हमारी दृष्टि से यह निष्कर्ष निकलता है कि चाहे संपूर्ण नम्रता प्राप्त न हो, सब का आदर करने की पात्रता न हो, तो भी यह भाव रखना जरूरी है कि अपने चारों ओर रहनेवाले अन्य व्यक्तियों में भी गुण हैं, वे श्रेष्ठ कर्तव्य कर सकते हैं। उनके साथ अपना संबंध आदर का, प्रेम का

अनुकूलता का रहना चाहिए। अपने हृदय में अहंकार की भावना रखने की कोई आवश्यकता नहीं। ऐसा प्रसंग अनेक बार आता है कि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कार्य करनेवाले लोगों द्वारा राष्ट्रविरोधी विचार प्रकट होते हैं, उस समय उनके प्रति प्रहार करना ही पडता है तथा टीका-टिप्पणी भी हो ही जाती है। परंतु ऐसा करने में उनके अन्यान्य गुणों का, जो उनमें हैं, हम लोगों को यथोचित मात्रा में सत्कार करना चाहिए। मेरा आग्रह है कि अवश्यमेव करना चाहिए। उनमें भी बडप्पन है, अच्छाई है, इसका ध्यान रखकर चलना आवश्यक है। अपने मन के अंदर स्वयं के बारे में जो एक धन्यता की भावना उत्पन्न होती है, वह भावना ही बाकी के जगत् की ओर हीन दृष्टि से देखने के लिए अपने को प्रेरित करती हैं। हम सर्वज्ञ हो गए हैं, संपूर्ण कर्तृत्व अपने पास है, इत्यादि प्रकार के विकारों को हम छोडें।

हम अपने हृदय को टटोलकर देखें तो दिखाई देगा कि जिस स्थान पर हम कार्य करते थे, उससे हटकर जरा छोटा कार्य करने को दे दिया तो अपने मन की अवस्था क्या होगी ? हृदय की स्थिति कैसी होगी ? जिस प्रकार से हम आज व्यवहार करते हैं उससे दिखाई देता है कि यदि किसी ने हम को ऐसी बात कही तो क्या लगेगा ? ठीक लगेगा कि नहीं इसका जरा विचार करके तो देखें। विचार करने और हृदय टटोलने पर ऐसा दिखाई देगा कि अपने मन के अहंभाव को, अपने स्थान से नीचे के स्थान में जाने में, चोट पहुंचती है और यदि उससे ऊपर जाकर कार्य करने को कहा तो सुख होता है। ऐसा अनुभव न करनेवाले भी कार्यकर्ता हैं यह मैं जानता हूं और इसलिए अपने मन में ऐसा दुर्भाव पैदा होगा ही यह मैं नहीं कहता। किंतु होगा ही नहीं, या हुआ ही नहीं या आज न होने की पात्रता अपने में उत्पन्न हो गई है, यह अहंकार भी अपने मन में रखना उचित नहीं। बीस-बीस, पच्चीस-पच्चीस साल कार्य करनेवाले बडे-बडे लोगों को भी यदि देखा तो उनमें भी कभी न कभी ऐसा भाव आ ही जाता है, ऐसा अपना अनेक बार का अनुभव है। अहंकार के कारण अपने स्थान से ऊंचा या नीचा होने से सुख या दुःख हुआ, ऐसा मैंने देखा है। इस प्रकार का अनुभव होने के कारण ही मैं कहता हूं कि हमें विचार करना चाहिए कि कहीं अपने मन में तो ऐसी भावना नहीं। हम में कभी भी ऐसी भावना नहीं होनी चाहिए। सब का सत्कार करते हुए, सब के गुणों की, उनमें जो-जो अच्छाई हो, उसकी वृद्धि करने के लिए जो-जो प्रयत्न आवश्यक हों वह स्वयं हम करें और दोष दिखाई दें तो उन दोषों को, सब के सामने प्रदर्शित न करते हुए अत्यंत चतुराई, बुद्धि और परस्पर-आर्द्रता एवं स्नेह के व्यवहार से ढंक कर, धीरे-धीरे नष्ट कर दें। इस प्रकार अपना प्रयत्न होना चाहिए। ऐसा प्रयत्न करने से ही वे सब गुण जिनसे हम अपने संगठन की अन्यान्य सब आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकते हैं, जिनकी हमें जरूरत है, इस एक ही गुण से प्रकट हो जाएंगे, यह मेरा विश्वास है। उन सब गुणों को प्रकट करने की शक्ति इसी एक व्यवहार में है। इस एक ही गुण का आग्रहपूर्वक अवलंब करने से हमारी और हमारे पडोसियों

की सब प्रेरणाओं की शक्ति हमारे इस व्यवहार के कारण अपने कार्य में प्रकट होगी।

अब इसका एक दूसरा विरोधी पहलू भी है, जिसका हमें विचार करना चाहिए। मनुष्य के अहंकार और आत्मविश्वास में पहिचान करना कई बार बडा कठिन होता है। एकाध कार्यकर्ता यदि अपनी वाणी को कुशलता से उपयोग में न लाए और रूखे शब्दों का व्यवहार करे तो उसके बारे में भ्रम होना स्वाभाविक है। भ्रम किस बारे में, तो उसके कर्तृत्व और कर्तव्य के बारे में। रूखा होते हुए भी उसके कर्तृत्व में किंचित् भी कमी नहीं होती। यह समझकर ऐसी परिस्थिति में अपने कार्यकर्ताओं को विवेक से काम लेना होगा। ऐसे उदाहरण जरूर मिलेंगे जिनसे बहुत ही आत्मविश्वास दूसरों को अहंकार सा लगता है। यद्यपि वास्तव में वह होता नहीं। यहां तक कि उसमें अभिमान का लेश भी नहीं होता। ऐसे भी कार्यकर्ता हैं जो बडे विश्वास के साथ बोलते हैं और उसपर अडिग रहते हैं तथा आग्रह रखते हैं और अन्यों को उसके अनुसार बाध्य करने की प्रवृति भी उनमें रहती है, किंतु अभिमान का कण तक उनमें नहीं होता। माने वे स्वाभिमानी रहते हैं, अहंकारी नहीं। उनके पास यदि कुछ रहता है तो आत्मविश्वास। यहीं पर विवेक करने में कठिनाई होती है। परस्परविरोधी ऐसे दो गुण उनमें रहते हैं। लेकिन हमें देखना पडता है कि आत्मविश्वास अपने अंदर रखते हुए अभिमान को स्थान न मिल जाए। नहीं तो कभी-कभी आत्मविश्वास कहते-कहते अभिमान के शिकार बन जाने की संभावना रहती है। दूसरी ओर अहंकार उत्पन्न न होने पाए इस फेर में अपने आत्मविश्वास तक को खोकर संदेहपूर्ण हृदय के कारण कुछ भी न करने की पात्रता अपने हृदय में लाना भी उतना ही अनुचित है। इन दोनों आपत्तियों से बचकर चलने की आवश्यकता है। व्यवहार की दृष्टि से इसमें बहुत कठनाई का अनुभव होगा। बोलने में यह बडा आसान है। यदि ऐसा न होता तो मैं बोलता ही नहीं। संघकार्य को योग्य रूप में चलाने की दृष्टि से इस एक गुण पर अपना ध्यान केंद्रीभूत होना चाहिए। यह कठिन होते हुए भी हमें उसका व्यवहार करना ही होगा।

अपना कार्य बराबर है, उसके तत्त्व में किसी प्रकार की संदेहात्मक स्थिति का प्रश्न नहीं, इस आत्मविश्वास से हम लोगों से बोलेंगे। प्रत्येक को इस कार्य को अपनाना पडेगा, ऐसा विश्वास रखकर ही चलना होगा। परंतु अपने मन में ऐसी कोई दुर्भावना कि केवल अपने ही लोग अच्छे हैं, और इसलिए बाकी लोगों से बात करना, अपने लिए अपमान की बात है ऐसी धारणा उत्पन्न न होने दें। अब इस भावना का पोषण कैसे होगा? इसके लिए नियम बनाना तो सुलभ नहीं। साधारण रीति से [illegible] करें तो दिखाई देगा कि भूतकाल में अनेक लोग पैदा हुए हैं, जिनके अंदर [illegible] गुण थे, जिन्होंने कितना ज्ञान और पौरुष प्रकट किया, कितने पराक्रम किए और [illegible] प्रकार विपरीत परिस्थितियों में भी अपने ध्येय को सामने रखकर भिन्न–भिन्न प्रकार की आपत्तियां झेलीं, मार्ग में अनेकों व्यामोह और आकर्षण उत्पन्न हुए तो भी वे [illegible] लक्ष्य पर अग्रसर होते रहे, इसका हम लोग विचार करें, तो स्पष्ट हो [illegible]

लोगों को अहंकार करने लायक कुछ भी हमारे पास नहीं । ऐसी उज्ज्वल परंपरा का आधार अपने पीछे है । इतने ऊंचे प्रकार की श्रेष्ठता, जिसकी तुलना में अपना जीवन नगण्य सा है, होने के बाद भी, क्या हम में अभिमान करने लायक कुछ है ? एक-एक आदमी का विचार करें । हम लोग क्या उतने बडे हैं । उतनी बुद्धिमत्ता क्या अपने पास है ? एक शंकराचार्य को ही लें । दुनिया भर के विद्वानों ने कहा कि संपूर्ण सृष्टि के रहस्य को समझने में आज तक विज्ञान ने जितनी प्रगति की है, उस सब को जोडकर एक अंतिम सिद्धांत के रूप में सृष्टि की संपूर्ण समस्या का जो हल अपने सामने रखा है, वह शंकराचार्य के द्वारा रखे हुए ज्ञान का अंशमात्र है । यही कहना पडता है कि जिस बुद्धिमत्ता के सामने दूसरा कोई कदम नहीं रख सकता, इतना संपूर्ण ज्ञान का निचोड निकालकर उन्होंने रखा । जिसे आज नहीं तो कल विश्व को ग्रहण करना ही पडेगा । इस सब का साक्षात्कार शंकराचार्य ने किस प्रकार किया होगा, किस प्रकार उसे रखा होगा । बिल्कुल सादे युक्तिवाद से कैसे सिद्ध किया होगा, कहां से यह सारी स्फूर्ति आई होगी आदि सभी बातें उनकी छोटी-सी उम्रवाले मामूली जीवन में (संपूर्ण जीवन ३२ साल में पूरा हो गया) कैसी आई होंगी, यह देखकर मन आश्चर्य से भर जाता है । उनके इस विशाल ज्ञान को देखकर मन में विचार आता है कि इस महा-सागर की बूंद के बराबर भी क्या अपने पास कुछ है ? नहीं, कुछ भी नहीं । फिर अभिमान काहे का ? उनके बराबर काम क्या हम कर सकते हैं ? जब कि आने-जाने के साधन नहीं, मार्ग में अनेक प्रकार के संकट और कोई साथी नहीं, मार्ग में बडे-बडे जंगल जिनमें श्वापद व श्वापदों से भी क्रूर मानव तथा अहिंसा के नाम पर गर्जना करने-वाले बौद्ध मतावलंबी जो उनको जहर देकर मारने पर उतारू थे, ऐसा सब कुछ जब इधर-उधर था, तब अपने पैरों पर चलता हुआ एक बालक निकलकर संपूर्ण भारत की परिक्रमा करके, काश्मीर में क्या, आसाम में क्या, सब दूर घूमकर चारों ओर से पूर्ण-रूपेण टूटे-फूटे और धर्मच्युत समाज को एक बार पुनः अपने मूल अधिष्ठान पर लाकर खडा करता है । इस परिश्रम का हम अपने जीवन में विचार करें । एक छोटी सी अवस्था में हम उसे प्रकट कर सकते हैं क्या ? अपने पास चलने को मोटर है, गाडी है । एक से दूसरे स्थान पर जाने के लिए हवाई जहाज हैं, अपना सब कारोबार चल सकता है । उस मनुष्य के पास न खाना था न कपडा, भिक्षा मांगते घूमता था । इस प्रकार की स्थिति में चलकर सारा जीवन व्यतीत किया और एक आश्चर्य कर डाला । एक संपूर्ण राष्ट्र को, जो अपने अधिष्ठान एवं धर्म से गिर गया था, सब प्रकार के मिथ्याचार, अनाचार व आडंबर से उठाकर एक बार पुनः अविचल नींव पर खडा कर दिया । वह भी एक व्यक्ति ने केवल ३२ साल की अवस्था में किया । जरा विचार करना चाहिए कि यह कैसे किया ? उसकी तुलना में हम क्या हैं ? उसने कैसा जीवन व्यतीत किया और फिर क्या कर डाला ? हमारे राष्ट्र में चली हुई परंपरा में वह असामान्य-तम व्यक्ति एक दैदीप्यमान सूर्य के समान है तो हम उसके प्रकाश को परावृत्त करने-

वाले रेत के कण के समान जरूर हो सकते हैं। उसी परंपरा में हम उत्पन्न हुए, यह आत्मविश्वास हमारे अंदर रह सकता है। इस आत्मविश्वास से प्रेरणा लेकर हम कुछ न कुछ प्रकाश प्रकट कर सकेंगे। मन में अभिमान लेने की गुंजाईश ही नहीं। यहां हम देखें कि कितना भव्य चरित्र एवं आत्मविश्वासयुक्त व्यक्ति अपने यहां उत्पन्न हुआ, जिसने कहा कि वैदिक धर्म को छोडनेवाले सब लोगों को मेरे शिष्य केवल शंख बजाकर ही, जहां तक उस शंख की ध्वनि पहुंचेगी, अनुयायी बना लेंगे। यह आत्मविश्वास यदि न होता तो वे एक-एक से होम, हवन, यज्ञादि करवाते या एक-एक को तीर्थों का जल पिलाते। कितना उनका आत्मविश्वास था कि सब लोगों ने उनकी बात मानी। इस प्रकार की एक विश्वास की भावना अपने अंतःकरण में उत्पन्न हो। फिर से वे लोग अपने अधिष्ठान पर वापिस आएंगे और अपनी बुद्धि और तपश्चर्या से 'वे मानेंगे ही' ऐसा आत्मविश्वास उनमें था। उनका आत्मविश्वास यदि देखें तो लगेगा कि हमने कुछ भी तो नहीं किया। अपना जीवन अपने सामने है। ४०–४०, ५०–५० साल की उम्र होती आई। एक पैर स्मशान में रखा गया, तो भी अपने जीवन की साधना पूर्ण हुई नहीं। ऐसा देखने के पश्चात् अपने श्रेष्ठ पुरुषों ने, दीपस्तंभ के रूप में खडे होकर, जो मार्गदर्शन किया और किस प्रकार से आदर्श उत्पन्न करना चाहिए इसके उदाहरण स्वरूप उनका प्रत्यक्ष चरितार्थ किया हुआ जीवन देखकर, इसी परंपरा का भाव अपने अंदर भी अवश्यमेव प्रकट हो सकता है, यह एक दृढ धारणा हममें उत्पन्न होनी चाहिए। उनकी भव्यता की तुलना में अपना नगण्य-सा जीवन होने के कारण उनकी ओर देखकर व्यवहार में नम्रता का भाव जागृत करें।

अपनी परंपरा की ओर दृष्टि रखकर और श्रेष्ठ पुरुषों को आंखों के सामने रखते हुए, अपने जीवन में कैसा व्यवहार करें, कैसे सब को ठीक प्रकार से अपनाएं, किस प्रकार सब को सत्कार की भावना से देखें, इसका ठीक प्रकार से ज्ञान प्राप्त करने से अपने जीवन में सुधार हो सकेगा। इसकी हमें नितांत आवश्यकता है। इस प्रकार हम अपने हृदय में यह भाव धारण करके चलेंगे तो उसमें से दूसरा आवश्यक गुण भी हमें प्राप्त होगा। हम जिस समाज के संगठन के लिए चले हैं, उस समाज के सब लोगों के प्रति सत्कार रखने के प्रयत्न का ठीक प्रकार से यदि ज्ञान प्राप्त हुआ, तो 'ऊंचा–नीचा' यह भाव रहेगा ही नहीं। अपनी दृष्टि से सब अपने समाज के अंग-प्रत्यंग हैं, उनमें कोई छोटा-बडा नहीं और वे सब समाज की रक्षा के लिए एकत्रित होकर खडे होते हैं। उन सब के प्रति समान प्रेम, व्यवहार एवं आचार अकृत्रिम रूप से, क्योंकि कृत्रिमता से संघकार्य नहीं चल सकता, मित्रता का व्यवहार करना चाहिए। क्या करूं, मुझे तो इसे संघ में लाना ही है, ऐसा समझकर नहीं, अपितु स्वभावतः अपने मन में परिवर्तन करके उनके प्रति प्रेम उत्पन्न करना पडेगा। क्योंकि संपूर्ण समाज परमात्मा के शरीर का अंग-प्रत्यंग है। परमात्मा के बारे में ऊंच-नीच नहीं हो सकता। वहां तो अपना समाज-शरीर शुद्ध ही रहेगा और

शुद्धता भी इस प्रकार की, कि उसके शरीर के अंगप्रत्यंग पूज्य हैं; सब प्रकार से श्रेष्ठ हैं। उसके चरणों पर यदि सूखा पत्ता भी गिर गया तो उसे हम माथे चढाते हैं। प्रत्यक्ष चलता-फिरता, बोलता-चालता परमात्मा का रूप अपना समाज है। यह सब प्रकार से श्रेष्ठ है, यह कहने की क्या आवश्यकता पडेगी ? श्रेष्ठ भावना रखना नितांत आवश्यक है। इसको छोडकर अपने द्वारा कार्य नहीं होगा। सब के प्रति शुद्ध समान आदर और अपने हृदय में समान रूप से शुद्ध भाव, अकृत्रिम रूप से (जबरदस्ती से नहीं) यह भाव फैलाना होगा। व्यक्ति तो नगण्य है, पर क्या करें, संगठन कहता है इसलिए उसके प्रति यह भाव रखना आवश्यक है, इस प्रकार के भाव से अपने हाथ से काम नहीं होगा। काफी पुरानी बात है, शायद २८–२९ की होगी कि मैं मद्रास गया था। वहाँ 'प्रेसिडेंसी कॉलेज' में मेरे परिचय के एक शिक्षक पढाते थे। उनसे मिलने गया। वे अपने 'प्रिंसिपॉल' के एक पत्र का उत्तर दे रहे थे। मैं भी वहीं था। पत्र के अंत में उन्होंने – जैसी कि पद्धति थी 'युवर मोस्ट ओबीडियेंट सर्वेंट' लिखा और मुझसे कहने लगे, 'लुक आय उड लाइक टु किक दिस मॅन, यट आय हॅव टु राइट मोस्ट ओबीडियेंट सर्वेंट', तो मैंने उनसे कहा, 'इफ यू रियली वांट टु किक, देन व्हाय डोंट यू ! ' जो लगता है वह भाव न लेकर 'यूवर मोस्ट ओबीडियेंट सर्वेंट' लिखने की जरूरत से कोई मतलब नहीं। इस प्रकार के भाव मन में लेकर व्यवहार नहीं करना चाहिए। उसी प्रकार से हमें भी अंतःकरण में यह भाव रखकर कि यह बडा पापी है, पतित है, और अपने लिए हृदय में बडप्पन एवं अहंकार का भाव रखकर नहीं चलना चाहिए। अपितु प्रत्येक को अपनाने की भावना लेकर चलना चाहिए। 'स्पिरिट ऑफ इगो' से संघ का काम नहीं हो सकता। किसी को नगण्य माननेवाली अहंकारी भावना से कम से कम संघ का कार्य नहीं हो सकता। अतः इस भावना से दूर हटकर सब का सत्कार करने की भावना मन में चाहिए। मान लिया कोई पापी भी है, तो हममें कौन ऐसी शुद्धता आ गई कि हम दूसरों को पापी कहें। जरा हृदय टटोलकर स्वयं को देखें। सबकी अच्छाई देखने एवं सत्कार करने का गुण ही सर्वश्रेष्ठ है। प्रत्येक के गुणदोषों का विवेचन कर, उसकी अच्छाई की वृद्धि का प्रयत्न करें एवं अपने प्रयत्न से उसके सारे दोषों पर विजय पाकर उत्कृष्ट जीवन निर्माण करें। अच्छाई देखने का गुण बहुत अच्छा है। यह केवल व्यवहारदक्षता के लिए ही नहीं चाहिए कि हमें तो अमुक व्यक्ति के साथ संघ का काम करना है, अतः उसके गुणदोषों की परीक्षा करके ही तदनुसार व्यवहार करना चाहिए। परंतु मैं व्यवहार नहीं जानता, तत्त्वही जानता हूं ऐसा भी कहना उचित नहीं। तत्त्व व्यवहार में लाना आवश्यक है। तत्त्व कहता है कि व्यक्ति के समस्त गुणदोषों को जानकर भी उसके गुणों का सत्कार करना चाहिए और दोषों को अपने श्रेष्ठत्व से प्रभाव से नष्ट करना चाहिए। उसके अंदर की अच्छाई को इतना जागृत करना चाहिए कि वह उसकी बुराई को भी दबा सके। उसकी अच्छाई को प्रोत्साहन देकर, उसे वृद्धिंगत कर एवं दोषों का दुर्लक्ष से हनन करके उसका विकास करें। यही अपना कर्तव्य

है और तत्त्व भी है। व्यवहारी लोग होने के नाते आप स्वयं इसका विचार करें। मेरा तो यही विचार है कि तत्त्व के अनुसार व्यवहार करना चाहिए न कि व्यवहार के अनुसार तत्त्व को मरोडना चाहिए।

जो तत्त्व व्यवहार में नहीं आता उसे तत्त्व ही नहीं मान सकते। क्योंकि जो व्यवहार में नहीं है उस तत्त्व की पतंग उडाने से क्या लाभ। तत्त्व व्यवहार में आना ही चाहिए। अपने पूर्वजों का इस पर बडा आग्रह था। उन्होंने कहा कि 'ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या' इस तत्त्व का यदि मरने के बाद ही अनुभव होता है तो उसका अनुभव हम नहीं करेंगे। इस जीवन में जीते-जागते नित्यप्रति के व्यवहार में यदि उसकी अनुभूति आती है तब तो वह सत्य, अन्यथा ग्रहण करने के योग्य नहीं। इसलिए उन्होंने कहा कि मरने के बाद मिलनेवाले स्वर्ग पर अपना विश्वास नहीं। वह है या नहीं, कौन जाने। जिस बँक का नाम सुना नहीं उसकी हुंडी नहीं चाहिए। हमें तो स्वर्ग का भी इसी जीवन में अनुभव चाहिए। 'तुरंत दान महा कल्याण', इसी आधार पर जिस तत्त्व का अन्वेषण किया, उसका व्यवहार किया। यही अपने यहां की परंपरा है। तत्त्व व्यवहार में आना ही चाहिए। उसके कारण व्यवहार परिवर्तित होना चाहिए। इसी दृष्टि से विचार करके हम कहते हैं कि यदि तत्त्व ठीक है तो उसके अनुसार व्यवहार करो। व्यवहार के लिए तत्त्व को मरोडना नहीं। तत्त्व के साथ व्यवहार का तद्रूप होना आवश्यक है। इसी बात को लेकर तत्त्व को व्यवहार में मरोडते-मरोडते हम इतना सुधार कर पाए हैं, इतना अच्छा वायुमंडल, जिसकी एक झलक हमें इसी शिबिर में दिखाई देती है, उत्पन्न कर पाए हैं। आज देश में सर्वत्र एक भाषाभाषी दूसरे भाषाभाषी से बात करते समय सौहार्द्र की दृष्टि से नहीं देखता। परंतु अपने यहां भिन्न भाषी स्वयंसेवक एकत्र होने के बाद भी एक-दूसरे के बारे में हीन विचार नहीं रखते। हमने अपने तत्त्व में कहा कि यह सब हिंदुसमाज हमारा है, एक है और उसी तत्त्व के अनुसार हमने अपने व्यवहार को मरोडकर कैसा भव्य स्वरूप प्राप्त किया है। उस स्वरूप में दिखाई देता है कि किसी भी भाषाभाषी की हम अवहेलना नहीं करते।

हम यह सोचकर चलें कि हम भी संपूर्ण समाज के साथ एक स्तर पर हैं। उनके गुणावगुण हममें भी हैं। हां, ईश्वर-कृपा से हमने एक श्रेष्ठ कार्य का साक्षात्कार किया है, अतः हम अपने सभी बंधुओं के गुणों का वर्धन करेंगे। यह भी विश्वास लेकर चलें कि उनके अवगुणों को दबाकर, अपने अंतःकरण के प्रेम एवं आदर के भाव से तथा अपने जीवन की वर्धमान शुद्धता से उनके अवगुणों को समूल नष्ट कर देंगे। हमारे व्यवहार का यही नियम है, अन्यथा अहंकार से विकृति उत्पन्न होकर कार्य करने का गुण नष्ट हो जाएगा और सफलता नहीं मिलेगी। वातावरण एवं परिस्थिति के कारण कभी सफलता का आभास भले ही दिखाई पडे, किंतु उसका स्थायी भाव तो हमारी योग्यगुणयुक्त कार्यक्षमता पर ही निर्भर है। इस महान् कार्य के हम निमित्त हैं। किंतु इस निमित्त की योग्यता भी तो हमें प्राप्त करनी होगी। श्रेष्ठ संगीतज्ञ के हाथ में अच्छा उपकरण

हो तभी शुद्ध संगीत निकलेगा। हम भी निरहंकार युक्त योग्य निमित्त के रूप में आगे आएं जिसमें, कोई छेडे तो आत्मविश्वास के साथ सुस्वर बोलने की योग्यता, पात्रता उत्पन्न हो। हमें तो भगवान कृष्ण का आदर्श अपने सम्मुख रखना चाहिए। हमें विदित है भीष्म, द्रोणाचार्य जैसे वयोवृद्ध आदरणीय महापुरुषों ने एक स्वर से कृष्ण जैसे श्रेष्ठ पुरुष को अग्रपूजा में बैठाने का आग्रह किया, परंतु उस अग्रपूजा का मान प्राप्त करने की पात्रता होने पर भी उन्होंने युधिष्ठिर को राजा बनाया और साष्टांग प्रणाम किया! यह पात्रता हमारे अंदर आती है कि नहीं इसका हम विचार करें। यह आनी चाहिए। दुनिया के सब लोगों को बडा करेंगे, अपने कंधों को पुष्ट, दृढ, अविचल रखकर सब को अपने कंधों पर खडा करेंगे और यही धारणा रखेंगे कि मैं समाज का सेवक हूं। एक परमात्मा के पैर पकडूंगा और सब की सेवा करूंगा, यही मेरा धर्म है, कर्तव्य है। इसलिए न मेरा ऊंचा स्थान है और न नीचा। मेरा सबसे बडा स्थान एक ही है कि स्वयंसेवक के रूप में मनसा, वाचा, कर्मणा, समाजसेवा करता रहूं; दूसरी कोई बात मेरे लिए नहीं। इस प्रकार की शुद्ध भावना को अपने हृदय में निर्माण करते रहना चाहिए। दुनिया का कोई मोह अपने को विचलित नहीं कर सकेगा, कार्य से नहीं हटा सकेगा। मेरी प्रेरणा में कभी कमी नहीं होगी। मन में केवल अपने कार्य के संबंध में अभिमान रखकर और अन्य सब अभिमान दूर करके कार्य में पूर्ण जीवन को समर्पित कर दें, तो फिर रुपया पैसा, औरत बच्चे इन सब का भी मोह आ नहीं सकता। वास्तव में ये सांसारिक चीजें तो अभिमान के बच्चे हैं। अहंकार और अपनेपन की भावना के कारण ही ये सब उत्पन्न होते हैं, परंतु जिसने अपने को कार्य में लीन कर दिया, कार्य का ही विश्वास मन में, हृदय में धारण कर लिया, कार्य के अतिरिक्त सब विचारों को दूरकर मन को एकाग्रचित बनाकर जिसने अपने अंतःकरण में अहंभाव को जागृत नहीं होने दिया, उसको छोटे-मोटे व्यामोह कभी भी स्पर्श नहीं कर सकेंगे। उसका जीवन ध्येयार्पण ही रहेगा, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं। यही महान् गुण अंतःकरण की सब शुद्ध भावनाओं को जागृत रखनेवाला, जीवन के अंत तक कार्य को निभाने का सामर्थ्य देनेवाला है। अतः ये दोनों महान् गुण—प्रथम अपने अंदर अभिमान का लेश न हो और दूसरा अत्यंत प्रखरता से जागृत आत्मविश्वास हो—वास्तविक श्रेष्ठ गुण हैं। इन्हीं गुणों को अपने अंतःकरण में अधिकाधिक मात्रा में, सब प्रकार का चिंतन करके उत्पन्न करें। हृदय में से सब प्रकार की दुष्टता एवं विपरीतता को दूर करके संघ के स्वयंसेवक को शोभा देनेवाला यह श्रेष्ठ गुण हम उत्पन्न करें यही मेरा विचार है।

[१५–३–१९५४ (प्रातः)]

हम आजीवन कार्य करें

हम लोग इस समय अपने-अपने प्रांत में संघ का कार्य प्रचारक के रूप में करने-वाले और वह भी किसी जिले का या उससे बडा काम संभालनेवाले, या तत्सम, इस रूप में यहां एकत्रित हैं। यह बात तो सब लोग समझते हैं कि प्रत्येक ने अपना-अपना ऐसा निर्णय किया है कि अपने कार्य को ही केवल इस जीवन में करेंगे और उस निर्णय को निभाने का सामर्थ्य भी पाया है। इस कार्य को हम अपने जीवन में करेंगे और दूसरी कोई बात अपने अंतःकरण में क्षणभर के लिए भी नहीं आने देंगे ऐसा दृढ विचार किया है। किंतु कितनी ही बार अपने अनेकों के मन में भिन्न-भिन्न प्रकार की बातें आती हैं। जैसे अपने साथ का कोई पढा-लिखा व्यक्ति कुछ इधर-उधर घूमता-घामता, नौकरी करता दिखाई देता है तो मन में विचार उठता है कि इसका कैसा सुखी जीवन है। इसके पास धन है, स्त्री है, बच्चे हैं। घर में सायंकाल जब वापिस आता है तो उसके कंधों पर छोटे-छोटे बच्चे चढते हुए उसके कान में मीठी-मीठी बातें कहते हैं। तो मन में लगता है, जो स्वाभाविक ही है, कि हमने ऐसा कौन सा पाप किया है कि हम यह जीवन क्यों ना बिताएं। इस प्रकार का विचार अनेकों के मन में आ सकता है और आएगा तो मुझे कोई आश्चर्य नहीं होगा। ऐसा विचार आने के बाद यदि हम लोगों ने प्रचारक ने कैसा रहना चाहिए, इस संबंध में बहुत बातें कीं तो वे सब अपने लिए निरर्थक हो जाएंगी। एक प्रकार से केवल इतना ही उपयोग अपने लिए हो सकेगा कि बाकी जो कोई थोडे बहुत इधर-उधर प्रचार-कार्य करते रहेंगे उनको देखकर कह सकेंगे "हमारे जमाने में ऐसा था, वैसा था और ये क्या करते हैं," ऐसा कहने के अति-रिक्त उपयोग अपने को होगा, ऐसा लगता नहीं। तो यह सोचकर एक ऐसा विचार आता है कि जीवन के संबंध में कुछ कहें कि न कहें, कहने की आवश्यकता है क्या? कहना हो तो उसे कहना चाहिए जिसने एक बार अपने व्यक्तिगत जीवन का विचार छोड दिया और बाहर निकल पडा। बाकी क्या बोले? यद्यपि ऐसी किसी के बारे में अपेक्षा नहीं, मेरी अपेक्षा है कि नहीं, यह मैं नहीं बताता, परंतु साधारण रीति से इसकी कोई ऐसी अपेक्षा नहीं। साधारण रीति से हम लोग अपने समाज को यही बताते आए हैं कि संघ यह फकीरों का नहीं, समाज का संगठन होने के कारण उन लोगों को संगठन करना चाहिए जो समाज में व्यक्तिगत जीवन चलाते हैं, अपना काम-धाम करते हैं, स्त्री-बच्चों का परिवार निर्माण करते हैं, जीविका कमाकर परिवार का पोषण करते हैं। इस प्रकार समाज की जिम्मेवारी अपने ऊपर लेकर कार्य चलानेवाले लोगों के लिए यह कार्य उनके जीवन के कर्तव्य के रूप में है, ऐसा हम लोग बोलते आए हैं। यह केवल लोगों को बताने की बात तो नहीं, सत्य बात है। जब कभी लोग मुझसे पूछते हैं कि क्या हम भी ऐसा ही करें तो मैं बोलता हूं कि आप मुझे क्यों तकलीफ देते हैं। "अपना संगठन का काम तुम संभालो और मैं भी अपनी लंगोटी पहनकर [illegible]

जाऊंगा। फिर मुझे कोई देखेगा नहीं और मैं भी किसी को दिखूंगा नहीं। इसीलिए मैं कहता हूं कि भाई बिना कारण कष्ट क्यों देते हो? अपना-अपना संभालो। पारिवारिक जीवन संभालते हो तो उसी परिवार का विशाल स्वरूप यह समाज भी संभालो। ऐसा लोगों के साथ हम बोलते हैं। यह ठीक है, योग्य है, परंतु योग्य होने के कारण अपने लोगों के मन में भी दूसरे ढंग से विचार आता है कि परिवार चलाकर इस कार्य को करेंगे। इसका (परिवार का) आदर्श जरा हम लोगों के सामने भी खडा कर दें। इस प्रकार का विचार आना कोई आश्चर्य की बात नहीं। यह मन मनुष्य से अधिक चतुर होता है, अनियंत्रित होता है, इसीलिए इन सर्वसाधारण दीखनेवाली बातों को करने की इच्छा से उनके समर्थन में वह बहुत ही श्रेष्ठ तर्क देता है और इसलिए अपने मन का झुकाव उनकी ओर चला जाए तो, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। यह झुकाव होना चाहिये कि नहीं यह आप स्वयं निर्णय करें। इसके बारे में मैं कुछ बोलूंगा नहीं परंतु जो कुछ आगे चलकर थोडा बहुत संघ का कार्य किसी प्रकार की चिंता न करते हुए हम करते हैं, उसके आधार पर यदि हम सोचेंगे तो पता लगेगा कि ऐसा करना बहुत कठिन ऐसी परीक्षा में से गुजरना होगा। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि जीवन के कितने ही व्यामोह, जो चारों ओर खडे रहते हैं, कितने ही भिन्न-भिन्न प्रकार से इस जीवन में उपस्थित होते हैं। वे इतना भिन्न स्वरूप लेकर खडे होते हैं कि उनका विचार भी अपने लिए कठिन हो जाता है। जैसा कि उदाहरण के रूप में मैंने बताया कि अपने बराबरी के लोगों को जब अच्छी स्थिति में देखते हैं तो लगता है कि अपना क्या होगा। सोचते हैं कि यदि कार्य करते-करते हम बूढे हो गए तो हमें कौन संभालेगा, कभी बीमार हो जाएंगे तो कौन ख्याल देगा। अपने चारों ओर जो कार्यकर्ता कार्य कर रहे हैं, कभी-कभी उनमें जब विकृति आ जाती है, तो मन में लगता है कि उनकी क्या भलाई की गई। इस प्रकार से कितने ही प्रकार के विचार उत्पन्न होने के बाद मनुष्य सोचता है कि मेरा क्या होगा? ये मुझे अयोग्य समझकर छोड देंगे तो फिर मेरा क्या होगा? आज मैं कुछ शारीरिक दृष्टि से ठीक हूं, कार्यक्रम कर सकता हूं, इधर-उधर चलता हूं, परिश्रम करता हूं, खाने-पीने की फिकर नहीं करता, तब तक ये सब अच्छा कहते हैं। आगे चलकर जब मैं वृद्ध हो जाऊंगा तो मेरा क्या होगा? इसलिए फिर मन में आता है कि चलो भाई इस प्रकार विपरीत परिस्थिति आने के पहले ही अपना कुछ प्रबंध कर लें, अपनी कुछ व्यवस्था रखी जाए, 'सम थिंग टु फाल बॅक अपॉन'। मनुष्य का मन जिस प्रकार अन्य खेल खेलता है, उसी प्रकार यह भी उसका एक दांव है। इस दांव में कौन परास्त होता है और कौन जीतता है यही अपने को देखना है। हम विचार करें कि इस खेल में स्वयं और अपने मन के बीच में चल रहे संघर्ष में कौन जीतता है? वह जीतेगा या हम जीतेंगे। मन अपनी सहायता के लिए चारों ओर अच्छे-अच्छे तर्क उपस्थित करता है, जैसा वेदों में लिखा है कि प्रजातंतु तोडना नहीं चाहिए। एक सज्जन ने मुझ से कहा कि इस भारतीय राष्ट्र-परंपरा में

जितने कुछ श्रेष्ठ पुरुष हुए हैं वे, बौद्धकाल के उपरांत छोड दें तो, सब घरबारवाले हुए वसिष्ठ क्या, विश्वामित्र क्या और राम, कृष्ण, शिवाजी आदि सब जितने देखो घरबार-वाले ही थे। इतना ही नहीं तो प्रत्येक की ८–८, १००–१००, हजारों–हजारों तक संताने थीं। अपने पहचान के और एक सज्जन यह कहते थे कि संपूर्ण भारत का जो विनाश हो गया वह इस संन्यास के नाम से घरबार छोडने की प्रवृत्ति के कारण हुआ। 'आर्ग्युमेंट' तो अच्छा है। युक्तिवाद दिया जाता है कि देखो, बडे-बडे बुद्धिमान श्रेष्ठजनों ने विवाह नहीं किया इसलिए संतति अच्छी नहीं हुई और सामान्य लोगों की जो हीन परंपरा है, उन्होंने विवाह किया और हीन संतति निर्माण की। इस घर छोडने की प्रवृत्ति के कारण संतति अच्छी नहीं हुई। उनमें से भी यदाकदाचित उत्पन्न हुए वे संन्यासी बन गए। शंकराचार्य ने यदि शादी कर ली होती तो शायद उनसे भी बढकर पुत्र हुआ होता यद्यपि फिर वे भले ही शंकराचार्य न बनते। तो इस प्रकार के कितने ही युक्तिवाद जिसका कोई हिसाब नहीं, अपना मन ढूंढकर निकालता है। इस संघर्ष में कौन जीतता है, कौन हारता है, यही बात अपने सामने है। यह मन जो इस प्रकार के बडे-बडे प्रमाण ढूंढकर लाएगा, उससे टकराने के लिए कोई चीज अपने पास है या नहीं। केवल एक ही वस्तु है–वह यह कि हमने यह कार्य करने का निश्चय किया है, इसे ही करना है। यह जन्म तो इसके लिए ही समर्पित है और यदि परिवार करना भी है तो एक ही जिंदगी थोडे ही है। अगले जन्म में किया जाएगा, इतनी जल्दी क्या है? "कालो ह्ययं निरवधिर्विपुलाच पृथ्वी"। इस जन्म में यदि परिवार नहीं किया तो क्या यह मानवसमाज बरबाद हो जाएगा? इसलिए अगले जन्म में करेंगे; जल्दी की क्या जरूरत है? इस बार एक कार्य हाथ में लिया है, उसे इसी जिंदगी में पूरा कर लें। जितना अधिक से अधिक अपने मन से, बुद्धि से, शरीर से कार्य हो सके, उतना अधिक कार्य लिया जाए और बुढापे में क्या होगा इसका विचार बुढापे पर छोड दें, अभी से क्या विचार करना।

ऐसा भी विचार मन में आता है कि मैं यह कार्य कर रहा हूं इसलिए मेरी दुर्बलता में, मेरे बुढापे में इस कार्य ने मेरी भलाई करनी चाहिए, मेरे सब जीवन की देखभाल करनी चाहिए। यह इच्छा भी एक स्वार्थप्रेरित इच्छा है या नहीं? भले ही संगठन सब बातें करे, पर अपनी यह अपेक्षा रही तो स्वार्थ हो गया। इसलिए मैंने एकबार नहीं अनेक बार कहा है कि अपने शरीर से जबतक संघ का कार्य होता है तब तक ठीक। जिस दिन कार्य करना असंभव हो उस दिन यह शरीर निकल जाना चाहिए, रहना नहीं चाहिए। शरीर अगर छोडने के लिए तैयार नहीं 'इफ बॉडी इज़ सिली पर्सिस्टेंट–' तो किसी भी सडक के किनारे उसको जाकर छोड देंगे, पर संगठन पर उसका बोझ आने नहीं देंगे। कभी-कभी एक-दूसरे के साथ बातचीत करते हुए भी बोलते हैं कि उसकी देखभाल नहीं की गई। आदमी था न, अपना प्रचारक था न, उसकी कोई देखभाल नहीं की गई। ऐसी अपेक्षा क्यों? हम कार्य की देखभाल करेंगे, चाहे हम अपना

जीवन उसे दे दें, पर अपेक्षा नहीं। क्योंकि अपेक्षा भी तो थोडा-बहुत व्यापार ही है। और यदि इस प्रकार उसमें व्यापार हो गया तो उसमें स्पष्ट शुद्ध भक्ति की धारणा कम हो गई। अपने प्रचारविभाग की यह रचना किस प्रकार से रखनी चाहिए यह आपका विचार है। हिंदुस्थान से आए हुए आप बडे-बडे प्रचारक यहां बैठे हुए हैं। आप अपने मन में निश्चय कर लो किंतु कार्य से, ध्येय से व्यापार नहीं करना। यह परमात्मा है इसके साथ व्यापार नहीं करना। वह जैसा रखेगा वैसा रहेंगे। मारेगा तो मरेंगे। यह भी न पूछेंगे कि क्यों मारते हो, हमने तुम्हारा क्या बिगाडा है। बिलकुल नहीं पूछेंगे। इस प्रकार अपनी धारणा बनाना चाहिए या नहीं, इसका विचार कर लें। अपना मन अपने को किसी भी अवस्था में परास्त नहीं कर सकता, किसी प्रकार अपने को डरा नहीं सकता, किसी भी प्रकार अपने को इस ध्येयनिष्ठ व्रतपूर्ण जीवन से डिगा नहीं सकता, हम को इधर-उधर देखने के लिए प्रवृत्त नहीं कर सकता, किसी भी प्रकार से दुनिया-भर के चाहे जितने अच्छे दीखनेवाले कार्य हों, अन्य अच्छे और सफल दीखनेवाले मार्ग हों, तब भी अपना मन यह कार्य, अपनी पद्धति से करने में विपरीत विचार नहीं कर सकता। इस प्रकार की धारणा कार्य की कसौटी है। इतना अपना निश्चय हुआ हो, तो समझना चाहिए कि इस कार्य के संबंध में अपनी निष्ठा भी पूर्ण है।

यदि कभी अपने मन में, ऐसा विचार आ गया कि मैं इधर-उधर का काम भी कर सकता हूं और यह संगठन का काम भी, तो वह संपूर्ण समर्पण करने के लिए उसके मन के साथ हुए युद्ध में हार गया। इस बात को मैं इसलिए बताता हूं कि अपने अनेक कार्यकर्ता विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करते हैं। उन भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कार्य करते समय भी अपने ध्येय, कार्यपद्धति और निष्ठा की अविचलता का भाव उनके हृदय में रहना चाहिए। साथ ही हम लोग भी, जो अपनी प्रत्यक्ष कार्यप्रणाली में संघ के कार्य में चलते हैं, अपने मन को किस प्रकार काबू में रखकर उसका उपयोग करें। उस संबंध में कुछ विचार आपके सामने रख रहा हूं। यह एक विचार मुझे बहुत दिन से आता है कि अपने को कोई इच्छा न रहे। अपने लिए कोई इच्छा न रहे। संघ के संगठन में मेरे लिए क्या स्थिति रहे, इस प्रकार संगठन की कल्पना रहना यह अलग बात है, सोचना जानना यह अलग बात है। परंतु अपने जीवन के संबंध में मैं संगठन में इसी स्थान पर रहूंगा, इतनी मर्यादा तक कार्य करूंगा या इस मर्यादा से कम या अधिक नहीं करूंगा या अमुक क्षेत्र ही मेरे लिए प्रिय है, दूसरा नहीं या मेरे गुण मैं इसी क्षेत्र में प्रकट कर सकता हूं अन्यत्र नहीं इसलिए वहीं पर रहूंगा, जैसे का वैसे रहूंगा, इस प्रकार से जीवन को चुनने का अपना अंतःकरण का भाव समाप्त होना चाहिए। जिसने इस मन को जीत लिया उसका यह विचार ही नष्ट हो जाता है। फिर वह यही सोचता है कि जहां पर कहा वहीं पर रहूंगा, जैसे या वैसे रहूंगा, इसमें उसके हृदय को सब प्रकार से संतोष होता है। अगर कोई सेवा में ' सिलेक्शन ' करे तो सेवा कैसी ? फिर सेवा क्या ? वह तो नौकरी हो गई। ऐसा यदि वह सोचता है तो वह केवल नौकरी ही करता है। फिर

प्रकार नौकरी खोजते समय सोचा जाता है कि अच्छा शिक्षक बन सकता हूं, अच्छा न्यायाधीश बन सकता हूं या अच्छा 'कॉंस्टेबल' बन सकता हूं। इस प्रकार से वह नौकरी चुन लेता है। इस प्रकार से संगठन के अंतर्गत कार्यक्षेत्र चुनने की लालसा रही तो वह एक प्रकार से नौकरी हो गई, भले ही निःशुल्क हो, पर हुई नौकरी। उसमें वह शुद्ध भाव नहीं कि अपना जीवन समाप्त हो गया है, जो कुछ हुआ सब संघ के साथ घुलमिल कर एकरूप हो गया। अब तो वह जो समष्टिजीवन है वह जैसा चाहे वहां वैसी योजना करे, यदि निकम्मा बनाकर छोडता है तो छोड दे, इसी भावना में जिसके मन की सिद्धता और बुद्धि की सिद्धता है, उसने यह संघर्ष जीत लिया ऐसा समझें। हम लोग अपने मन में सदा विचार करें कि हम विजय पाने की ओर बढ रहे हैं या नहीं। जीवन के अपने लक्ष्य तक पहुंचने के मार्ग पर अपना मन समय-समय पर जो बाधाएं खडी करता है उन सब प्रकार की बाधाओं को परास्त कर, मन को पूरी प्रकार से दबाकर अपनी ध्येयसाधना के, अपनी प्रत्यक्ष आंखों से दीखनेवाले संघकार्य की उपासना में जीवनभर रत रहूंगा, ऐसी अपनी अवस्था हुई या नहीं इसका हमें अपने मन में विचार करना होगा, करना चाहिए। मैं आप लोगों को यह नहीं कहता कि इसका विचार करने के लिए आप यही निश्चय करें कि करना है। करना है या नहीं यह आपकी संघकार्य की समझ पर है, मन की धारणा पर है। यह मैं आपके अपने मन की धारणा के ऊपर छोडूंगा, कहूंगा नहीं। क्योंकि आप सब लोग संघकार्य के जानकार हैं। सब संघकार्य को समझनेवाले है इसलिए मैं कुछ कहूंगा नहीं। आप यदि ऐसा कहेंगे कि हमें तो अपना घर-बार करके ही संघकार्य के नए आदर्श खडे करना है तो अवश्य करें। मैं उसके लिए नहीं कहूंगा। कोई कहेगा कि, नहीं मुझे किसी और बात में आकर्षण है तो मैं मना नहीं करूंगा। कोई कहेगा कि क्यों नहीं? क्योंकि यह अपनी-अपनी लडाई है। अपने-अपने को ही लडनी पडती है। उसके लिए अन्य किसी की सहायता से काम चलता नहीं। इस युद्ध में अपने प्रतिपक्षी की ओर से इतने भिन्न-भिन्न प्रकार के शस्त्र विचार के रूप में प्रयोग किये जाते हैं कि वह अपने को फुर्ती से हटा सकते हैं। उसकी सावधानता रखें। युद्ध अपना-अपना है, इसे स्वयं लडें। अधिक कुछ मैं इसके विषय में बोलता नहीं।

इसी प्रकार दूसरा भी एक विचार है। जिस किसी के जीवन में इस प्रकार के युद्ध में सफलता पाने का अवसर मिला है, वह अपने कार्य को करते समय चारों और घूमता है और लोगों के सामने एक श्रेष्ठ कार्य रखने का प्रयास करता है। तो उसका अपने जीवन में भी गुण चरितार्थ होता रहे, ऐसा लोगों को दिखाई देना चाहिए। वह का सदैव चिंतन करते हुए सेवा का एक व्रत अपने जीवन में चलता है। फिर उस व्रत को चलाते समय किसी प्रकार का मोह, दंभ, अभिमान और भिन्न-भिन्न आकर्षित करनेवाली बातों का अपने हृदय पर कोई परिणाम होता नहीं। संगठन के लिए जिस प्रकार उत्तम और श्रेष्ठ व्यक्तियों की आवश्यकता है, उस प्रकार का श्रेष्ठ व उत्तम जीवन [illegible]

प्रकट करना है। अपनी इस इच्छा के लिए कि अपने संपूर्ण राष्ट्र के व्यक्ति एक विशेष स्तर के हों, उनमें एकनिष्ठ राष्ट्रभक्ति हो, उनके पास राष्ट्र के संबंध में ज्ञान रहे, तो उनके अंदर जितनी सद्भावना, जितना ज्ञान, जितनी राष्ट्रभक्ति अपेक्षित है उससे कितनी ही अधिक मात्रा में हमें अपने जीवन में प्रकट करनी होगी, व्यक्त करनी पडेगी। अपने राष्ट्र की परंपरा का अपने को ज्ञान रखना होगा। उस ज्ञान को रखते हुए जीवन में सतत दृढता को बनाए रखने के लिए दैनंदिन कुछ उपासना करनी पडेगी। इन सब बातों पर योग्य ढंग से विचार करने के लिए एक विशिष्ट प्रकार की नियमबद्धता, एक विशिष्ट प्रकार की शुद्ध उपासना और सब प्रकार के ज्ञान के एक आदर्श के रूप में खडे हो सकें, इस प्रकार के सद्गुणों को अपने अंदर निर्माण करने के लिए आगे बढना होगा। आप सब लोग प्रचारक हो, तो विचार करो कि प्रचारक का काम क्या है ? कहीं १५ दिन में चले जाना, शाखा खोलना यही कोई प्रचारकका कार्य नहीं। वह तो कोई भी कर सकता था। अनेक लोगों ने इसके पूर्व किया भी। मुझे इसका पता नहीं, आप लोगों को इसके बारे में बहुत पता है। आप ही एक प्रचारविभाग के रूप में यहां एकत्रित हुए हैं। इसलिए इस दृष्टि से अपनी ओर देखना यही उचित होगा। आपका कार्य क्या है, क्या करनां चाहिए, इसका निर्णय करें।

एक बात केवल अपने सामने रखनी चाहिए। जब हम अपने चारों ओर के क्षेत्र में जाएंगे तो लोग एक उत्कृष्ट जीवन, एक आदर्श जीवन इस नाते से अपनी ओर देख सकें ऐसा व्यवहार करना ही उचित होगा। इस प्रकार का उत्कृष्ट जीवन बनाकर चलना चाहिए। एक आदर्श राष्ट्रभक्त के नाते अपना सब व्यवहार होता है, ऐसा ही दीखना चाहिए और राष्ट्र के शुद्ध जीवन की परंपरा के ज्ञान का अपने पास कोई अभाव नहीं, इस प्रकार का भी लोगों को अनुभव होना चाहिए। इस प्रकार स्वयं को बनाने की इच्छा लेकर कार्य करना चाहिए, ऐसा मैं समझता हूं। मैंने अपने तौर से उन विषयों का आप के समक्ष निर्देश मात्र किया है, जिनपर विचार करना उपयुक्त होगा। और यह होने के उपरांत अपने सामने एकही बात बार-बार कहनी चाहिए कि इस संघकार्य को, अपनी पद्धति से चलाने के लिए हमने अपने हाथ में लिया है। उसे विचारपूर्वक ही चलाने के लिए अपना शक्तिसर्वस्व इसमें लगाना नितांत आवश्यक है।

चारों ओर की इस अवस्था को देखने के बाद और अपने अंतःकरण में विचार करने के बाद यदि यही निष्कर्ष न निकला कि यही कार्य करणीय है तो अपने को ऐसा समझना चाहिये कि अपने युक्तिवाद में या विचार में कोई दोष रह गया है। और फिर से एक बार शुद्ध हृदय से विचार करना चाहिए कि यह कार्य ही अपने लिए अनुकरणीय है। इसके बिना राष्ट्र का अभ्युदय असंभव है। राष्ट्र के सामने आज और आनेवाले समय के अंदर जो भिन्न-भिन्न प्रकार की समस्याएं, जो भिन्न भिन्न प्रकार की आपत्तियां आ सकती हैं, उन सब प्रकार की आपत्तियों और समस्याओं में से राष्ट्र को पार करना इसी कार्य से हो सकता है। अन्य किसी भी कार्य से होना संभव नहीं। इस

प्रकार का एक दृढनिश्चय हम अपने हृदय में रखकर अपनी सारी शक्ति इस कार्य के लिए समर्पित करते चलें। यह भाव, इसका एक विचार सदैव हृदय में जाग्रत होना चाहिए। तदनुसार अपने प्रयत्न भी होने चाहिए।

और एक आखिर की बात कहकर अपना कहना समाप्त करता हूं। संगठन का कार्य करने से अपने संपर्क में छोटे-बडे कितने ही व्यक्ति आते हैं। अनेक लोगों को लाने के लिए हम छटपटाते हुए प्रयत्न करते हैं। अनेक लोगों को साथ में लाते हैं। तो सदा यह विचार करना चाहिए कि हम एक ध्येय पर लगे हुए विशिष्ट जीवन को लेकर चलनेवाले, सद्भावों को लेकर चलनेवाले लोग हैं, तो अपने संपर्क में आया हुआ जो-जो व्यक्ति है वह पहले जैसा था, उससे अधिक अच्छा हुआ है या नहीं। अच्छा याने ज्ञान की दृष्टि से, जानकारी की दृष्टि से, राष्ट्र के इतिहास को जानने की दृष्टि से, उसके जीवनादर्श की दृष्टि से, राष्ट्रभक्ति के साथ एक ध्येयनिष्ठ जीवन निर्माण करने की दृष्टि से, सभ्यता का अपने अंदर साक्षात्कार और अनुभूति करने की दृष्टि से, अपने व्यवहार में अधिक शुद्धता, अधिक स्नेह, अधिक भ्रातृभाव इत्यादि निर्माण करने की दृष्टि से वह अधिक योग्य बना है अथवा नहीं, इसको देखना चाहिए। अपने प्रत्यक्ष दैनंदिन जीवन में जीवन-निर्वाह के भिन्न-भिन्न कार्य करता हुआ परिवार में अधिक सुख निर्माण करने की पात्रता अपने अंदर उत्पन्न करता है या नहीं यह देखना चाहिए। अधिक लोक-संग्रह करते हुए समय-समय पर अपने ऊपर संपूर्ण संगठन का कार्य संभालकर और सुचारू रूप से संगठन कर, उसका व्यवस्थित स्वरूप बनाकर रख सकने की पात्रता उसमें उत्पन्न हुई है तो वह वर्धमान हो, इसका भी ध्यान अपने को रखना चाहिए। अपने को एक ही सूत्र में कहना हो तो अपने संपर्क में जो कोई आएगा वह अपने संपर्क के उपरांत दिन-प्रतिदिन प्रगति की ओर बढता हुआ सब प्रकार से-शरीर से, मन से, पारिवारिक जीवन के सुख की दृष्टि से, संगठन चातुर्य की दृष्टि से उसके द्वारा राष्ट्रभक्ति के प्रति वर्धमान होनेवाली श्रद्धा की दृष्टि से, वह दिन-प्रतिदिन उन्नति के मार्ग पर ही चलता है, यह देखना अपना कर्तव्य है!

प्रचारक को केवल किसी शाखा में केवल दक्ष-आरम के कार्य करना नहीं। वह शिक्षक का कार्य तो करता नहीं। कार्य तो प्रचार का है। याने अंतःकरण के गुणों का, श्रद्धा का, निष्ठा का, विकास का, प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा कार्य करा लेने का अपना कार्य प्रचार कार्य के रूप में है और यही वास्तविक कार्य है। इस दृष्टि से यह सब प्रकार की प्रगति, वृद्धि हम लोगों ने मिलकर देखना यही अपने कार्य की वास्तविक सफलता है।

[१५–३–५४ (सायंकाल)]

ध्येयसिद्धि के लिए संपूर्ण समर्पण

अंत:करण को एकाग्र करने की विधि

एक साधारण प्रश्न कई बार अपने मन में उठता है कि अंतर्राष्ट्रीयता आदि की इतनी ऊंची-ऊंची बातें करने के पश्चात् केवल कबड्डी और दक्ष-आरम से क्या होगा ? यदि युद्ध में खडा होना पड गया, तो रायफलों के सामने लाठी से क्या होगा ? परंतु रायफल के पीछे जो मनुष्य रहता है उसी का सामर्थ्य लडता है, रायफल का नहीं। यदि मनुष्य का सामर्थ्य योग्य रूप में रहा तो हाथ भर की लकडी क्या, निःशस्त्र प्रजा ही सफलता पाने की पात्रता रखती है। चारों ओर यही अनुभव है। इस अनुभव को आखों के सामने से ओझल नहीं होने देना चाहिए। इसी बात पर अपना आग्रह है। अतः कार्यविस्तार की आवश्यकता होने के कारण एवं उसके अतिरिक्त कोई निष्कर्ष न होने के कारण, इस बात पर अविचल बुद्धि से आगे बढना चाहिए। आगे चलते समय अधूरेपन से काम नहीं चलेगा। अपने संपूर्ण जीवन, संपूर्ण प्राण, संपूर्ण शक्ति, भावना एवं बुद्धि का पूर्ण समर्पण करके ही हम यह कार्य कर सकते हैं। इसीलिए कार्य की रचना भी उसी प्रकार से की गई है। इसी बात पर मैंने अपने प्रवास में कई स्थानों पर आग्रह किया था।

दैनिक कार्य में हम इकट्ठा आते हैं। सब कार्यक्रम करते हैं। मन, बुद्धि और शरीर तीनों साधनों का संतोष हो सके एवं अधिकाधिक उत्साह बढ सके, इसी प्रकार के कार्यक्रम बनाना चाहिए। एक उदाहरण भी दिया था। भगवान् की प्राप्ति के अनेक मार्ग हैं। मनुष्य से कहा कि तुम भगवान् की प्राप्ति करो। यदि उन मार्गों में उनका मन नहीं लगता, तो विचार करना पडता है कि कैसे उसके मन का भाव जागृत हो। कैसे उसके लिए श्रद्धा उत्पन्न हो ? किस प्रकार से अंतःकरण की एकाग्रता हो ? इसके लिए कहा गया कि यदि मन नहीं लगता तो अपनी रुचि के अनुसार शारीरिक क्रिया करो। मूर्तिसेवा, प्रार्थना, भजन, नाचना आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के शारीरिक कार्यों से अंतःकरण की सद्भावनाओं को जागृत किया जा सकता है। यदि कोई पूजा कर सकता है, तो उसे कहो कि विग्रह सामने रखो, फूल लाओ, पानी लाओ, आरती करो, धूप जलाओ, स्तोत्र गाओ अर्थात् शरीर को अभ्यास कराते-कराते निश्चित समय के अंदर शेष सब बातें हृदय से हटाकर, उस एक क्रिया में लगाकर शरीर की ऐसी अवस्था उत्पन्न करो कि उस समय शरीर वही कार्य करता रहेगा। इस प्रकार शरीर को धीरे-धीरे उसका अभ्यास कराने से धीरे-धीरे मन के अंदर के भाव जागृत होते हैं और फिर हृदय के अंदर जैसी अनुभूति चाहिए, प्रेरणा चाहिए, वह भी प्राप्त होती है। इसी दृष्टि से होम, हवन, तीर्थ, यज्ञ, भजन आदि भिन्न-भिन्न प्रकार की शारीरिक क्रियाएं भिन्न-भिन्न समय पर नित्यकर्म की दृष्टि से अपने को दी गयीं। उन सबका हेतु यही होता है कि शरीर की उन क्रियाओं से मन पर परिणाम होता है और उसे एकाग्र करने में सहायता मिलती है।

दिन-प्रतिदिन की उपासना

यह जिस प्रकार ईश्वर की पूजा के विषय में है, वैसे ही राष्ट्र रूपी इस व्यक्त परमात्मा की पूजा में लगे होने के कारण हम ने भी अपने सामने राष्ट्र के प्रतीक के रूप में इस ध्वज को अपने सामने रखा। इसके चारों ओर भिन्न-भिन्न प्रकार की शारीरिक क्रियाएं करते हैं, जिनके कारण संगठन के लिए आवश्यक भाव अपने हृदय में उत्पन्न होते हैं; पौरुष, पराक्रम, निर्भयता उत्पन्न होती है। किसी के भी सामने खडे होकर, निश्चल दृष्टि से उसकी ओर देखने की पात्रता उत्पन्न होती है और अंतःकरण एक साथ रहने के कारण पवित्र स्नेह, जो संगठन के लिए आवश्यक है, उत्पन्न होता है। उस स्नेह के सागर में समस्त देश डूब जाए, आसेतु हिमाचल सब लोगों के अंतःकरण में एकात्मता जागृत रहे, उस एकात्मता को अपने कार्यक्रमों के द्वारा शरीर से शरीर रगड़-कर, कंधे से कंधा लगाकर, संस्कारों को जागृत करते-करते, उन्हीं कार्यक्रमों के द्वारा अनुशासन का सूत्र शरीर, मन और बुद्धि में दृढता से बैठे इस का हम प्रयत्न करते हैं। अपने शरीर के द्वारा इस संगठनरूपी मार्ग से राष्ट्र की उपासना में अपने भिन्न-भिन्न भावों एवं विचारों के द्वारा मन-बुद्धि को संस्कारित करने की चेष्टा में लगे रहते हैं। वार्तालाप करते हैं, ध्येयवाद निर्माण करनेवाले गीत गाते हैं, समय-समय पर अपने ध्येय के बारे में बातचीत करते हैं, संघ के निर्माता के महान् जीवन का दर्शन करने की चेष्टा करते हैं और उसमें से संपूर्ण राष्ट्र के उत्थान के लिए आवश्यक गुणों का भी हम लोग चिंतन करते हैं। इस प्रकार से अंतर्बाह्य जीवन में नित्यव्रत के रूप में आचरण करने के लिए यह प्रणाली हम ने निश्चित की, जिसके कारण कुछ समय बाद एक संस्कार मन पर पडते-पडते फिर उसी की धुन अपने ऊपर चौबीसों घंटे सवार रहे ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है। सोते-जागते सब समय एक ही स्वप्न, एक जागृति, एक ही विचार रहता है कि हम लोग कार्य के साथ एकरूप होकर अपना जीवन सफल कर सकें। इस कार्य की ऐसी रचना की गई है। यह रचना अकस्मात् ही आकाश से नहीं गिरी अथवा बिना विचारे ही नहीं बनाई गई। जो संघनिर्माता के पूरे जीवन से परिचित हैं अथवा जिन्होंने उन्हीं के हाथ से समय-समय पर लिखे गए वचन देखे होंगे, तो उन्हें पता होगा कि उन्होंने रचना के जितने भी संभव मार्ग हो सकते हैं, उन सब को अपनी आंखों के सामने रखा और व्यवहार में भी लाने की चेष्टा की। 'स्टडी सर्कल्स,' साप्ताहिक बैठकें, 'डिबेटिंग क्लब्स' आदि सब उपायों को अपना कर देखा और सब के अंत में उन्होंने दैनंदिन शाखा का निर्माण इसलिए किया कि पूजा दिन-प्रतिदिन अवश्य हो, अर्थात् नित्यप्रति समय निकाल कर नित्यव्रत निभाते-निभाते अंतःकरण उसी संस्कार में रंग कर चौबीसों घंटे दूसरा कोई भी विचार न आ सके, ऐसी सहजावस्था अपने संगठन की उत्पन्न हो, इसी प्रकार उन्होंने बहुत सोचविचार कर यह रचना अपने सामने रखी। अतः इस रचना को अधिक से अधिक मात्रा में दृढता के साथ अपने को निभाना चाहिए। इस प्रकार जब हम लोग सहज स्थिति के रूप में संगठन के कार्य में लगे रहेंगे

हैं, तो अपने प्रत्येक व्यवहार से संघ का ही पोषण होता है। चाहे कोई प्रचारक के रूप में कार्य करे, अथवा व्यावहारिक व्यक्ति के रूप में कार्य करे, परंतु इसे अत्यंत निश्चलता से चलाना चाहिए। ऐसा दृढ चिंतन जीवनव्यापी बनाना आवश्यक है। इसलिए दिन-प्रतिदिन की उपासना को निश्चलता से चलाना आवश्यक है। जब यह विचार अपने सामने आएगा, तो दुनिया भर की बातों में कोई मतलब नहीं रह जाएगा। जब तक हम लोग प्रत्यक्ष व्रत का आचरण नहीं करते, तब तक बौद्धिक समाधान का कोई लाभ नहीं, अन्यथा आजकल के कोरे वेदांत का प्रवचन करनेवालो के समान हो जाएगा। हम लोग भी संगठन की गपोडबाजी करनेवालों के समान हास्यास्पद रूप में स्वयं को खडा कर लेंगे। वैसा कदापि नहीं होना चाहिए। हम संगठन के मंत्र को व्याप्त करनेवाले इस नित्यव्रत का अनुष्ठान, पूर्ण शक्ति से तथा पूर्ण हृदय से जीवन भर करेंगे। उसके द्वारा उत्पन्न सहजस्थिति को जीवन के अंत तक पूर्ण रूप से जागृत एवं कार्यक्षम रखेंगे, इसी निश्चय को लेकर चलना आवश्यक है।

दैनिक शाखा

दैनिक शाखा के संबंध में यही विचार लेकर चलना चाहिए कि यह मेरा कार्य है, इसको मैं करूंगा। इस शाखा के लिए सब लोगों के पास जाऊंगा। उनके साथ वार्तालाप करूंगा। वार्तालाप करने के इस सूत्र को अखंड रखना है। भिन्न-भिन्न स्वभाव एवं गुणों के लोगों से मिलते हुए धर्म के सूत्र को उनके अंतःकरण में जागृत कर एकात्मता से भरे हुए सब लोगों को एक सूत्र में गूंथना है। मुझे विश्वास है। कि सब लोग अपने कार्य के लिए आगे बढेंगे। सब कुछ छोडकर इसी मार्ग पर हमें चलना है, यह विचार दृढता से अपने सामने रखने की आवश्यकता है आप लोगों को यह सब ज्ञान होने के कारण मैं यह आपके ही विश्वास पर छोड देता हूं कि आप किस ढंग से कार्य करें—इसी सहज रूप में, अथवा शादी-विवाह करके व्यावहारिक मनुष्य के रूप में ? इस बात को कहने की मुझे आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह अपने-अपने अंतः-करण पर निर्भर है।

प. पू. डॉक्टरजी का जीवन अपने सामने रखें

यदि हम अपने जीवन में कोई आदर्श खोजते हैं, तो जैसा मैंने कहा कि चलते-फिरते किसी व्यक्ति का आदर्श न रखें, क्योंकि उसका कल क्या होगा इसका कुछ पता नहीं। आजतक हमने अपने सामने जिन लोगों को अपने मार्गदर्शक के रूप में रखा, स्फूर्तिदाता के रूप में देखा, जिन्होंने हमें कार्य करने के लिए आगे बढाया, वे ही इस कार्य से निवृत्त होकर प्रत्यक्ष संबंध तो क्या, विरोध तक करते हुए दिखाई देते हैं। इन सब को देखने के बाद हम यही निष्कर्ष निकालें कि अपना संबंध कार्य से है, व्यक्तिविशेष से नहीं। अतः अपने सामने ऐसा ही आदर्श रखें जो कभी विकृत नहीं होता। इसी आदर्श के रूप में यह ध्वज अपने सामने है। यह ध्वज अपने त्याग के संदेश को कभी

कम नहीं करता। जीवन को यज्ञ करने के साधन के रूप में मानने की प्रेरणा देता है। उसकी प्रेरणा में कभी कमी नहीं होती। इसे हम ग्रहण करें या न करें, यह हमारी ग्रहणशक्ति पर निर्भर है। परंतु पुरातनकाल से चली आई हुई अपनी दिव्य ज्ञानधारा को वह किसी के लिए भी कम या खंडित नहीं करता। कुछ लोगों ने कहा कि ध्वज तो बोलता नहीं। तो किस की ओर देखा जाए? विचार करने पर अभी-अभी तक हमने जिनका शब्द सुना, जिनके व्यवहार देखे, चलना देखा, हंसना देखा, जिनके अंतःकरण के भिन्न-भिन्न भाव देखे, जिनका जीवन हमारे सामने एक पट के समान नाचता रहा और आज भी आंखों के सामने है, आज भी नाचता-बोलता है, उनके ही अंग-प्रत्यंग का विचार करें। उन्होंने अपने को बता दिया कि संघकार्य जी-जान से जो करने के लिए प्रवृत्त होगा, उसे उनके जैसा रहना होगा। यह तो सबको मालूम है कि जीवन में पैसा मिलाना आदि जो सामान्य बातें होती हैं वे उनके मन में आई ही नहीं होंगी, ऐसी बात नहीं। लोगों ने भी उनसे अवश्य ही अपेक्षाएँ की थीं कि घर में यह अकेला पढा लिखा है, डॉक्टरी पास है। उस समय डॉक्टर बनना धन्य माना जाता था। अतः कुछ न कुछ कमाएगा, कुटुंब के अच्छे दिन आ जाएंगे। यदि यह अपेक्षा रखी गई तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। साथ ही आसपास के लडकीवालों ने भी सोचा होगा कि यह अच्छा पुरुष है, नीतिवान व बुद्धिवान है। एक कौडी पास न होते हुए भी किसी से बिना भीख मांगे स्वाभिमान से जीवन व्यतीत करके विद्यार्जन किया। ऐसा पराक्रमी पुरुष अपनी लडकी के लिए बहुत अच्छा रहेगा। उनके सामने इस प्रकार के अनेकों सुझाव आए होंगे। उनका तो मुझे पता नहीं। किंतु एक बात स्मरण है कि उनके चाचा ने जब इन बातों का उल्लेख किया, तो उन्होंने पहले तो बात बिल्कुल ही टाल दी। दूसरी बार भी अपने बडे भाई पर, जो एक वेदनिष्ठ ब्राह्मण थे, टाल दी कि उनके विवाह के पहले वे शादी नहीं करेंगे और उनका विवाह हो जाने के बाद चाचा को पत्र लिख दिया कि मेरा जीवन ऐसा ही है कि शादी कर के दूसरे की लडकी को कष्ट देना ठीक नहीं और उसको सुख में रखने के लिए अपने इस कार्य को छोडकर धन कमाना मेरे लिए संभव नहीं। इस प्रकार विवाह कर के जैसा अनेकों का होता है कि शादी होते ही सब कुछ समाप्त, वैसा उन्होंने स्वीकार नहीं किया। यह बात नहीं कि उनको विवाह की इच्छा ही नहीं हुई होगी, परंतु अपने विवेक के आधार पर अपने ध्येय के अनुरूप जीवन उन्होंने ग्रहण किया। एक बार जैसा जीवन ग्रहण किया वैसा ही अंत तक चलाने का निश्चय किया। अपनी ही इच्छा से यह दरिद्रता का जीवन उन्होंने ग्रहण किया। वैसा उदात्त उदाहरण अपने सामने रखकर जो कुछ निर्णय करना है वह हम करें। वह करके तदनुसार जीवन बनाने के लिए हम आगे बढें। इसका भी निश्चय अपने-अपने व्यक्तिगत जीवन में योग्य रूप से कर लें। वह उदाहरण हमारे सामने होने के कारण मुझे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। जीवन में कार्य की एकाग्रता लेकर चलने की आवश्यकता है।

व्यक्तिगत रुचि-अरुचि को स्थान नहीं

संघ का विचित्र स्वरूप है। इस स्वरूप में कोई छोटा, कोई बड़ा नहीं। कभी कोई बड़ा तो कभी कोई छोटा होता है। विचार उठता है कि मैं कौनसा काम करूं? मुझे अमुक काम में रुचि है, अमुक में नहीं। यह विचार करने में कोई आपत्ति नहीं। पूर्व काल में डॉक्टरसाहब के सामने भी लोग कहा करते थे, 'मुझे अमुक काम में रुचि है,' 'मैं इतना ही करूंगा।' आदि-आदि। तो डॉक्टरसाहब कहते थे कि 'जितना कर सकते हो, जो कर सकते हो, वैसा ही करो। धीरे-धीरे ठीक हो जाओगे।' इस प्रकार वे उसके स्वभाव पर बलात्कार नहीं करते थे। और प्रत्येक से उसकी रुचि एवं शक्ति के अनुसार कार्य लेते थे। धीरे-धीरे उनको संगठन के लिए उपकारक बनाने का प्रयास करते थे। परंतु इतना होने के बाद भी उन्होंने स्वयं अपने जीवन से एक आदर्श सेवक सबके सामने उपस्थित किया और सिद्ध किया कि एक बार कार्य को जीवन देने के पश्चात् अपनी रुचि-अरुचि, इच्छा-अनिच्छा का कोई स्थान नहीं। अपने द्वारा होनेवाले समस्त कार्यों का श्रेय अपनी प्रतिभा को न देकर संगठन को ही देना चाहिए। यदि किसी मनुष्य को एकाध अधिकार दिया तो संगठन की इच्छा के अनुसार उसे करना चाहिए और यही भाव मन में लेकर चलना चाहिए कि यदि मेरी पात्रता कम हुई तो भी वह तुम्हारा ही दोष और यदि न हुई तो उससे तुम्हारा ही यश, मेरा कुछ भी नहीं।

यदि हम ने कहा कि हम संगठन के अंग हैं, हम उसका अनुशासन मानते हैं तो फिर 'सिलेक्टीवनेस' (चुनना) को जीवन में कोई स्थान न हो। जो कहा, वही करना। कबड्डी कहा, तो कबड्डी; बैठक कहा, तो बैठक। संगठन को ही अपनी संपूर्ण प्रतिभा एवं स्वतंत्र प्रतिभा का यश प्रदान करना। उस सब का संगठन के लिए अधिकाधिक उपयोग करते हुए भी व्यक्तिगत जीवन में निर्वाह के संबंध में कुछ चिंता नहीं करना। अपने स्थान का दायित्व स्वयं पर न लेते हुए संगठन के कार्यकर्ताओं पर ही छोड़ देना चाहिए। उसी का अपने को लाभ होगा। हम स्वयं विचार करें कि यदि हम अपने जिले के किसी कार्यकर्ता को कहें कि तुम इस स्थल पर शाखा चलाओ और वह कहे कि नहीं, मैं नहीं करूंगा, मैं दूसरे स्थान पर जाता हूं, तो क्या वह ठीक है। आप यही कहेंगे कि यह निर्णय करने का काम मेरा है। अधिक से अधिक इतना ही हो सकता है कि हम अधिकारी के समक्ष अपने स्वभाव एवं दोषों का ब्योरा रख दें। इतना होने पर भी वह जहां रखेगा, वहां रहेंगे। मन को यह शिक्षा देना अत्यंत आवश्यक है। जैसे अपने कुछ मित्रों से कहा कि राजनीति में जाकर काम करो, तो उसका अर्थ यह नहीं कि उन्हें इसके लिए बड़ी रुचि या प्रेरणा है। वे राजनीतिक कार्य के लिए इस प्रकार नहीं तड़पते, जैसे बिना पानी के मछली। यदि उन्हें राजनीति से वापिस आने को कहा, तो भी उसमें कोई आपत्ति नहीं। अपने विवेक की कोई जरूरत नहीं। जो काम सौंपा गया उसकी योग्यता प्राप्त करेंगे ऐसा निश्चय करके वे लोग चलते हैं।

हुआ है। जैसे उस बार हम लोगों ने अपने अंतःकरणों में अपने कार्य के प्रति विश्वास उत्पन्न किया था कि कोई बात नहीं दिन-रात कार्य में रत रहकर हम इसे बढाएंगे। उसके बाद सवा वर्ष के अंदर डॉक्टरसाहब का देहांत हो जाने पर भी एकाग्र चित होकर हम ने अपने कार्य को आगे बढाया। यदि चारों ओर की परिस्थिति के कारण अपने मन में कुछ संदेश उत्पन्न हो गए हों, तो हम निश्चय करें कि हमारे अंदर किसी प्रकार की त्रुटि नहीं आएगी और हम अपनी समस्त शक्ति के साथ अपनी एडी रगडकर दिन रात एक करके अपने-अपने क्षेत्र के संघकार्य को इतना प्रसृत करेंगे कि उसके वातावरण से कोई भी अस्पृश्य न रहे। यद्यपि सब लोग संघ में नहीं आते, परंतु फिर भी कुछ प्रभाव में रहते हैं, कुछ सहानुभूति रखते हैं, कुछ प्रभावित होकर विरोध करते हैं, इस प्रकार अपने कार्य से संबंधित हो जाते हैं। इस प्रकार के प्रसार का हम निश्चय करें, जिससे इतना सामर्थ्य उत्पन्न हो कि अपने इंगित से ही देश के भिन्न-भिन्न क्षेत्र चल सकेंगे और देश की तरक्की तथा भलाई हो सकेगी। देश में सब प्रकार की अनास्था एवं अव्यवस्था उत्पन्न करने की अथवा देश पर संकट लाने की क्षमता रखनेवालों के हृदय पर सदा के लिए आतंक छा जाए और वे उससे निवृत्त हो जाएं, ऐसी परिस्थिति हमें उत्पन्न करनी है। यही अपने लिए करणीय है, ऐसा मैं सोचता हूं।

भगवान पर भरोसा करें

मेरा बडे-बडे विषयों से तो कुछ संबंध नहीं, मेरा एक ही सीदा-साधा आधार है, जिसकी ओर मैं अंगुलिनिर्देश करता हूं। उसी का आज भी स्मरण दिलाता हूं कि जिस प्रकार डॉक्टरसाहब ने एक ध्येय को सामने रखकर, दिनरात उग्र तपस्या कर शुद्ध जीवन अपने सामने रखा, वैसे ही एकाग्रचित होकर हम उग्र तपस्या को लेकर जाएं। जब कभी कोई कार्यकर्ता यह विचार करता है कि मेरे जीवन का क्या होगा, कुछ रुपया कमाना चाहिए, तो मुझे लगता है, क्या हो गया। क्या भगवान पर कोई विश्वास नहीं रहा? हम क्यों इतनी चिंता करें? जिसने हमें उत्पन्न किया है वह क्या खाने को नहीं देगा? मैं तो यही विश्वास लेकर चलता हूं। एक बार बचपन में भी मेरे बारे में हमारे यहां की एक बूढी से लोगों ने शिकायत की कि वह कुछ नहीं करता। तो उसने उत्तर दिया कि इसने पूर्व जन्म में पुण्य किया है, इसलिए इस जन्म में वह बेफिक्र है, भगवान स्वयं चिंता करेगा। तब से मैं तो भगवान पर ही विश्वास रखकर चलता हूं। मिल जाता है तो अच्छा, ना मिले तो अच्छा और भगवान देता भी है। भगवान् इतना अन्यायी नहीं। ऐसा अनुभव मुझे स्वयं एक बार काशी से नागपुर आते समय आया जब मैं दो दिन से भूखा था। अनायास ही एक व्यक्ति ने आकर भोजन भी कराया व टिकिट की व्यवस्था की। यद्यपि उसने नागपुर का पता लिखाया परंतु बहुत खोजने पर भी आज तक उसे न पा सका। तो क्यों हम भगवान् पर अविश्वास करें। हमने तो कंटक पथ पर पैर बढाए हैं। तो वे कंटक क्या कालीनों में जडे गए हैं? बनावटी कंटक नहीं, तो

वास्तविक हैं। हम उन्हें अपनी एडी से कुचल कर दूसरों का रास्ता सुगम करेंगे। बहुत स्वल्पकाल में संपूर्ण भारतीय जीवन में अपना प्रभाव जगाकर उसके जीवन में आनेवाले समस्त दुःखों को कुचल कर वैभवसंपन्नता का, श्रेष्ठता का जीवन निर्माण करेंगे इसमें कोई संदेह नहीं।

सिंदी दि. १६–३–५४

स्वयंसेवकों को मार्गदर्शन

युवकों को आवाहन

(दिनांक १ नवंबर सन् १९५० को मैसूर और बंगलोर (कर्नाटक प्रदेश) के महाविद्यालयीन छात्रों के सामने प. पू. श्रीगुरुजी द्वारा व्यक्त किये गए विचार। यह मूल अंग्रेजी प्रतिवृत्त का हिंदी अनुवाद है।)

संगठन पर बल

अपना यहाँ का कार्य कैसा चल रहा है और उसकी कितनी प्रगति हुई है, यह देखने के लिए मैं बंगलोर में आया हूं। केवल संख्या बढना प्रगति नहीं है। अपने संघ-विषयक आकलन में वृद्धि होना तथा पूर्ण विश्वास के साथ यह कार्य करने का अपना निश्चय अधिक दृढ होना प्रगति का अर्थ है। केवल शाखा के कार्य पर ही मेरा ध्यान केंद्रित रहने का एक विशेष कारण है और उसे हर एक को समझ लेना चाहिए। विगत लगभग तीन वर्षों में कुछ काल तक, संघ पर प्रतिबंध लगने से, कार्य में रुकावट आयी थी तथा प्रतिबंध हटने के तुरंत बाद सार्वजनिक कार्यक्रमों का तांता लग गया। बंगलोर में भी एक भव्य कार्यक्रम हुआ था। परंतु सार्वजनिक कार्यक्रमों से संगठन का, विशेषतः अपने जैसे संगठन का कार्य खडा नहीं हो सकता। अन्य लोग संगठन का कार्य क्यों नहीं कर सके इसका सीधा कारण यह है कि उन्होंने सार्वजनिक कामों पर अधिक बल दिया। हम लोगों को सफलता मिलने का कारण यह है कि हमने संगठन पर बल दिया है। आज देश की मांग को देखते हुए अपना संगठन-कार्य कम है, फिर भी इस कार्य में हम लोग सफल हुए हैं।

अपमानित जीवन पौरुष को शोभा नहीं देता

सार्वजनिक कार्यक्रमों के प्रति रुचि अपने ठोस संगठन कार्य के लिए बाधक है। अपनी कार्यपद्धति से संगठन करना अपने राष्ट्र को वर्तमान अवनत अवस्था में से वैभव की ओर ले जाने का एकमेव मार्ग है। हम सब अपने देश की शोचनीय अवस्था से भली भांति परिचित हैं। सारे संसार में हमें कहीं प्रतिष्ठा नहीं है। अपने देश के भीतर अनेक विनाशकारी तत्त्व कार्य कर रहे हैं। देश के नेता, जो एशिया का ही नहीं तो समस्त संसार का नेतृत्व करने की गर्जना करते हैं, अपना ही मार्ग ढूंढने में असमर्थ हैं। देश की प्रतिष्ठा बढने की बजाय दिनोंदिन घटती जा रही है। छोटे राष्ट्र भी अपने विशाल सार्वभौम, ऐहिकवादी, और जनतंत्रवादी भारत का अपमान करते हैं। श्रीलंका जैसे छोटे-छोटे देश भी अपना कदम-कदम पर अनादर और अपमान करते हैं। यह अपमानजनक है। अपने देश का तथाकथित बडप्पन और प्रतिष्ठा निरर्थक है। जिन्हें अपने धर्म के अनुसार अपने जीवन को गढना है, उन्हें एक के बाद एक अपमान के घूंट पीते रहना लांच्छनास्पद है। अपने शास्त्रों के अनुसार, जो नित्य अपमान सहन करते रहते हैं वे न तो पुरुष हैं न स्त्री–

एतावानेव पुरुषो यदमर्षी यदक्षमी
क्षमावान् निरमर्षश्च न स्त्री न पुनः पुमान् ॥

हम मनुष्य हैं अतः एक के बाद एक अपमान सहते जाना अपने पौरुष को शोभा नहीं देता।

राष्ट्र-निष्ठा का अभाव

अपने देश की स्थिति का एक दूसरा पहलू भी विचारणीय है। विश्व के इतिहास की कीर्ति बढानेवाले, समाज के पुनरुत्थान, वैभव-संपन्नता, ज्ञान-संपन्नता, विजय की परंपरा और सर्वांगीण उन्नति के कालखंड, अपने इस प्राचीन देश के इतिहास में अनेक बार देखने को मिले हैं। लेकिन एक समय के उस उज्ज्वल इतिहास की पृष्ठभूमि में हमारी वर्तमान स्थिति क्या है? हम नहीं जानते कि अपना एकरस समाज है। अपने पूर्वजों के वंशज कहलाने में भी हमें लज्जा लगती है। कुछ महापुरुष तो इस बात के लिए क्षमा-प्रार्थी हैं कि वे संयोग से हिंदु पैदा हुए। शायद उन्हें इस बात का खेद है कि उनके जन्म ग्रहण करने के पूर्व उन्हें जन्म कहाँ लिया जाए इसका निर्णय करने का अधिकार नहीं था। इस आत्मविस्मरण के साथ ही हम में राष्ट्रीय भावना का भी अभाव है। इसके कारण स्वाभाविक राष्ट्रनिष्ठा की चर्चा नहीं होती। हम में राष्ट्रीय भावना होगी तो ही हम में राष्ट्रनिष्ठा होगी। कुछ कहेंगे कि यह सही नहीं है। लेकिन गहराई से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि सर्वसाधारण जनता का नेतृत्व करनेवाले बुद्धिमान लोगों की असाधारण बुद्धिमत्ता के कारण यह धारणा लुप्त हो गई है कि राष्ट्रभक्ति एक विधायक कल्पना है। परंतु आजकल राष्ट्रनिष्ठा माने अंग्रेजों का विरोध [illegible]

प्रतिक्रियावादी नकारात्मक स्वरूप उसे प्राप्त हुआ है। यह हम विगत पचीस वर्षों से कहते आ रहे हैं। पहले हमें यह बात वाद-विवाद कर समझानी पडती थी, लेकिन आज इसकी आवश्यकता नहीं रही है। क्योंकि हम जो कहते थे उसकी पुष्टि करनेवाला प्रत्यक्ष प्रमाण हाल ही में सामने आया है। किसी भी विषय पर धडाके से भाषण दे सकनेवाले एक उच्चपदस्थ नेता ने कहा– शायद अनवधानता से या किसी आवेग में कहा हो, 'वे समझ नहीं पाते कि राष्ट्र का क्या अर्थ है। जब तक अंग्रेजों की सत्ता यहाँ पर थी तब तक राष्ट्रीयता के आधार पर उनसे लडाई लडना ठीक था। लेकिन अब उनके चले जाने के बाद उस राष्ट्रीयता का क्या अर्थ है?' एक मास पूर्व ही उक्त नेता ने यह बात कही है। हम पिछले पचीस वर्षों से जो कहते आ रहे हैं, उसका यह निःसंदिग्ध प्रमाण है। क्या हम ऐसे व्यक्तियों से राष्ट्रभक्ति और चारित्र्य की आशा कर सकते हैं? राष्ट्रीय भावना का अभाव याने राष्ट्रभक्ति का अभाव, राष्ट्रीय चारित्र्य का अभाव है।

राष्ट्रीय-चारित्र्य का निर्माण करने का कार्य हम कर रहे हैं। लोग कहते हैं कि सामान्यतः चारित्र्य का पतन हो गया है। भ्रष्टाचार, कालाबाजार इत्यादि शब्द प्रत्येक की जिव्हा पर हैं। उसका कारण स्पष्ट है। संपूर्ण समाज एक है और आसेतु-हिमाचल देश एक है ऐसा वे नहीं समझते। जब राष्ट्र का विभाजन हुआ, तब राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के लोगों जैसे दीवानों के सिवाय अन्य किसी को दुःख नहीं हुआ। सभी ने विभाजन को उचित ठहराया। देश का तथाकथित सब से बडा संगठन उस विभाजन को स्थायी मानने को प्रतिबद्ध है। काश्मीर का उदाहरण लें। समाजवादी दल के एक नेता ने अपने एक वक्तव्य में कहा है, 'हम काश्मीर की सुरक्षा के लिए व्यर्थ ही करोडों रुपये और अपनी सैनिकशक्ति बर्बाद कर रहे हैं। हमें वह छोड देना चाहिए।' उनका कहना है कि हमें काश्मीर को छोडकर धन बचाना चाहिए। धन किसलिए बचाना चाहिए? सेना को कहीं अन्य स्थानों पर भेजकर फिर वापिस बुलाने के लिए? अन्य लोग इतने स्पष्टवादी नहीं हैं। लेकिन वे सब इसी भावना से काम करते हैं। कुछ दिन पूर्व एक बडे नेता ने कहा, 'मैं काश्मीरी हूं और भारतीय भी।' इसका अर्थ है काश्मीर भारत का अंग नहीं है और वे उसे छोड देने के लिए तैयार हैं। अपने राष्ट्रजीवन का ज्ञान न रखनेवाले बडे उच्चपदस्थ श्रेष्ठ नेताओं के ये वक्तव्य हैं।

चारित्र्य का अर्थ केवल वह नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति 'दस आज्ञाओं' का पालन करे। राष्ट्रीय चारित्र्य बहुत आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति को निःस्वार्थ बुद्धि से और आत्मसमर्पण की भावना से प्राणों की बाजी लगाकर लोगों की सेवा करने को सिद्ध रहना चाहिए। आज इस प्रकार की आत्मसमर्पण की भावना का अभाव है। अपनी-अपनी समझ के अनुसार जब लोग किसी राष्ट्रसेवा के कार्य में जुटते हैं तो वे उसके बदले में कुछ पाने की इच्छा करते हैं। वे धन या कीर्ति या किसी अखबार में, वह मामूली क्यों न हो, अपना फोटो देखना, अपनी जयजयकार इत्यादि चाहते हैं। कुछ दिन पहले एक सुप्रसिद्ध व्यक्ति एक स्थान पर गए थे। उनकी हमेशा यह इच्छा रहती कि सर्वत्र

जाएंगे वहां उनका भव्य स्वागत हो। वहां जयजयकार करनेवाले लोगों की भीड़ न देख-कर उन्होंने पूछा, 'लोग कहां गए'। सेक्रेटरी ने कहा–'मैं नहीं जानता।' 'देखिये, मेरा स्वागत करने के लिए कोई नहीं आया है, मैं वापस चला जाऊंगा' उन्होंने कहा और वे लौट भी गए। यह स्वार्थ की अभिव्यक्ति का सभ्य तरीका है।

जीवन महान् है। हम उसके व्यक्तिगत और सामाजिक पहलुओं को समझें। बहुत सी जानकारी के रूप में जो शिक्षा दी जाती है, उसे अपने व्यक्तिगत अनुभवों द्वारा ज्ञान में परिवर्तित करना चाहिए। ज्ञान प्राप्ति के दो मार्ग हैं–अपने बारे में भ्रम का निराकरण और इस अभिमान का त्याग कि मैं बुद्धिमान हूं। यह अभिमान अनेक युवकों के पतन का कारण होता है। एक बार उत्तरप्रदेश के एक अच्छे पढे-लिखे और बुद्धिमान तरुण को किसी छोटे से शहर में स्वतंत्र रूप से कुछ सामाजिक कार्य करने की इच्छा हुई। उसे एक छोटे से शहर की एक छोटी सी शाखा का कार्य सौंपा गया। कुछ दिनों तक उपस्थिति बढी परंतु अचानक वह कम हो गई। यह पूछने पर कि ऐसा क्यों हुआ, उसने कहा कि यहां रहनेवाले लोग मनुष्य कहलाने के योग्य नहीं हैं। कितना अहंकार है। अपने कार्य का आधार ही इस महान राष्ट्र की एकता है। प्रत्येक हिंदु,-एक भिखारी भी–हमारे लिए पूजनीय है, हमारे लिए ईश्वर है। उस युवक के उद्‌गार सुनकर मुझे बहुत दुःख हुआ। हम लोग ज्ञानप्राप्ति के नाम पर ढेर सारी बातें इकठ्ठा करते हैं, परंतु हम उसे जितने शीघ्र भूला दें, उतना अच्छा है। इसके स्थान पर यदि हम अपनी बुद्धिमत्ता का उचित दिशा में उपयोग करें और जीवन के महत्त्वपूर्ण विषय के संबंध में ज्ञान-प्राप्ति का प्रयत्न करें तो समाज का हम बहुत भला कर सकेंगे।

व्यक्ति के नाते हम भारत नाम से संबोधित की जानेवाली प्राचीन भूमि में रहते हैं। हमारे प्राचीन ग्रंथों और शास्त्रों में हमें 'भरत' और 'भारत' का उल्लेख मिलता है। इस देश के सभी लोगों को संसार में सुखी बनानेवाले, इस देश को शक्तिशाली और संगठित बनानेवाले और सम्राटपद प्राप्त करनेवाले महान् भरत ने इस भूमि पर उत्कट प्रेम किया था। यह देश भरत की माता भारत कहलाता है और इसलिए भारत हम सब हिंदुओं की माता है और भरत के साथ हमारा भाई का नाता है। अब व्यक्ति के नाते हमारा एक कर्तव्य है। अपनी धारणा के अनुसार इस कर्तव्य का स्वरूप यह है कि समाज, देश और राष्ट्र की सेवा में हम अपना जीवन समर्पित कर दें। इस कर्तव्य को हम उत्कृष्ट रीति से पूर्ण करें। आजकल लोग धन, नाम और कीर्ति के पीछे पड़े हैं, परंतु क्या उनका जीवन आदर्श कहा जा सकता है? हमारा आदर्श है-'कौपीनवंतः खलु भाग्यवंतः' प्रतिफल की इच्छा न रखकर हमें व्यक्तिशः समर्पणभाव से सेवा करनी होगी। तभी हमारा जीवन सार्थक होगा। अन्यथा यदि हम अपना जीवन केवल खाने-पीने में ही व्यतीत करते रहे, तो हममें और पशु में कोई अंतर नहीं रहेगा। 'आहार–निद्रा–भय–मैथुनं च' ये गुण पशु और मनुष्य में समान रूप से हैं, लेकिन मनुष्य पशु के गुणों का त्याग कर जब किसी महान उद्देश्य के लिए प्राणों का

बलिदान कर देता है तब वह सच्चे अर्थ में मनुष्य कहलाता है। सभी तरुण बुद्धिमान होने का दावा करते हैं। अतः उन्हें मातृभूमि की बलिवेदी पर अपने प्राण न्यौछावर करने को सदैव कटिबद्ध रहना चाहिए। सभी राजनैतिक और आर्थिक कार्य भौतिक सुखों की प्राप्ति, वासनाओं की तृप्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। इस तरह का जीवनोद्देश्य कोई बडी बात नहीं है। वही सच्चा मनुष्य है जो अपना जीवन न्यौछावर कर देता है।

हमारा जीवन सामुदायिक है। हम जिस समाज में रहते हैं, उसके बारे में हमें सोचना चाहिये। अपना समाज अतिप्राचीन है और वह इस देश में आदिकाल से रहता आया है। लेकिन अपने समाज के स्वरूप के संबंध में बहुत सी गलत धारणाएं हैं। हम इस प्राचीन देश में रहनेवाले हिंदु हैं। कई बार लोग अपने से पूछते हैं कि हम हिंदु हैं, इस बात पर जोर देने की क्या आवश्यकता है ? यह पूछनेवाले लोग स्वयं को बहुत बुद्धिमान मानते हैं। उनकी दृष्टि से यह संसार गेंद-सा छोटा है। वे एक विश्व और अंतर्राष्ट्रीयता की भाषा बोलते हैं। वे पूछते हैं। अपने को हिंदु कहलाने में क्या तुक है ? केवल मनुष्य क्यों नहीं कहते ? इस पर हमें दो दृष्टियों से विचार करना पडेगा। यह देश 'भारतमाता' है-हमारे बडे भाई भरत की माता, जिसने इस देश को समस्त संसार में सम्मान और वैभव के शिखर पर पहुँचाया। सारा संसार इस सत्य को जानता है और इस देश को 'हिंदुस्थान'-'हिंदुओं की माता'-संबोधित करता है। यदि हम अपने को हिंदु न कहें, तो हम अपनी माता को ही अमान्य करते हैं। क्या यह गौरवास्पद है ? केवल हिंदु ही ईश्वर के समान इस देश की पूजा करते हैं। देश में रहनेवाला अन्य कोई समाज हिंदुओं के समान इस देश की भक्तिपूर्वक पूजा नहीं करता। अतः हम हिंदु शब्द के अर्थ और महत्त्व को ठीक से समझने का प्रयत्न करें। अपनी मातृभूमि के प्रति अपना कर्तव्य पूरा करना है और उसके लिए इस सत्य का ज्ञान और अनुभूति परमावश्यक है कि हम हिंदु हैं।

आज सर्वत्र स्वार्थ का बोलबाला है। राष्ट्र की भक्ति करते हुए यदि स्वार्थ की दृष्टि रखी जाए तो वह राष्ट्रभक्ति नहीं है, अपितु 'स्वभक्ति' है। ऐसा व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत महानता, नाम और कीर्ति के लिए लोकसेवा का उपयोग करता है। यह न राष्ट्र-भक्ति है न राष्ट्रीय चारित्र्य। लेकिन आज यह सर्वत्र दिखाई देता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि सच्ची और ठोस राष्ट्र की कल्पना लोगों के सामने नहीं है।

अनादिकाल से राष्ट्रधारणा से हम परिचित हैं। यह हमारी मातृभूमि है। हम अनुभव करते हैं कि यह जगज्जननी का रूप है। इसलिए हमें यह देश पूज्य है। हम यहां पैदा हुए हैं और हम उसके पुत्र हैं। परंतु कुछ स्वार्थ से प्रेरित विद्वान आज यह कहते हैं कि अंग्रेज यहां आने से पहिले यह कभी भी एक राष्ट्र नहीं था, परंतु विदेशियों के संपर्क में आने के बाद ही राष्ट्र-कल्पना का हम लोगों में उदय हुआ और हमने राष्ट्रभक्ति के प्रथम पाठ उनके चरणों में बैठकर ही सीखे। इसीलिए हमारे देश

के बुद्धिमान लोग कहते हैं कि हम अब राष्ट्र बनाने जा रहे। यह प्रचार दुष्ट हेतु से किया जा रहा है।

ऐसे अपप्रचार से हमें भ्रमित नहीं होना चाहिए। अपने पूर्वजों ने इस भूमि के प्रति इतने निःसंदिग्ध शब्दों में अपनी भक्ति प्रकट की है कि शायद ही संसार में अन्य किसी देश के लोगों ने इतनी उत्कट भक्ति अपने राष्ट्र के प्रति प्रकट की हो। हम इस भूमि पर इतना प्रेम करते हैं कि यहाँ की धूलि का प्रत्येक कण, जल की प्रत्येक बूंद हमें पवित्र है। हमारी मातृभूमि के प्रति एक धारणा और एक निष्ठा होने के कारण हम स्वाभाविक रूप से एक राष्ट्र हैं। इसका परिचय क्या है ? संसार इसे हिंदुस्थान कहता है। और भारत भी कहता है। हमारे आधुनिक नेतागण संविधान के निर्माता 'इंडिया' अर्थात् 'भारत' कहते हैं। इसलिए मैं उनका बहुत आभारी हूं। अन्यथा उन्हें 'इंडिया' जो 'भारत' था कहने से कौन रोक सकता था। अपनी यह भूमि भारत या हिंदुस्थान है, इसकी पहचान क्या है ? मैं लोगों को इसका बहुत सरल स्पष्टीकरण दिया करता हूं—

हम जानते हैं कि अपनी संस्कृति में किसी स्त्री को उसकी संतान के नाम से आदरपूर्वक पुकारने की रीति है। किसी भी स्त्री को अमुक की पत्नी कहकर पुकारने की अंग्रेजी प्रथा है। अंग्रेज किसी स्त्री को पुरुष के नाम से संबोधित करके, उसके पूर्व श्रीमती उपपद लगाते हैं। लेकिन यह हमारी प्रथा नहीं है। हम कहते हैं 'वह रामू की माँ है'। हम हमेशा स्त्री को उसकी संतान, पुत्र अथवा कन्या की माता कहकर संबोधित करते हैं। तदनुसार हमने इसे हिंदुस्थान 'हिंदु की माँ' 'भरत की माँ', भारत कहा है। जब किसी स्त्री को एक से अधिक संतान हो तब हम उसे उसकी बड़ी संतान या उसके संतानों में से जो अधिक विख्यात हो उसके नाम से संबोधित करते हैं। भरत सुप्रसिद्ध थे और इसलिए उसे जन्म देनेवाली यह भूमि भारत कहलाई। इसलिए यह हमारी माता है— हिंदुओं की माता है। परंतु अब इस कल्पना को तिलांजलि दे दी गई है। सांप्रदायिक कहकर उसकी भर्त्सना की जाती है। अब तो सभी राष्ट्रीय बातें सांप्रदायिक हो गई हैं। नेतागण मुसलमानों के त्यौहारों में शामिल हो सकते हैं, लेकिन हिंदुओं के नहीं। उनके मत से हिंदु सांप्रदायिक है और अहिंदु निधर्मी है। हिंदुराष्ट्र की एकात्मता की अनुभूति के अभाव में, राष्ट्रीयता के अग्रणी माने जानेवालों ने उच्च संवैधानिक स्तर पर हमारे देश को अनेक राज्यों में छिन्न-विच्छिन्न कर डाला है। पूर्ववर्ती शासन में जो केवल प्रांत थे, उन्हें अब स्वायत्त राज्यों की प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। जो संपूर्ण शरीर एक सजीव इकाई था, उसके सिर, हाथ धड काट दिए गए हैं और हम से जीवित रहने की अपेक्षा की जाती है। सब से बडा संकट तो अभी आना बाकी है। आज हम भले ही कहें कि वह केवल एक व्यवस्था मात्र है, इससे कुछ बिगडता नहीं है। इस व्यवस्था के समर्थन में अनेक सिद्धांत कहे जाते हैं। हमारी संघ-राज्य की कल्पना अमेरिका से उधार ली हुई है। अपना संपूर्ण संविधान इंग्लैंड, अमेरिका और [illegible] संविधानों की खिचडी है। आत्मनिर्णय का अधिकार, पृथक् होने का अधिकार [illegible]

देश के संविधान में समावेश नहीं है, परंतु जो राजनैतिक दल संविधान बना रहे हैं उनकी यह मूलभूत भूमिका है।) और भाषाई प्रांतरचना के विषैले सिद्धांत से प्रतिबद्धता, इन तीनों बातों का एकत्र विचार करें तो स्पष्ट होगा कि अपना एक राष्ट्र अनेक संघर्षरत राज्यों में विभाजित हो जाएगा। इसके लिए प्रमाणों की कमी नहीं है। बंबई महाराष्ट्र में सम्मीलित हो या गुजरात में, इसके लिए खींचतान हो रही है। काँग्रेस के एक बडे नेता ने कहा कि यदि बंबई महाराष्ट्र में सम्मीलित नहीं हुई तो खून की नदियाँ बहेंगी। वे नहीं समझते कि ऐसा कहकर वे राष्ट्रविरोधी और देशभक्तिविरोधी कार्य कर रहे हैं। जिन्हें उच्च कोटि के नेता कहा जाता है, वे ही विघटन का विष फैला रहे और उसे संविधान की मान्यता से बल मिल रहा है। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए सर्वव्यापी, शक्तिशाली राष्ट्रीय भावना नहीं है।

इस विशाल देश में भिन्न-भिन्न भाषाएं और रीति-रिवाज हैं। भिन्न-भिन्न उपासना पद्धतियों की ओर आदर की दृष्टि से देखने की उदार भावना के कारण कई पंथ और मत निर्माण हुए हैं। इन संप्रदायों में भी कई उपसंप्रदाय भी हैं। इन सारे ऊपरी भेदों के बावजूद एकरस समाज के अंग होने की समान भावना है। लेकिन आज पृथकता की प्रवृत्ति बढ रही है। क्या यह प्रगति है? क्या यह महानता का लक्षण है? देश के बडे-बडे बुद्धिमान, समाज के धुरंधर विद्वान अपने देश का संविधान बनाने के लिए एकत्र आए और ढाई वर्षों की दीर्घ चर्चा के पश्चात् यह अद्भुत संविधान उन्होंने बनाया। यह सब से बडा संविधान है और उनका मत है कि इस संविधान के लिए संसार के अन्य संविधानों की अपेक्षा अधिक कागज, अधिक समय और अधिक धन लगा। इन सबका क्या फल है? वास्तव में संविधान अपने देशहित की सुरक्षा के लिए होता है। परंतु एक ओर एक राज्य, एक देश और एक राष्ट्र की गर्जना तो की गई, दूसरी ओर विदेशी राजत्व में जो प्रांत थे उन्हें राज्यों की प्रतिष्ठा दी गई। आज भाषाई अथवा आर्थिक आधार पर समूह बनाने के सिद्धांत का प्रचार किया जाता है। केंद्र सरकार सुरक्षा और आर्थिक दृढता के संरक्षण के लिए संलग्न विभिन्न राज्यों का एक संघराज्य है। हम इस समूचे राष्ट्र को एक परिवार मानते आए हैं। वैविध्य होने पर भी, हमने अनुभव किया है कि काश्मीर से कन्याकुमारी तक रहनेवाला समाज एक परिवार सा है। मैं अपने किसी भी देशवासी में स्वयं को पाता हूं और उसे मुझमें पाता हूं। मैं उसके दुःख से दुःखी और उसके सुख से सुखी होता हूं। सच यह है कि हम सब एक हैं, लेकिन हमें बताया जाता है कि इस प्रकार की पारिवारिक भावना को छोड देना चाहिए और उस लिमिटेड कंपनी के साझेदारों के समान एक दूसरे से व्यवहार करना चाहिए, जिसके केंद्र सरकार बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स हैं और जिसका काम आर्थिक प्रगति तथा सुरक्षा की देख-भाल करना है। यह आजकल आदर्श हमारे सामने रखा जाता है। हमारे नेताओं की महानता और देशभक्ति के बावजूद यह कहना पडेगा कि, उन्हें देश की एकता और अखंडता का अनुभव नहीं होता। वे विभिन्नता की दृष्टि से [illegible]

हैं और ऐसा व्यवहार करते हैं जिससे राष्ट्र का मुख्य आधार ही छिन्न-विच्छिन्न हो जाता है। कुछ दिनों पूर्व अपने रा. स्व. संघ ने बंगाल के अपने अभागे भाईयों की सहायता का कार्य प्रारंभ किया था। इस सहायता-कार्य में मदद और सहयोग देने के लिए संपूर्ण देश को आवाहन किया गया था जिससे कि दुःखी लोगों को तुरंत मदत पहुंचाई जा सके। अर्थात् हम जानते थे कि वह कार्य स्थायी रूप से नहीं किया जा सकता, लेकिन सरकार इस संबंध में जब तक कुछ व्यवस्था नहीं कर पाती, तब तक अस्थाई तौर पर सहायता-कार्य करना आवश्यक था? अपने इस कार्य के बारे में इन नेताओं का अभिप्राय क्या था? यह एक मानवीय कार्य था, फिर भी यह सत्य है कि जब हमारे कार्यकर्ता कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियों के पास गए, तब उन्होंने कहा, यदि एक बंगाली मर जाता है, तो उससे हमारा क्या नाता? उन्हें मरने दो। कुछ दिनों पूर्व सिंध से आए कुछ अभागे लोगों का एक प्रतिनिधिमंडल एक सरकारी अधिकारी से मिला और उसने उनसे तुरंत मदद दिए जाने के संबंध में चर्चा की। बंबई के एक जाने-माने देशभक्त ने उनके दुःख के प्रति कोई सहानुभूति नहीं दिखाई, अपितु कहा कि वे उनके पिछले पापों का फल भोग रहे हैं।

इसका अर्थ है कि उन्हें देश की एकात्मता का ज्ञान ही नहीं है। इन परिस्थितियों में हमें उस एक बात की खोज करनी है, जिसके कारण युगों-युगों तक इस देश की एकात्मता अबाधित रही। यह कहना कि अंग्रेजों के आने के बाद से ही इस देश की एकात्मता की अनुभूति हुई, सरासर झूठ है। प्राचीनकाल से यह देश एकात्म रहा है। धार्मिक मतमतांतरों के बाद भी प्रत्येक हिंदु के पवित्र तीर्थस्थल इस देश में हिमालय से कन्याकुमारी तक हैं। हम जानते हैं कि शंकराचार्य ने, जो दक्षिण के थे, काश्मीर में अपने मठ की स्थापना की थी। उन्हें काश्मीर के प्रति अपनत्व क्यों अनुभव हुआ? इसलिए कि यह देश एक है। वह क्या तत्त्व था जिसके कारण हमारे देश की एकात्मता युगों-युगों तक बनी रही और हमें उसकी अनुभूति होती रही। कोई व्यक्ति किसी भी पंथ, संप्रदाय या धर्म का हो, अंत में उसे कहना पडता है कि वह हिंदु है। यह भावना कि, हम हिंदु हैं, एक ऐसा सूत्र है जिससे वह एकात्मता निर्माण हुई और यही भावना हमारे देश की एकात्मता को बनाए रख सकती है। इसीलिए हम जोर देकर कहते हैं 'हम हिंदु हैं'। हम चाहते हैं कि हिंदुओं के इस महान देश में, लोग लकडी काटनेवाले और पानी भरनेवाले न रहें। हिंदु यहां स्वामी के नाते रहेंगे। हम इस भूमि को अन्य देशों के लिए चरागाह नहीं बनने देंगे। हम इस भूमि को महान बनाना चाहते हैं। अपनी आकांक्षा है कि यह महान समाज द्वितीय और तृतीय श्रेणी का बनने के बजाय संसार में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त करे। कोई भी राष्ट्र समाज की सुसंगठित शक्ति के बल पर महान बनता है इस विचार से प्रेरित होकर कार्य करना है। दूसरों को उपदेश देने के पहले, हम स्वयं शिक्षा ग्रहण करें। हमारे परमपूजनीय संघ संस्थापक ने स्वयं पहले कार्य कर अपना आदर्श उदाहरण सामने रखा है। उन्होंने संगठन का कार्य प्रारंभ किया और उसके लिए आजीवन कार्य किया। हमें उनके पदचिन्हों पर [illegible]

कर रहे हैं । हम केवल बडी-बडी बातें न करें और न ही दूसरों को कालाबाजार और सफेदबाजार के लिए कोसते रहें । हम कार्य करें और अपने श्रेष्ठ समाज को दृढ नींव पर संगठित करने का प्रयत्न करें । अपने संगठन का कार्य करने और राष्ट्र को सामर्थ्यशाली बनाने के लिए स्वयंसेवक के नाते हम आदर्श कार्य करें । व्यक्तिगत और राष्ट्रीय हित में संघर्ष हो, तो अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की अपेक्षा राष्ट्रीय हित को अधिक महत्त्व देना, राष्ट्र की उन्नति के लिए अपने जीवन की बली चढाने के लिए सिद्ध रहना इस प्रकार के राष्ट्रीय चारित्र्य से प्रत्येक व्यक्ति ओतप्रोत होना चाहिए । इसी आधार पर हम अपना स्वार्थत्यागी लोगों का संगठन निर्माण करें । शुद्ध व्यक्तिगत और अजेय राष्ट्रीय चारित्र्य से युक्त व्यक्ति शक्तिशाली, अनुशासित संगठन के अंग बनकर एक ऐसा आदर्श सामर्थ्य निर्माण करेंगे जिसकी नींव पर राष्ट्र का अभ्युदय होगा । यह राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का कार्य है ।

हिंदु राष्ट्र की रचनात्मक भावना अर्थात भारतीय राष्ट्र याने हिंदु राष्ट्र ही केवल अपने देश को आसन्न आपत्ति से बचा सकती है । यह कहने में कोई भय नहीं होना चाहिए कि यह हिंदु राष्ट्र है । हिंदु राष्ट्र की ज्योति प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में प्रज्वलित रहनी चाहिए । इस आधार पर सूत्रबद्ध और सुसंगठित राष्ट्रीय जीवन का निर्माण करना हमारा प्रथम कर्तव्य है । प्रत्येक के हृदय में राष्ट्रीय भावना का पुनर्जागरण कर, उन्हें सुसंगठित करना, अपने हर श्वासोच्छ्वास के साथ उस कार्य को बढाना तथा उस जागृति में से शुद्ध राष्ट्रीय जीवन का निर्माण करना ही हमारा कार्य है और हम इसके लिए कटिबद्ध हैं । हम प्रतिदिन अपनी प्रार्थना में कहते हैं कि हमारा मार्ग 'कंटकाकीर्ण' है । हम उसे ठीक से समझें और कार्य के लिए कटिबद्ध रहें । हम यदि कमर कसकर तैयार न हुए तो दूसरे हमें कमर से इतना जकड डालेंगे कि हमारे शरीर के दो टुकडे हो जाएंगे । आप लोगों में तारुण्य, बुद्धिमत्ता और उत्साह का संयोग हुआ है और तारुण्य और प्रेरणा दोनों का संयोग बडे सौभाग्य की बात है ।

हम लोग देश पर प्रेम करते हैं । एक सज्जन ने एक बार एक लेख लिखा था कि आर. एस. एस. के लोग सिरफिरे देशभक्त हैं। ऐसा लगता है कि उक्त सज्जन को देशभक्ति असहनीय है । मुझे कोई आश्चर्य नहीं हुआ। क्योंकि जब वे देशसेवा कर रहे थे तब उन्होंने अपना 'करियर' भी बना लिया । जहां तक भक्ति का प्रश्न है उसमें वर्गीकरण नहीं है । भक्ति का अर्थ 'विभक्ति' नहीं है । जहां विभक्ति है वहां भक्ति नहीं । आत्मसमर्पण और किसी भी परिस्थिति में अडिग निष्ठा भक्ति है । वही सच्ची भक्ति है । कुछ लोग यह बर्दाश्त नहीं कर पाते । उन्हें थोडी सी उष्ण, कुनकुनी और फिर ठंडी पडनेवाली भक्ति चाहिए । जो भक्ति का सिद्धांत भलीभांति जानते हैं और जो साहस से भक्ति करते है, वे 'सिरफिरे' जैसे निरर्थक शब्दों से विचलित नहीं होते । हम उसी प्रकार की देशभक्ति निर्माण कर रहे हैं । हमें देशभक्ति की ज्योति जागृत रखना है । संघ का मार्ग हमारे सामने है जो अपने सौभाग्य से आपके संपर्क में [illegible]

निर्माण कर दिया है। हम एक हैं और हम एक राष्ट्र के रूप में खडे हैं। काश्मीर से कन्याकुमारी तक अपना यह हिंदु-राष्ट्र है, यह श्रेष्ठ भावना जागृत हुई है और हम अपने महान् राष्ट्र की एकात्मता का साक्षात्कार करने में सफल हुए हैं।

हम अपनी संपूर्ण शक्ति से यह ज्योति जगाएं, उसे देशव्यापी, प्रखर बनाएं। उस प्रकाश में संपूर्ण अज्ञानांधकार लुप्त हो जाएगा। वह प्रकाश दुनिया की समस्त आसुरी शक्तियों को चुनौती देगा, दृढ नींव पर अजेय खडा रहेगा और संपूर्ण दुनिया को सिद्ध कर देगा कि हम इस श्रेष्ठ राष्ट्र के सुपुत्र हैं। केवल इसी मार्ग से हम सफल हो सकते हैं। इसके सिवाय दूसरा कोई मार्ग नहीं है। अन्य संस्थाएं अपने-अपने ढंग से कार्य कर रही है। उन्होंने हमें चुनौती भी देने का प्रयास किया। हमने उसकी ओर दुर्लक्ष किया। वह हमारी प्रतिष्ठा के विरुद्ध है। फिर भी उन्होंने चुनौती देने का सोचा। एक बार किसी एक प्रांत के जिले के स्वयंसेवकों की ' रैली ' देखने के पश्चात् (जहां मैं गया था व जिसमें बडी संख्या में लोगों ने भाग लिया था) एक संस्था ने हमें मात देने और लोगों को प्रभावित करने के उद्देश्य से हम से भी बडी ' रैली ' लेने की चेष्टा की। सरकारी मदद और सभी उपलब्ध साधनों से वे इस कार्य में जुटे। उन्होंने अखबारों में छपवाया कि रैली में जानेवालों को मुफ्त भोजन मिलेगा और कोई खर्च नहीं पडेगा। हम अपने संघ शिक्षा वर्ग में मुफ्त भोजन नहीं देते। उन्होंने घोषणा की कि चाहे जितने लोग आएँ उन्हें भोजन दिया जाएगा, रेलभाडा, अन्य खर्च तथा जेब खर्च भी दिया जाएगा। टिप्पणी में लिखा था कि तीन दिनों के कार्यक्रम में तीसरे दिन बूंदी के लड्डू की दावत दी जाएगी। लोग बडी संख्या में आए और सब की एक कमरे में व्यवस्था की गई। जब श्रेष्ठ मंत्री ने, जिन्हें रैली के लिए आमंत्रित किया गया था, सब को एक छोटे से कमरे में देखा, तो पूछा-यह सब क्या है ? आयोजकों ने कहा—क्या किया जाए ? मंत्रीजी ने कहा ' आप नहीं जानते किस तरह व्यवस्था की जाए ? आर. एस. एस. की तरह—व्यवस्था करें। वे यह कैसे कर सकेंगे ? हम ने अपना मार्ग स्वयं बनाया है, जिसके एक तरफ गहरी खाई है और दूसरी ओर सीधी चट्टान। चट्टान से लगी सिर्फ एक पगडंडी है, जिसपर केवल एक ही व्यक्ति एक समय चल सकता है, वहां अन्य लोगों के लिए स्थान नहीं है। यदि वे हमारी तरह संगठन करना चाहते हैं तो उन्हें केवल हमारा अनुसरण करना होगा। यदि वे ऐसा नहीं करते, तो वे सफल भी नहीं हो सकते। हमारे पास यशस्वी कार्यपद्धति है।

लोग हमारी कार्यपद्धति को न समझकर कहते हैं कि वह रहस्यमय है। जब मैं बनारस में था तब एक बार मैंने एक छात्र को एक धार्मिक ग्रंथ खरीद लाने को कहा। विद्यार्थी उसे ले आया लेकिन वह फटा पुराना था। इसलिए मैंने उसे अच्छी प्रति लाने को कहा। उसने वह ग्रंथ कुछ समय के लिए घर पर रखा। परंतु दूसरे दिन वह गायब हो गया। उसने सब किस्सा सुनाया। मैंने कहा-कोई बात नहीं, आप मुझे दूसरी प्रति ला दें। मैं दूसरी प्रति के दाम दे दूंगा। उसने दूसरी प्रति खरीद लायी। परंतु दूसरे

दिन, गायब हुआ ग्रंथ उसी मेज पर पडा मिला। उस विद्यार्थी ने बताया कि एक बंदर उसे ले गया था और कुछ देर बाद उसने लाकर रख दिया। मैं सोचने लगा कि ऐसा क्यों हुआ होगा और मुझे सूझा कि शायद बंदर उसे यह देखने के लिए ले गया हो कि उसके पूर्वजों ने क्या लिख रखा है और उन्होंने कितनी प्रगति की है। लेकिन ग्रंथ को उलट-पलटकर देखने के बाद और कुछ भी समझ में न आने के कारण उसने वह ग्रंथ पुनः वापिस ला कर रख दिया। शायद यह समझ कर कि मनुष्य के सभी व्यवहार बडे रहस्यमय हैं।

तात्पर्य, लोग हमारी कार्य-पद्धति इसलिए नहीं समझ पाते क्योंकि उसके लिए हिम्मत, भूखे पेट रहने की सिद्धता, निःस्वार्थ भावना और निष्ठा आवश्यक है। जिस महाशय ने स्वयंसेवकों की देशभक्ति की आलोचना की उसे अपनी प्रखर देशभक्ति देखकर पसीना छूटा होगा। अपने देश में आज प्रखर देशभक्ति की आवश्यकता है, केवल कुछ लोगों में नहीं, सभी लोगों में। इसलिए हम अपनी पद्धति से लोगों को संगठित करते हैं, जिससे राष्ट्र एकात्म और एकहृदय होता है। ऐसा सजीव व्यक्तित्व का राष्ट्र प्रचंड शक्तिसंपन्न होता है।

इस कार्य को करने का निश्चय करो, लोगों के पास जाओ, उनसे संपर्क स्थापित करो और ऐसा दृढ संगठन बनाओ जो किसी भी परिस्थिति में भी अडिग रहे। कंधे से कंधा लगाकर काम करो। आगे बढो, बढते रहो। समय व्यर्थ नष्ट न करो। व्यक्ति व्यक्ति को सुसंगठित करो और संगठन से राष्ट्रनिर्माण करो। आप में युवकोचित उत्साह, साहसवृत्ति, संकटों से लडने और सफलता प्राप्त करने की शक्ति है। बढते जाओ, भविष्य उज्ज्वल है।

(दि. ९-११-१९५०)

हम करें शक्ति का संचय

(बंबई शाखा के मकरसंक्रमण महोत्सव पर प. पू. श्रीगुरुजी द्वारा दिया गया भाषण। यह कार्यक्रम बंबई के उपनगर नायगांव में पुरंदरे स्टेडियम पर दि. १४ जनवरी सन् १९५१ को हुआ था। — संपादक)

इस बंबई नगर में मकरसंक्रमण के पवित्र पर्व के उपलक्ष में उपस्थित रहने का अवसर मुझे ग्यारह वर्ष के उपरांत मिला है। इस ग्यारह वर्ष के कालखंड में अपने रा. स्व. संघ के जीवन में सुख-दुःख आदि के अनेकविध अनुभव हमने पाए हैं। जब दुःख का अनुभव होता है तब अनेक बार जिस कारण से दुःख मिला या वह जहां से उत्पन्न हुआ, उसके प्रति भी किसी-न-किसी प्रकार की भावना, जो विशेष रूप से अच्छी नहीं होती, उत्पन्न होती है। सुखदाता को तो मनुष्य जल्दी भूल जाता है, परंतु

कष्ट के अनुभव के परिणाम मनुष्य के मन के अंदर बहुत समय तक रहते हैं। ऐसी स्थिति में विवेकशील व्यक्ति इन विचारों को सब प्रकार से हेय मानकर, उस लक्ष्य के अनुरूप अपने अंतःकरण को रखने के लिए विचार करने को बाध्य होता है, जिस लक्ष्य के लिए हमने कटिबद्ध होकर चलना स्वीकार किया है। अपना लक्ष्य हमें मालूम है। अनेक पंथ, अनेक जाति, अनेक भाषा इत्यादि बहुत ही बडी विविधता से भरे हुए अपने इस हिंदु-समाज को सुसंगठित कर, इस के जीवन में चैतन्य, शक्ति और आत्मविश्वास लाने के लिए हम इस कार्य को करने खडे हुए हैं।

समाज को सुसंगठित कर उसका चैतन्यपूर्ण पुनर्निर्माण करने का अपने मन के अंदर जो उत्साह पैदा हुआ, वह इतिहास की दृष्टि से उचित भी है। आज हम इतिहास पर जरा दृष्टिक्षेप करें तो ऐसा दिखाई देगा कि इस भरतभूमि में अपना यह समाज एक विशिष्ट जीवन को लेकर चल रहा है। इसमें उपासना के अनेकविध मार्ग अपने को दिखाई देते हैं। इन सब मार्गों में समानभूत अति पवित्र सद्गुणों का आवाहन और उन सद्गुनों का अंतःकरण के ऊपर संस्कार कर के जीवन में पवित्रता और शुचिता का एक प्रबल सांस्कृतिक प्रवाह निर्माण करके जीवनलक्ष्य को लेकर चलनेवाले सब व्यक्तियों का ऐहिक जीवन सुखपूर्वक चलता रहे और वे खाने-पीने, परिवार आदि के दैनंदिन के भिन्न-भिन्न प्रकार के दायित्व से मुक्त हो, निश्चिंत होकर चल सकें, इस प्रकार की यह आर्थिक, राजनैतिक हर दृष्टि से एक वैशिष्ट्यपूर्ण समाजरचना है।

लक्ष्यं स्मर !

इस जगत् के जीवन में कोई समाज अकेला नहीं रहता। जगत् के भिन्न-भिन्न प्रकार के मनुष्यसमूहों के स्वार्थ अलग-अलग होने के कारण इन संपर्कों में कभी परस्पर स्नेह और कभी परस्पर विरोध अनिवार्य है। इन स्थितियों में समान रूप से संपूर्ण समाज के लगभग सब व्यक्ति मित्रता या शत्रुता के भाव अपने हृदय में लेकर चलते हैं। इस दशा में समाज अपने सारे हितसंबंधियों को सूत्रबद्ध करके सब सुख-दुःखों का समान रूप से अनुभव करता हुआ चलता है और जब किसी समाज के जीवन का ऐसा चित्र दिखाई देता है तब व्यावहारिक जगत् में उसको राष्ट्रजीवन कहते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर इतिहास से हमें ज्ञात होता है कि इस भारत माता की गोद में अति प्राचीनकाल से समाज का राष्ट्रजीवन चलता आ रहा है। इस राष्ट्रजीवन पर समय-समय पर जो आघात हुए उनमें आघातकर्ताओं को जो कभी सफलता मिली उसके कारण का यदि हम लोग विश्लेषण करने का प्रयत्न करें तो दिखाई देगा कि अपने समाज में सब प्रकार की बुद्धिमत्ता, पौरुष, धैर्य, शौर्य आदि भिन्न-भिन्न गुण एवं अपने राज्य में असीम संपत्ति, अनेक प्रकार के ऐहिक सुखोपभोग और वैभवसंपन्न जीवन होते हुए भी हम लोग यह एक छोटी सी बात भूल गये कि हम सब का मिलकर एक [illegible]

सुदृढ जीवन है। इसलिए चाहे व्यक्तिगत अहंकार के कारण हो अथवा व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण, छोटे-छोटे राज्यों में बंटकर हम लोगों ने अपनी संपूर्ण शक्ति आपस के संघर्ष में खर्च कर डाली और इसी कारण परकीयों के सम्मुख हमें पराजय स्वीकार करनी पड़ी। इतिहास में ऐसा एक भी उदाहरण नहीं दिखाई देता जब परकीय केवल अपने बलपर विजयशाली हुआ हो। अतः इस दृष्टि से विचार करने पर अपना यह राष्ट्रजीवन सब प्रकार से दबा हुआ, अपमानित-सा और संकटों से ग्रस्त तथा इस संकटग्रस्त अवस्था से बाहर निकलने के लिए चिंतातुर दिखाई देता है। इसका कारण यह है कि इसके अंदर सूत्रबद्ध जीवन के फलस्वरूप जो सुदृढ, सुसंगठित सामर्थ्य उत्पन्न होना चाहिए वह नहीं हुआ। पिछले सहस्र वर्षों से इसके अभाव का दुःख हम सब लोगों को भोगना पड रहा है और आज भी वह अभाव सोचनेवालों को दुःख देते हुए सब के सामने विद्यमान है। इन सब बातों को दृष्टिगत रख, अपने राष्ट्र को सब प्रकार से सुखपूर्ण और संकटमुक्त-जीवन का अनुभव कराने एवं उसे जगत् में सम्मान के साथ जीवित रखने के लिए एक अत्यंत सुदृढ, सुसंगठित, शक्तिसंपन्न समाजजीवन बनाना अनिवार्य है और यही लक्ष्य सामने रखकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का जीवनकार्य चलता है। जब तक हम लोग इस लक्ष्य को अपने अंतःकरण में सुदृढता और सुव्यवस्था से धारण नहीं करेंगे तबतक कार्य की निरंतर प्रेरणा अपने को उचित मात्रा में नहीं मिलेगी।

कई बार अनेक बंधुओं से बातचीत करते समय ऐसा सुनने को मिलता है कि विगत पचास वर्षों की राजनीति के कारण लोगों में 'हिंदु' शब्द और हिंदुभाव के प्रति अनास्था, विभिन्न राजनैतिक प्रणालियों के प्रभाव से मुक्त होकर विचार करने की प्रवृत्ति का अभाव एवं यहां के जीवन को किसी पश्चिमी गुट के अनुरूप बनाकर उसकी एक प्रतिकृति के रूप में चलाने की उत्सुकता के कारण अपने कार्य को किसी के सामने रखने में कठिनाई मालूम होती है। परंतु, मेरी दृष्टि से इसका अर्थ यही है कि अपनी अकर्मण्यता, अपनी अक्षमता और अपने अंतःकरण में अपने सिद्धांत के प्रति निष्ठा का कुछ अभाव रहने के कारण और इन सबको अमान्य करने की स्वाभाविक दुर्बलता के फलस्वरूप, मनुष्य अपने ऊपर का भार समाज के ऊपर डालकर इस प्रकार का भ्रम उत्पन्न करता है कि 'मैं तो बहुत अच्छा हूं, पर यह समाज ही बेकार है। वस्तुतः अगर समाज जागृत हो, सुचारु रूप से अपना जीवन चलानेवाला हो, सुदृढ हो, आत्मनिर्भर हो, आत्मविश्वासयुक्त हो, आत्मविस्मृतिमुक्त हो, तब अलग से एक संगठित सूत्र में अपना कार्य खडा करने की आवश्यकता ही क्या है? समाज में अनेक प्रकार के विपरीत भाव फैल चुके हैं, इसीलिए तो उन भावों के परिणाम को दूर कर, शुद्ध अंतःकरण के समाज को खडा कर, उसको सूत्रबद्ध और शक्तिशाली करने का भार समझदार व्यक्तियों ने अपने ऊपर उठाया है और उनके पदचिन्हों के ऊपर चलते हुए हम लोगों ने भी उनकी समझदारी का अपने हृदय में साक्षात्कार करके तदनुसार चलने के

लिए कदम बढाया । अतः हम लोग तो यह मानकर ही चलें कि विचार की, विकार की, अनेक प्रकार की विपरीत धाराएं फैली हुई हैं। फिर इसके बारे में अलग से दोषारोपण करते समय यह विचारणीय है कि क्या ऐसा कर हम थोडी-बहुत आत्म-वंचना नहीं करते ? विचारोपरांत इस निश्चय पर आना ही पडेगा कि अपने अंतःकरण में इस सिद्धांत के प्रति प्रेम और लक्ष्य के प्रति उत्कट श्रद्धा एवं पूर्ण विश्वास के साथ चलना अतीव आवश्यक है । इसके बिना हम कोई कार्य नहीं कर सकते ।

‘ आस्तीन में सांप ’

अब प्रश्न यह आता है कि अपने अंतःकरण में क्या इतना बडा भाव निर्माण करके चलने की कोई आवश्यकता उत्पन्न हुई है ? अतः अगर हम अपने समाज की परिस्थिति पर थोडा सा विचार करें तो दिखाई देगा कि बारह सौ वर्षों पूर्व इस्लाम के नाम से जो एक आक्रमण चल पडा था वह अभी तक विद्यमान है । भले ही बडे कहलानेवाले लोग किसी भ्रम से या भय से आज प्रकट रूप से इस बात को स्वीकार न करें, परंतु मुझे मालूम है कि वे भी इसे हृदय में स्वीकार करते हैं । अपने-आपको, हिंदु-मुसलमान कुछ भी भेद न मानने का पक्षपाती और आजकल की अधार्मिक या निधार्मिक, पता नहीं कौनसा शब्द ठीक है; जैसी प्रणाली का प्रवर्तक बतानेवाले एक बहुत ही श्रेष्ठ पुरुष के साथ बातचीत करने का जब मुझे मौका मिला, तब उन्होंने मुझ से कहा, ‘ आप हिंदु नाम से काम करते हैं, हिंदुराष्ट्र बोलते हैं और हिंदुसंगठन करते हैं । ऐसी दशा में इस देश में रहनेवाला मुसलमान समाज रुष्ट हो जाएगा और अपने देश के पूर्व और पश्चिम दोनों ओर बने शत्रुराज्य की सहायता लेकर अगर उन्होंने क्रोध या रोष में विद्रोह कर दिया तो अपनी स्थिति खराब हो जाएगी ! ’ इसका अर्थ स्पष्ट है कि प्रतिक्षण यह समझकर चलने की आवश्यकता है कि इस प्रकार के जितने समाज अपने देश में विद्यमान हैं, वे किस क्षण शत्रुओं के साथ हाथ मिलाकर यहां के संपूर्ण जीवन को नष्टभ्रष्ट कर देंगे इसका कोई विश्वास नहीं । साथ ही चूंकि वे किसी भी समय अपने ऊपर आघात कर सकते हैं इसीलिए उनको प्रसन्न रखना चाहिए, चाहे तो उनकी खुशामद करनी चाहिये, इत्यादि प्रकार की एक दौर्बल्य से भरी हुई विचारप्रणाली उनको दिखाई देती है । मैंने उनसे कहा, “ आपका यह मुसलमान-प्रेम उसी प्रकार भीति से निर्मित प्रतीत होता है, प्रेम से नहीं, जिस प्रकार गुंडे के मुहल्ले में बसनेवाले उससे बचने के लिए उसे ‘ दादा ’ कह कर पुकारते हैं । ” इसका वे कोई उत्तर न दे सके । उत्तर था भी नहीं । इस प्रकार वस्तुस्थिति यह है कि यह भीति अपने शरीर के, राष्ट्र-शरीर के, देश के इस विशाल क्षेत्र के अंदर घुसी हुई है ।

अतः मैं ऐसा कहता हूं कि बारह सौ वर्षों पूर्व जो आक्रमण चल पडा, वह अभी तक चल रहा है । इसने अपने समाज के कितने ही लोग खाए हैं और अभी-अभी हमारी आंखों के सामने पूर्व-पश्चिम के अंदर बंगाल, सिंध, पंजाब, [illegible]

आदि के इतने बडे क्षेत्र काटकर, हमारी भूमि के अंदर घुसकर अपना अलग स्वतंत्र राज्य प्रस्थापित किया है। अर्थात् यहां पर संपूर्ण परकीय राज्य स्थापित करने की आकांक्षा अभी तक हमें स्पष्ट दिखाई देती है। आसाम, मणिपुर और त्रिपुरा में जो गोलियां चलती हैं और समय-समय पर भारतीय सीमा में घुसकर यहां के कुछ क्षेत्रों पर अधिकार जमा लेने की जो कारवाईयां दिन-प्रतिदिन चल रही हैं, उन सबसे यह बिल्कुल स्पष्ट और सप्रमाण सिद्ध होता है कि वह आक्रमण चल रहा है। अतः उसकी गंभीरता और भीषणता को आंखों से ओझल नहीं होने देना चाहिए।

आमूलाग्र विनाशकारी प्रवृत्ति

इन आक्रमणकारियों के पूर्व भी कुछ आक्रमणकारी आए थे परंतु उनमें और इनमें एक मूलभूत अंतर यह था कि इनकी आकांक्षा केवल राज्य या धन प्राप्त करने की नहीं थी बल्कि इनका एक अपना मत था और उस मत के प्रति अभिमान और यह दृढ विश्वास था कि यही एक सर्वश्रेष्ठ धर्म है, उसके अतिरिक्त अन्य सभी धर्म असत्य और नष्ट करने योग्य हैं। इस कट्टरता को लेकर तलवार द्वारा उस तथाकथित सत्य का प्रसार करने योग्य उसका प्रभुत्व प्रस्थापित करने और उससे भिन्न सारी जीवनप्रणालियों को जडमूल से नष्ट करने के लिए ये प्रयत्नशील रहे। उनकी इस आमूलाग्र विनाशकारी प्रवृत्ति को न समझने के कारण उनके प्रति जैसा व्यवहार होना चाहिए था, वैसा नहीं हुआ। उनकी वह प्रवृत्ति आज भी वैसी ही है और सर्वंकष विनाश की यह प्रवृत्ति तब तक वैसी ही रहेगी जबतक उनके इस तथाकथित धर्म के सिद्धांत में भिन्नधर्मावलंबियों के बारे में असहिष्णुता और उनका विनाश करने में पुण्य की भावना आदि की शिक्षा विद्यमान है।

विभाजन के समय पाकिस्तानी नेताओं और हमारे नेताओं के बीच एक शर्त थी कि उधर हिंदु-अल्पसंख्यक और इधर मुसलमान-अल्पसंख्यक रहेंगे और उनका सब प्रकार से संरक्षण और संवर्धन होगा। अपने यहां के नेताओं ने तो इसका पालन उचित से भी ज्यादा किया परंतु उधर के नेताओं ने उसी समय वचन का भंग किया, जिस समय इधर वचन दिया गया और उधर पंजाब-सिंध में अपने हिंदुबांधवों की क्या दुर्दशा हुई यह बताने की आवश्यकता नहीं। अतः आमूलाग्र विनाशकारी प्रवृत्ति को लेकर बारहसौ वर्षों पूर्व से चलनेवाला यह आक्रमण हमारे समाज के अंदर घुस कर उसे भीतर से खोखला करते हुए पूर्ण उग्रता के साथ विद्यमान है।

नए संकट

इसके उपरांत अपने समाज पर अंग्रेजों का राज्य हुआ। अपने देश के एक प्रसिद्ध इतिहासकार ने उनके राज्य-प्रस्थापन को 'द राइझ ऑफ क्रिश्चन पावर' अर्थात् 'खिस्ती समाज का विकास या वृद्धि' नाम दिया है। इसे हमें भूलना नहीं चाहिए कि कई वनवासी क्षेत्रों में ईसाई प्रचारकों को भेजकर एवं अन्य मतावलंबियों के

वहां प्रवेश-निषेध का कानून बनाकर अंग्रेजी शासन में प्रत्यक्ष रूप से ईसाई मत का प्रचार किया गया। इनके बारे में कोई भले ही कहे कि ये सज्जन मनुष्य हैं और इनका कोई सर्वभक्षक स्वरूप नहीं है, परंतु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि ईसाई मत की एक अलग जीवनप्रणाली है जिसमें एक विशिष्ट प्रकार के सामाजिक नियम, संस्कार के नियम, विशिष्ट गुणसंपदा की मान्यता है। साथ ही वे भी यह मानते हैं कि उससे भिन्न प्रकार की प्रणालियाँ नहीं रहनी चाहिए।

ईसाइयों के द्वारा संचालित पाठशालाओं में लडकियाँ भी पढने जाती हैं। पहले अध्यापिकाएँ लडकियों से कुंकुमतिलक, कंगन आदि हटाने के लिए सख्ती करती थीं, परंतु बाद में इसके विरोध का आभास पाकर चतुराई से ऐसा प्रचार करना शुरू किया कि स्त्रियों को नैसर्गिक रहना चाहिए और कंकण आदि पुरुषों की गुलामी के लक्षण हैं, अतः उन्हें हटा देना चाहिए। इससे लडकियों को धीरे-धीरे संस्कारहीन बनाने में बडी सुविधा हुई। यह प्रश्न नहीं है कि वे इस प्रकार ईसाई मत का प्रचार कर सकेंगे। जैसा कि एक कॉलेज चलानेवाले ईसाई मित्र ने मुझे बताया, वे तो यह सोचते हैं कि इन भावनाओं से हिंदु को अहिंदु बनाकर उसकी राष्ट्रीयता का जडमूल से विनाश किया जा सकता है। अतः हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अपने समाज पर एक धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और उसके साथ-साथ राजनैतिक आक्रमण भी चल रहा है।

राजनैतिक आक्रमण का छोटा सा स्वरूप नागा पहाडियों में देखने को मिलता है। जब यह प्रश्न किया गया कि नागा विद्रोहियों के पास शस्त्र कहां से आए तो यह बताया गया कि १९४४ में जब जापानी हारकर भागने लगे तब शस्त्र वहां के जंगलों में छोड गए, जो नागाओं को मिल गए। पर, बाद में जब एक नागा गुट के साथ हुए संघर्ष के बाद कुछ शस्त्रास्त्र पकडे गए तब उससे पता चला कि वे अमेरिका में बने थे। अखबार में भले यह समाचार आए कि नागा क्षेत्रों में शांति प्रस्थापित हो गई है, या नागाओं का पराभव हो गया है, पर ये समाचार विश्वसनीय नहीं हैं क्योंकि वे दबे नहीं हैं। उनका आवेश तो बढता जा रहा है। अपनी शाखाएं पूरे देश में, जिनमें नागाक्षेत्र भी शामिल है, चलती हैं; उसके कारण अपने कार्यकर्ताओं से जो कुछ समाचार मेरे पास आते हैं वे अत्यंत भीषण हैं। झारखंड की मांग भी है। उसके अतिरिक्त नागा विद्रोहियों का पूर्व-बंगाल के शासन के साथ समझौता होने की संभावना का समाचार मिल रहा है। इन सब को विचार में लेकर कहना पडेगा कि यह संकट तो अंग्रेजी राज्यकाल के संकट से भी अधिक भीषण है।

विषकुंभं पयोमुखम्

एक तीसरा भी संकट अपने देश में है जिसे अभी तक लोगों ने ठीक-ठीक समझा नहीं है। वह संकट है साम्यवाद यानी काम्यूनिज्म का। हम सबको [illegible]

पीना देंगे इत्यादि प्रकार का अत्यंत ही आकर्षक प्रचार अपने को दीखता है। अपने देश में रिक्तोदर लोग काफी संख्या में रहने के कारण उन पर प्रभाव पड़ने की संभावना बहुत अधिक मात्रा में है। इसके अतिरिक्त रूस और चीन में कितना बड़ा विश्वव्यापी साम्राज्यसा दिखाई देता है। अपने देश के अनेक बड़े-बड़े लोग उनकी ओर खिंचे जा रहे हैं। काँग्रेस जैसी देशभक्त कहलानेवाली संस्था भी 'सोशलिस्टिक पॅटर्न' कहते-कहते जीवन में अंतर्बाह्य साम्यवादी रचना उत्पन्न करने को लालायित हो रही है। समाजवादी, प्रजा-समाजवादी आदि भी एक प्रकार से वही बातें करते हैं। हिंदु कहलानेवाले भी हिंदुता और कम्यूनिज्म के मूल विरोध को भूलकर हिंदु-कम्यूनिज्म शब्द का प्रयोग कर हिंदुपन और कम्यूनिज्म दोनों के प्रति अपना घोर अज्ञान प्रकट करते हैं।

अब प्रश्न यह हो सकता है कि उसके आने में हर्ज क्या है? तो उसका यह सिद्धांत है कि कभी शक्ति से, कभी चतुराई से, कुशलता से, या शिक्षाप्रणाली के द्वारा लोगों की बुद्धि में भ्रंश उत्पन्न कर समाजरचना के तत्त्वज्ञान के कम्युनिस्ट सिद्धांत के अतिरिक्त अन्य सारे सिद्धांत का पूर्ण विनाश करना चाहिए। स्टालिन ने हमारे नेताओं से भी बहुत पहले जब सह-अस्तित्व का नारा लगाया तब उस समय उससे यह प्रश्न पूछा गया कि क्या अन्य प्रणालियों से चलनेवाले समाज और कम्युनिस्ट विचारप्रणाली के समाज के साथ सह-अस्तित्व चल सकेगा? उस समय स्टालिन ने स्पष्ट बताया कि "यह हमारी 'डिप्लोमेसी' का भाग है, राजनैतिक चातुर्य है। अपने को पूंजीवादी और जनतांत्रिक कहनेवालों के साथ एकत्रित रहना कदापि संभव नहीं। या तो वे रहेंगे या हम रहेंगे और हमने निश्चय किया है कि उनका विनाश करके हम ही रहेंगे।" स्टालिन के अनुयायी भी यही कहते हैं।

"मुंह में राम बगल में छूरी"

क्रुश्चेव ने सामूहिक नेतृत्व की बातें की, जिससे लोग कहने लगे कि वे जनतंत्रवादी हो गए। परंतु धीरे-धीरे उस 'कलेक्टिव लीडरशिप' के सब 'कलेक्शन' गायब हो गए और वे अकेले ही रह गए। तब लोगों को पता चला कि यह स्तालिन का जरा ज्यादा चतुर अवतार है। चीन के माओ ने भी कहा था कि सौ फूलों को फूलने दो (लेट हंड्रेड फ्लावर्स ब्लूम) परंतु वहां भी ९९ फूल तोडकर वे अकेले ही फूलते रहे। तात्पर्य यह कि वे अपने अंदर जरा-सा मतभेद भी नहीं सह सकते, फिर बाकी लोगों के साथ सह-अस्तित्व कैसे सफल हो सकता है?

इसलिए सोचना पडेगा कि अपने राष्ट्रजीवन में सहस्रों वर्षों से रक्त के मानो बड़े-बड़े प्रवाह बहाते हुए, जीवन का उत्सर्ग करते हुए और कुछ चिरंतन सत्य सिद्धांतों को निष्ठा से अपने हृदय में धारण करके हमने जिस राष्ट्रजीवन की रक्षा की है, उसको जडमूल से नष्ट करने का यह भयंकर आघात क्या अपने लिए संकट नहीं।

टुकडा आगे मिलेगा या नहीं, इसका कोई भरोसा नहीं, फिर भी उस रोटी के टुकड़े के लिए धर्म, संस्कृति और राष्ट्रजीवन का विनाश कितना भयंकर संकट है।

लोग कहते हैं कि जागतिक शांति प्रस्थापित हो जाएगी। वैसे पंचशील भी बोलने के लिए बडा मधुर है। फिर भी उसको समझना चाहिए। रूसी और चीनी नेता आए। बडे-बडे लोगों ने छोटे छोटे बच्चों से भी ' हिंदी रूसी भाई-भाई ', ' हिंदी-चीनी भाई-भाई ' के नारे लगवाए, परंतु इस भाईपन का उन्होंने जवाब यह दिया कि चीन ने काश्मीर के लद्दाख का इलाका एवं अन्य भी कई स्थान अपने मानचित्र में बता दिए और आसाम के कुछ हिस्सों एवं हिमालय पर्वत को लांघकर कैलास एवं मानसरोवर के रास्ते पर अपनी सेना की चौकी बैठा दी जिसका पता हमारे नेताओं को यात्रियों के बताने पर बहुत देर से लगा। इस पर हमारे नेताओं ने ' प्रोटेस्ट ' नामक अपने अमोघ अस्त्र का उपयोग किया पर उसका उत्तर यह मिला कि ' हिंदी-रूसी भाई-भाई ' में के दूसरे भाई रूस ने भी चीन का वही आक्रमणकारी नक्शा प्रकाशित कर यह स्पष्ट कर दिया कि अगर चीन ने इन पर सैनिक आक्रमण किया तो रूस चीन का ही समर्थन करेगा। उस प्रकार यह बिलकुल असंदिग्ध हो चुका है कि हिंदुस्थान के साथ मित्रता का जो आभास है उसकी कौडी भी कीमत नहीं। संसार में शांति और न्याय के लिए राष्ट्रसंघ नाम से भी एक भारी नाटक चलता है। उसने भी क्या किया? काश्मीर की समस्या उसके सामने निर्णय के लिए गई। किंतु न्यायाधीशों के निर्णय के पूर्व अपना मत प्रदर्शित नहीं करने के सर्वसामान्य सिद्धांत की अवहेलना कर विश्व के नक्शे में उसने जम्मू और काश्मीर को पाकिस्तान के अंदर बता दिया। अतः उन्होंने भी यह स्पष्ट कर दिया कि हमारा निर्णय पाकिस्तान के पक्ष में है, हिंदुस्थान के पक्ष में नहीं।

इस प्रकार हिंदुसमाज या हिंदुराष्ट्र की दृष्टि से जगत् में अपनी स्थिति एकाकी है। अपनी अंदर की स्थिति पर भी हमने विचार किया तो देखेंगे कि आपस में एक-दूसरे की बनती नहीं। प्रांत को लेकर सीमाओं के लिए ऐसी लडाई चलती है, मानो फ्रांस और जमनी के बीच सीमा की लडाई चलती हो। एक-दूसरे को शत्रु मानने की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है। स्त्रियों से मर्यादाहीन व्यवहार करने जैसी महाभीषण और अधःपतनकारी दुष्प्रवृति भी देखने को मिलने लगी है। भाषा के नाम पर भी विवाद चल रहा है। इससे न तो मराठी-भाषी छूटा है, न गुजराती-भाषी, न बिहारी, न बंगाली और न उडिया। इस प्रकार एक सार्वत्रिक अवनति और विच्छेद की भीषण विनाशकारी आत्मघात की प्रवृत्ति हमें दिखाई पडती है। जाति-जाति के बीच संघर्ष, पंथ-पंथ के बीच संघर्ष, राजनैतिक दलों के बीच संघर्ष इत्यादि सब प्रकार के संघर्षों का यह चित्र बना हुआ है।

इतिहास से सबक लें

इतिहास बताता है कि आपस के संघर्ष के कारण दुर्बल होकर अपनी [illegible]

में संपूर्ण शक्ति नष्ट कर देने के कारण ही अपने ऊपर परकीय आक्रमण आए। आज फिर आपस की लड़ाई चल रही है और परकीय आक्रमण वास्तविक रीति से आसाम की सीमा के ऊपर चारों ओर से घुसकर मानों अपने देश को संपूर्ण ग्रास करने की उत्सुकता लेकर चल रहा है। और अगर हम ऐसे ही रहे तो वे जीत भी जाएँगे। हम इधर-उधर के भिन्न-भिन्न ऐश-आराम और शौक की बातों में, अपने पैसे और समय के साथ अपने अंतःकरण की सद्भावनाएँ नष्ट करते हुए जीवन बिताते हैं। क्या २४ घंटे में एक क्षण के लिए भी हमारे हृदय में यह वेदना उत्पन्न होती है कि मैं तो इधर चैनबाजी कर रहा हूं और उधर मेरा राष्ट्रजीवन अंतिम सांस लेता दिखाई दे रहा है? क्या हम ऐसा सोचते हैं कि आंखों से राष्ट्र का यच्चयावत जड़मूल से विनाश होते देखकर अगर हममें चेतना उत्पन्न नहीं होती तो हमारा जीवन व्यर्थ है? क्या हम कभी यह विचार करते हैं कि राम से लेकर शिवाजी तक की विजयपरंपरा एवं वैदिक लोगों से लेकर स्वामी विवेकानंद तक की प्रखर तेजस्वी परंपरा हमारे पीछे है और हम अपने जीवन में उनके प्राणों का स्पंदन अनुभव करते हैं, अतः हम इस प्रकार की पददलित स्थिति को कभी नहीं सहेंगे और सिर उठाकर प्रबल, प्रचंड राष्ट्र के रूप में अपने-आपको खड़ा करके सर्व-संकटमुक्त, वैभवसंपन्न जीवन अवश्यमेव निर्माण करेंगे?

जब राष्ट्र की इस दुःखमय स्थिति की वेदना हृदय को अहर्निश धक्के देती रहेगी और हम यह दृढ निश्चय करेंगे कि हिंदुराष्ट्र के पुनरुत्थान का जो मंत्र मैंने लिया है उसको जीवन की सारी शक्ति लगाकर मैं निभाऊंगा और जब इस प्रकार की प्रखर निष्ठा हमारे अंतःकरण को उत्साहित करने लगेगी तब अपने को अनुभव होगा कि अपने शब्दों के पीछे सामर्थ्य खड़ा है, और तभी हम लोगों के पास जाकर उनसे यह कह सकेंगे कि अपने राष्ट्रजीवन के लिए उठकर खड़े हो जाओ और, तब लोग हमारा कहना आनंद से, प्रसन्नता से अपने अंतःकरण के प्रेम से मानकर साथ देने के लिए तैयार हो जाएंगे। परंतु सर्व प्रथम उस भक्ति का, उस निष्ठा का, उस श्रद्धा का आविष्कार अपने अंदर करने की आवश्यकता है। उसके बिना सब बातें बेकार हैं।

दूसरी बात यह आती है कि राष्ट्र को पुनः खड़ा करने के लिए उसको संगठित करना चाहिए। संगठित होने से वह शक्तिशाली बनेगा और शक्तिशाली बनकर ही वह अपने जीवन को चला सकेगा। इस जगत् में उसी का चलता है जिसके पास सामर्थ्य है। जिसके पास शक्ति नहीं, उसको कोई कुछ नहीं गिनता। विश्व के [illegible] भारत के प्रति जो अन्याय होता दिखाई देता है, उसका कारण यही है कि वे [illegible] बिल्कुल नगण्य मानते हैं और समझते हैं कि अन्याय करने पर भी किसी प्रकार का [illegible] नहीं है। अन्यथा वे अन्याय नहीं कर सकते। ऐसा दिखाई देता है कि केवल [illegible] को कोई नहीं मानता। अतः सामर्थ्य की आवश्यकता है। राष्ट्रजीवन [illegible]

अधिष्ठान पर ही खड़ा हो सकता है। अन्य किसी बात पर नहीं। अतः यह विचारणीय है कि इस शक्ति के निर्माण के लिए किस प्रकार से संगठन करना चाहिए।

राजनैतिक प्रणालियां विच्छिन्नतावर्धक

अपने देश के अंदर विभिन्न सांस्कृतिक प्रणालियों के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न राजनैतिक आंदोलन की प्रवृत्तियाँ भी चलती हैं। उनके प्रति अनेक लोगों के अंतःकरण में बड़ा आकर्षण होता है। हममें से भी अनेक यह सोचते हैं कि यद्यपि यह संघ है, उसका संगठन कार्य भी है, और वह राजनीति से अलिप्त है, परंतु अगर हम भी राजनैतिक स्पर्धा का थोडा सा काम करें तो अच्छा होगा। परंतु विचारपूर्वक देखें तो प्रतीत होगा कि आजकल अपने यहां जनतंत्र की जो व्यवस्था है, इस व्यवस्था में भिन्न-भिन्न राजनैतिक गुट कुछ थोडे से सिद्धांतों को लेकर चलते हैं। इसमें सत्ताधिकारी के स्थानपर बैठने की स्पर्धा, पुनः ईर्ष्या और अंततः द्वेष की भावना उत्पन्न होना अस्वाभाविक नहीं। जिस समाज में सुदृढ राष्ट्रभाव, अर्थात् सब प्रकार की राजनीति से ऊपर राष्ट्रप्रेम, मातृभूमि का प्रेम, समाज का प्रेम और परंपरा का प्रेम है, उस समाज में यह प्रयोग चल सकता है, परंतु भारत जैसे देश में जहां न केवल राष्ट्रजीवन का अभाव बल्कि राष्ट्रजीवन की स्पष्ट धारणा का ही अभाव है, जहां राष्ट्र की परिभाषा को लेकर ही गड़बड़ है और जहां राष्ट्र के प्रति प्रेम न होकर भाषा का प्रेम, पंथ का प्रेम, दल का प्रेम, छोटे-छोटे जिलों का प्रेम, और सबसे बढ़कर स्वार्थ का प्रेम विद्यमान है, तथा जहां राष्ट्र से भी ज्यादा रोटी के लिए खींचतान है, वहां भिन्न-भिन्न दलयुक्त प्रणाली चलाने से विपरीत फल ही मिलेगा, और आपस में विच्छिन्नता बढ जाएगी।

'इमोशनल इंटेग्रिटि' याने भावनात्मक एकता उत्पन्न करने का जहां तक सवाल है, यह समझना चाहिए कि भावनात्मक ऐक्य होने पर ही राष्ट्र होता है। परंतु परस्पर-विरोधी और शत्रुतापूर्ण भावनावालों को समेटकर राष्ट्र बनाने का प्रयास दुर्धर हास्यास्पद है। हम देखते हैं कि बड़े-बड़े और अच्छे विद्वान लोग भी अपने से मतभेद रखनेवालों को गद्दार कह देते हैं। परंतु वे यह नहीं समझते कि गद्दार कहना [illegible] भीषण आरोप है। मतभेद का अर्थ तो राष्ट्रविरोध नहीं हो सकता। अपने राष्ट्र की भलाई के बारे में भिन्न-भिन्न मत हो सकते हैं। हां, यह हो सकता है कि किसी का मत ठीक हो, किसी का गलत हो, या किसी का मत किसी खास परिस्थिति में अच्छा हो [illegible] किसी का उतना अच्छा न हो, पर केवल इतने के लिए किसी को गद्दार या [illegible] और उसके प्रति विपरीत धारणा रखना तो उचित नहीं। यह सुदृढ, एकात्म [illegible] अभाव का ही द्योतक है कि अच्छे-अच्छे लोग भी अपने से जरा-सा भिन्न [illegible] वाले को गद्दार कह देते हैं और उसे शत्रु मानने के लिए तैयार हो जाते हैं। [illegible] प्रकार यह स्पष्ट है कि राष्ट्र में संगठित स्थिति उत्पन्न करने के लिए इन प्रवृत्तियों में [illegible] से-कम आज और आनेवाले कई वर्षों तक क्षमता नहीं है।

शक्तिसंपन्न राष्ट्र का आदर्श 'शाखा'

आज तो हमें व्यक्ति-व्यक्ति के अंतःकरण में यह अनुभूति पैदा करनी है कि काश्मीर से कन्याकुमारी तक, भिन्न मत, भिन्न पंथ, भिन्न जाति और भिन्न भाषावाले हम सब मिलकर एक अखंड समाज और एक अखंड राष्ट्र है तथा हम सबका एकरस राष्ट्रजीवन है। अतः यदि हम इस प्रकार की अनुभूति भरकर चलने के लिए प्रस्तुत होते हैं, तब परस्पर ईर्ष्या, स्पर्धा और आगे चलकर द्वेष तथा परस्पर शत्रुता उत्पन्न करने की दुष्प्रवृत्ति एवं कटुता पैदा करनेवाली ये प्रवृत्तियाँ सर्वथा अनुचित सिद्ध हो जाती हैं। तब संगठन के लिए कौनसी पद्धति यहां चल सकेगी, यह प्रश्न आता है। तो संघ के निर्माता ने, जिनकी प्रतिभा अत्यंत असामान्य थी यह विचार किया कि कार्य की रचना ऐसी होनी चाहिए जिसमें संगठन के लिए आवश्यक बातों की शिक्षा मिले। अर्थात् प्रथम तो यह कि हमें इसका अनुभव आना चाहिए कि हम सब एक हैं। फिर आपस में स्नेहमय व्यवहार करने की शिक्षा मिले और अंततः सब की वैयक्तिक शक्ति को केंद्रीभूत करके सूत्रबद्ध रूप से उसका उपयोग करने की पात्रता आ जाए। इसलिए उस रचना को अपनी शाखा के रूप में उन्होंने हमारे सामने रखा है। दैनंदिन एकत्र आकर और अपने सामने प्राचीनकाल से चली आयी अमर परंपरा के प्रतीक, यज्ञमय जीवन के प्रतीक, त्यागमय जीवन के प्रतीक, ज्ञानसंपन्न जीवन के प्रतीक, अपने राष्ट्र के गैरिक सुवर्ण भगवद्‌ध्वज को अपने सामने प्रस्थापित कर उसकी छत्रछाया में हम सब उसके पुजारी और सेवक के नाते एकात्मता का अनुभव करते हुए और कंधे से कंधा मिलाकर पारस्परिक कमियों, अधिकताओं, विपरीतताओं, और विशेषताओं के बारे में ठीक प्रकार से विचार करते हुए हृदय से हृदय मिलाने की कला सीखकर एवं विचित्रताओं, विक्षिप्तताओं तथा 'ऐंग्यु लॅरि र्टि ज्ञ' को रगडकर, ठीक बनाकर हम अपने जीवन में स्नेहसंपन्नता निर्माण करते हैं।

अखिल भारत में भाषानिरपेक्ष, प्रांतनिरपेक्ष, जातिनिरपेक्ष तथा सब प्रकार के तथाकथित भेदों से ऊपर उठे हुए सर्वसंग्राहक हिंदुसमाज का हृदय में साक्षात्कार करते हुए उनके स्नेह से स्वयं परिपूरित हो, अपने चारों ओर आनेवालों को सुस्नात करते हुए चलने की प्रत्यक्ष शिक्षा प्राप्त कर और भिन्न-भिन्न प्रकार के नियमित चलनेवाले कार्यक्रमों के द्वारा अनुशासन से अपने रगरग को रंगाकर, हम अपने प्रत्येक अवयव, इंद्रिय, अंतःकरण और बुद्धि में आसेतुहिमाचल को केंद्रीभूत करने की क्षमता भरकर एक संगठित, प्रबल, प्रचंड शक्तिसंपन्न राष्ट्र का आदर्श इस शाखा के रूप में रखते हैं।

सुदृढ राष्ट्रजीवन के अभाव में अनेकविध चलनेवाली पद्धतियों से अपने को क्षति पहुँचने की अधिक संभावना है। अतः इसे समझते हुए उससे अलग रहकर सब का संग्रह कर सकनेवाली, सब को अपना कहनेवाली राष्ट्रशक्ति जागृत करने की दृष्टि से एक स्वतंत्र कार्यपद्धति की आवश्यकता है और हृदय में यह विश्वास लेकर चलने की आवश्यकता है कि इस दृष्टि से संपन्न, स्वतंत्र और अभिनव कार्यपद्धति [illegible]

पूर्वक ठीक समय का पालन करती हुई चलनेवाली शाखा के रूप में परमपूज्य डॉक्टरजी ने हमारे सामने रखी है। दोषारोपण करने की प्रवृत्ति को छोडकर हम अपने हृदय को टटोल कर देखें कि इस पद्धति पर अमिट विश्वास रखकर उसका उत्कृष्ट रीति से कितनी मात्रा में प्रतिदिन पालन करते हैं। जितनी मात्रा में निष्ठा रहेगी, जितनी मात्रा में अपना निश्चयात्मक व्यवहार रहेगा और जितनी मात्रा में हम प्रतिदिन चलनेवाले कार्यक्रमों को अपने व्यवहार में उतारेंगे उतनी ही मात्रा में समाज में जाकर प्रत्येक व्यक्ति को अपनाने की अपने अंदर क्षमता प्राप्त होगी। कृति बिना बोलना तो केवल बकबक है। अगर हमें अपने समाज को, राष्ट्र को संगठित करना है तो उसके संपूर्ण कार्य और उसके अंग-प्रत्यंग में रुचि लेते हुए उसको कर दिखाने की आवश्यकता है। तभी समाज हमारे शब्दों को कुछ मूल्य देगा।

राष्ट्र के लिए शक्तिसंचय अपरिहार्य

परंतु आजकल एक ऐसा भी वायुमंडल है कि शक्ति के बारे में लोगों को ऐसा लगता है कि उसकी आवश्यकता नहीं। ऐसा कहा जाता है कि गोवा लेंगे, परंतु शक्ति से नहीं, पंचशील से। नेतागण पुलिस लोगों को यह शिक्षा देते हैं कि बंदूक वगैरे सब छोड दो, उनका कोई उपयोग नहीं। सेना को भी नहर बनाने, कुएँ खोदने और बांध बांधने जैसे 'रचनात्मक' कार्य में लगाने की बातें सुनी हैं। इस प्रकार शक्ति के प्रति अनास्था का, घृणा का, उसे हेय और त्याज्य समझने का एक विपरीत वातावरण अपने चारों ओर फैला हुआ है। कुछ लोग कहते हैं कि अपना अहिंसा के व्रतपर विश्वास है। पर ऐसा कौन हिंदु होगा जिसका अहिंसा पर विश्वास न होगा। हमने तो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच श्रेष्ठ गुणों में अहिंसा को सर्वप्रथम स्थान दिया है। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने भी यही बात कही है। मगर श्रीकृष्ण ने यदि अहिंसा कही तो ठीक है, परंतु किसी दुर्बल द्वारा इसका उच्चारण और बात है। किसी सामर्थ्यवान तगडे नौजवान को किसी से धक्का लग जानेपर अगर वह कहे कि 'मैं क्षमा करता हूं' तब तो लोग उसे क्षमाशील अवश्य कहेंगे परंतु केवल अस्थिपंजरयुक्त व्यक्ति का कोई कान खींच दे और वह थरथर कांपते हुए कहे कि 'अच्छा मैं तुम्हें क्षमा करता हूं' तो वह कितना उपहासास्पद होगा? एक साधु ने मुझे बताया कि अहिंसा एक नकारात्मक शब्द है, जिसका भावात्मक शब्द है हिंसा। अर्थात् जिसके अंदर हिंसा की क्षमता है, वह जब अपनी इस क्षमता का उपयोग नहीं करता तब उसे अहिंसा कहते हैं। जिसके अंदर हिंसा की पात्रता ही नहीं उसकी वह अहिंसा नहीं, अपितु भीरुता है, कायरता है। साधु ने यह जो कुछ मुझसे कहा है वह भी सत्य है। जिसके अंदर दुष्टों का दमन करने की शक्ति है फिर भी वह कहे कि मैं दुष्टों को [illegible] जीतूंगा, तब तो वह अवश्य अहिंसा है, परंतु अंदर कुछ शक्ति नहीं और वह [illegible] अहिंसा करता हूं, तब वह एक हास्यास्पद बात है। इसलिए हमें [illegible]

कि इस प्रकार की विकृतियाँ यदि चारों ओर फैलीं तो ठीक नहीं। राष्ट्र के लिए शक्ति-संचय आवश्यक है। किसी के ऊपर आक्रमण करना, न करना दूसरी बात है, परंतु शक्तिसंचय आवश्यक है। अपनी शक्ति के बल पर अगर हम जगत् को कहें कि भाई हम तुम को अभय देते हैं, परंतु तुम हम को भय नहीं दिखा सकते तब तो वह ठीक है, परंतु अपने को भयभीत रखते हुए हम लोगों को अभय देने लगे तो वे यही कहेंगे कि हमें अभय देने के पहले अपना भय तो दूर करो।

पराक्रम की भावना वांछनीय

उक्त प्रकार की जो स्थिति है, वह कोई सामान्य स्थिति न होकर अपमान से भरी हुई है। इस स्थिति को बदलकर हमें यह सोचना है कि हमारा राष्ट्रजीवन शक्ति-संपन्न और निर्भय बन कर रहे। किसी के चेहरे की ओर अत्यंत करुणा के साथ देखते हुए यह सोचना कि क्या वह हमारी सहायता और रक्षण करेगा, भीख मांगने जैसी प्रवृत्ति का परिचायक है। इस प्रवृति को आश्रय देने की आवश्यकता नहीं। पूर्ण राष्ट्र-चैतन्य उत्पन्न करना आवश्यक है। जिस समय हमारे राष्ट्र में वह चैतन्य था तब हम अपनी प्रखरता और तेजस्विता से विश्व के मार्गदर्शक बनकर उसे अपने काबू में लाए। कितना असामान्य वैभव, सुख हम लोगों ने अनुभव किया। किंतु जब हम सोचने लगे कि जाने दो, किसलिए झगडा मोल लिया जाए, तब अपने को दिखाई देता है कि जाने देते देते अपने देश की विशाल सीमा अफगानिस्तान और गांधार से संकुचित होते-होते केवल रावी तक रह गई और वह भी कब और संकुचित हो जाएगी इसका कोई ठिकाना नहीं। जिस हिमालय को हम अपना परकोटा बोलते हैं, उसकी घाटियों में उतरकर चीन हमारी छातीपर पैर रखता हुआ दिखाई देता है। इस संकोच का कारण क्या है? तो भीरुता की प्रवृत्ति। क्योंकि पराक्रमसंपन्न के लिए जगत् है, पौरुष-संपन्न निर्भय राष्ट्र ही जगत् में सम्मान पा सकता है। जो कहता है कि मैं तो केवल तत्त्वज्ञान की बात करूंगा और चारों ओर से अपमान, अवहेलना होने पर उसे अपनाकर छोटा-सा मुंह बनाकर दबकर सहता रहूंगा, उसके लिए जगत् में किसी प्रकार का सुख, किसी प्रकार का सम्मान नहीं। अतः पराक्रम की भावना को संपूर्ण राष्ट्र के अंदर जागृत रखना नितांत आवश्यक है और उस पराक्रम के पीछे एक प्रचंड संगठित सामर्थ्य उत्पन्न करना भी आवश्यक है। इस आकांक्षा को लेकर उसकी पद्धति का सांगोपांग पालन करने की दृढता और श्रद्धा अंतःकरण में लेकर तदनुसार जीवन की रचना करके चलना भी अपने लिए आवश्यक है।

जो अपने चारों और दीवार बनाकर बैठता है, जो केवल अपनी रक्षा करने की चेष्टा करता है और चापल्य छोड देता है, वह उसी प्रकार से नामशेष हो जाता है, जिस प्रकार प्राचीनकाल के अति विशालकाय प्राणियों का नामोनिशान मिट गया। मैं नहीं समझता कि किसी में ऐसी विकृत भावना होगी कि अपना राष्ट्र नाम[illegible]

कर्तव्यपूर्ति का प्रण लेकर चलें।

हम लोग अपने को स्वयंसेवक मानते हैं और थोडा भी क्यों न हो, हमारे अंतःकरण में राष्ट्र का साक्षात्कार अभी तक विद्यमान है। अतः अपने कर्तव्य को पहचानकर अतीव श्रेष्ठ और समर्थ राष्ट्रजीवन के पुनर्निर्माण के हेतु अखिल समाज को अपने स्नेह के आलिंगन में समेटने के उद्देश से निर्मित इस प्रचंड संगठन के दिन-प्रतिदिन के व्यवहार में पूर्ण निष्ठा रखकर और उसमें अपने जीवन की सारी शक्ति-बुद्धि लगाकर हम आगे बढें। मन में सोचें कि ईश्वर ने मुझे दिन-रात में जो २४ घंटे दिए हैं उसमें मैं खाता हूं, पीता हूं, उद्योगधंदा करता हूं, ऐश आराम और चैनबाजी करता हूं, स्त्री-पुत्रादि के साथ सुख से जीवन व्यतीत करता हूं, पर इन सब बातों के बीच राष्ट्र के संगठित जीवन की उपासना करने के लिए मैंने कोई समय निकाला है अथवा नहीं? मैंने प्रतिदिन [illegible] संस्कार को अंतःकरण में जागृत करने की कोई पद्धति बनाई है अथवा नहीं? इस दृष्टि से अपने जीवन में प्रतिदिन समय का एक खंड निकालकर, अपने राष्ट्र को सुदृढ बनाने के प्रयत्न को जीवन का एक श्रेष्ठ कार्य मानकर, चलने का हमने निश्चिय किया है अथवा नहीं? और किया है तो उसका व्यवहार करता हूं या नहीं, यह भी सोचना चाहिए। अपने यहां २४ घंटों में एक घंटा शाखा को दिया है। संगठन की इस प्रत्यक्ष प्रयोगशाला में अपने अंतःकरण को लगाकर सब प्रकार से एकात्म, स्नेहपूर्ण और अनुशासनपूर्ण जीवन के संस्कार ग्रहण करने का यह महान प्रयत्न करने के लिए ही यह समय दिया है। उसके आगे-पीछे का समय, समग्र समाज के अंदर घुसकर प्रत्येक व्यक्ति के अंतःकरण में अपने हृदय की अखंड निष्ठा का निर्माण करने के [illegible] में लगाना है। साथ ही यह प्रयत्न करना भी आवश्यक है कि अपना स्वयं का [illegible] हार भी उस संगठित जीवन के परमपवित्र भाव से सुस्नात होकर जीवन का दृष्टिकोण इस प्रकार श्रेष्ठ और पवित्र हो जाए कि खाना-पीना, नौकरी-चाकरी तथा उद्योगधंदा करते हुए जो भिन्न-भिन्न लोगों से संपर्क आनेवाला है वह प्रत्येक संपर्क राष्ट्र की, [illegible] की सुदृढ शक्ति का निर्माण करने और इस पवित्र कार्य में एकबार फिर चेतना [illegible] करने के उपयोग में आए। हम इस दृष्टि से विचार करें और यदि अपने जीवन में [illegible] कमी दिखाई दे तो उसको अत्यंत निश्चयपूर्वक दूरकर सुयोग्य रीति से इस [illegible] अंग के रूप में अपने को चलाने के लिए प्रस्तुत हों। कोई हमारे राष्ट्र के ऊपर [illegible] घात कर सके इसके पूर्व अहोरात्र परिश्रम कर के इतना सूक्ष्म, सुदृढ और [illegible] राष्ट्रजीवन खडा करें कि आघात करनेवाला केवल टकराकर ही यह सोच ले कि [illegible] दाल यहां गलनेवाली नहीं है। अतः इस प्रकार की उत्कृष्ट विशालता को [illegible] करने के लिए एक क्षण भी व्यर्थ न जाने देते हुए काया, वाचा, मनसा प्रयत्न करने [illegible] पूर्ण प्रण लेकर आज के पवित्र दिन आगे बढने के लिए कदम बढाएं, यही मेरी [illegible] स्वयंसेवक बंधुओं से प्रार्थना है।

ग्राम की एकजूट

(सन् १९५२ की दीपावली-पूर्व ४ दिवसीय वर्ग में एकत्र आए शिवणे ग्राम के ग्रामीणों ने पूना के लगभग १५० स्वयंसेवकों के साथ मिलकर १२०० फुट लंबा एक रास्ता तैयार किया था । गांव की एकजूट से बना यह कार्य देखने के लिए प. पू. श्रीगुरुजी विशेष रूप से शिवणे गए थे ।

श्रीगुरुजी के स्वागत हेतु गांववालों ने स्वागतद्वार, बंदनवार लगाकर गांव को बहुत ही सुंदरता से सजाया था । नवनिर्मित मार्ग पर, लेझीम-पथकों के साथ प. पू. श्रीगुरुजी को शोभायात्रा में ले जाया गया । सुवासिनियों द्वारा मंगल आरती उतारी गयी और मंदिर के सामने एक सुशोभित मंच पर श्रीगुरुजी का स्वागत किया गया । इसके उपरांत अपने अल्प से भाषण में श्री. अण्णासाहेब पाटील ने बताया कि शिवणे ग्राम में संघकार्य आरंभ हो गया है व उसके फल-स्वरूप गांव में प्रेमभाव वृद्धिंगत हुआ है । सबके मन में अपनेपन की भावना बढी है । निर्धन या धनी का भेद-भाव भुलाकर ग्रामीणों ने एकता से सभी काम किया । इस अवसर पर श्रीगुरुजी ने निम्नलिखित भाषण दिया । — संपादक)

ग्रामीणों ने अपने परिश्रम और स्वावलंबन से गांव की एकजूट की सच्ची भावना से यहां रास्ता बनाया, तब मैंने कहा था कि मैं यहां अवश्य आऊंगा । आपके ग्राम ने एक कदम आगे बढाया है । अपने देश का विस्तार रामेश्वर से बद्रीकेदार व सोमनाथ से पुरी तक है और हम सब हिंदु इस देश के स्वामी हैं । विदेशियों ने हममें फूट डालने के प्रयत्न किए । उन्होंने अपने देश में भाई-भाई के, प्रांत-प्रांत के, भाषा के भेद का जहर बोया । आज स्वतंत्रता के काल में भी हम कांग्रेस, समाजवादी, शेतकरी कामकरी पक्ष जैसे नए दलीय भेद के साथ सत्ता के लिए लड रहे हैं । प्रत्येक दल में कुछ अच्छे लोग हैं भी किंतु दलीय स्वार्थ आडे आता है, इसलिए सभी लोग केवल दूसरों की त्रुटियां ही ढूंढते हैं ।

विदेशों से आनेवाली सहायता अथवा यंत्रों पर निर्भर रहकर हम अपने देश का विकास कर सकते हैं क्या ? * भिक्षापात्र का अवलंबन, भस्म हो ऐसा लज्जास्पद जीवन यह अपने साधुसंतों की सीख है । गांव के ही लोग स्वयं के पैरों पर खडे हों और अपने गांव की उन्नति के लिए यत्न करें, यही श्रेष्ठ है ।

उत्तरप्रदेश में संघ की विकासयोजना

उत्तरप्रदेश में संघस्वयंसेवकों ने परिश्रमपूर्वक विकास-योजनाएं चलायी हैं । इन योजनाओं का आधार एकता व सहयोग है । इस विश्वास से कि अपने गांव की पुनर्रचना

* ' भिक्षापात्र अवलंबिणे, जळो जिणे लाजिरवाणे '

हम स्वयं दूर करेंगे, ८–१० गांवों के लोग एकत्र आए। ग्रामीणों ने मिलकर घरों की आरोग्यवर्धक रचना की। सबने मल-मूत्र की निकासी की व्यवस्था कर उससे खाद तैयार किया।

उन्होंने शिक्षा का प्रश्न भी हल किया। केवल बच्चों की शिक्षा-व्यवस्था कर वे रुके नहीं, प्रौढ-शिक्षा का भी उन्होंने प्रबंध किया। अपने इतिहास, धर्म, देश की जानकारी और उसकी आवश्यकताओं, उसी प्रकार अपने गांव में रोजगार के साधनों की प्रगति के प्रश्न पर ग्रामीण एकत्र आकर चर्चा और विचार-विनिमय करते हैं। इसके साथ ही भजन-कीर्तन आदि कार्यक्रमों का आयोजन करते हैं। अब इन ८–१० गांवों के लिए निःशुल्क चिकित्सा व्यवस्था भी हो गई है। संघ का ही एक स्वयंसेवक, जो कि चिकित्सक है, प्रामाणिकता से अहर्निश सेवा करने के लिए वहां है। एकजूट के आधार पर अपने गांव को हम स्वयं आदर्श बनाएंगे, इस भावना से संघ को देश की रचना का कार्य करना है।

आपस के भेद-भावों को भूलकर हम सब एकत्र रहेंगे, सामाजिक अनुशासन अपने भीतर लाएंगे, हिंदु-श्रद्धाओं के मानबिंदुओं की रक्षा करेंगे। अपना और समाज का जीवन सुखी बनाने के लिए जो-जो कार्य आवश्यक है, वह करने को संघ अवश्य आगे रहेगा। आप लोग अपना गांव आदर्श बनाने का प्रयत्न करें और पडौस के गांवों को भी उसका पाठ सिखाएं।

(राष्ट्रशक्ति मराठी साप्ताहिक, नागपूर, नवंबर १९५२ के अंक से)

साधुओं का दायित्व

(सन् १९५२ के अक्तूबर के द्वितीय सप्ताह में कानपुर में हुए सर्वदलीय साधु-सम्मेलन में प. पू. श्रीगुरुजी का भाषण)

साधु-सम्मेलन प्रतिवर्ष होता है। इसके कारण भारतीय संस्कृति के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर विचार होता है। संसार में रहनेवाला प्रत्येक व्यक्ति सोचता है कि किस प्रकार जीवन में शांति आए और श्रेष्ठत्व का अनुभव करता हुआ वह आदर्श ... निर्माण कर सके। इसी कामना को लेकर समाज की रचना होती है और राज्य ... निर्माण के प्रयत्न होते हैं। हमें विश्व में भारतीय विचारप्रणाली के अतिरिक्त ... विचारधाराएँ और दिखाई पडती हैं। एक तो पश्चिम का प्रजातंत्रवाद है जिसका ... और पश्चिमी युरोप के देश प्रतिनिधित्व करते हैं। दुर्भाग्य से भारत भी इसी ओर ... दिखाई देता है। दूसरा गुट रूस तथा पूर्वी यूरोप से लेकर प्रशांत महासागर तक के ... देशों का है जो अपने को साम्यवादी कहते हैं। अमरीकी गुट में तो ...

प्रणाली को प्रोत्साहन दिया है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे से स्पर्धा करता हुआ दिखाई देता है। ऐसी विषमता को देखकर प्रजातंत्रवाद के विरुद्ध रूसवाद खडा है परंतु भौतिक भाव को लेकर जीवन के चिरंतन सत्य और तत्त्वज्ञान का उन्हें पता नहीं है। केवल रोटी-कपडे का आश्वासन देकर वहाँ एक गुट की तानाशाही कायम है। मानव के विकास के लिए उनके पास कोई योजना और कल्पना नहीं है।

दोनों गुट विश्व में शांति-सम्मेलन करते हैं और विश्वबंधुत्व की घोषणा करते हैं परंतु उसके पीछे केवल अपना प्रभुत्व प्रस्थापित करने की अभिलाषा दिखलाई देती है। अणुशक्ति का प्रयोग करके दोनों मानवता को नष्ट करने के लिए उद्यत हैं। परंतु महाभारत में अर्जुन ने पाशुपत-अस्त्र होते हुए भी उसका प्रयोग नहीं किया, क्योंकि वह मानवता का नाश नहीं करना चाहता था। उसने तो यह सोचकर कि, ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करने पर आठ वर्षतक अकाल पडेगा, उसका प्रयोग नहीं किया। यह भारतीय जीवन की प्रणाली का आदर्श है।

आज उस तत्त्वज्ञान को जानने की आवश्यकता है, जिसके द्वारा मानव-मानव के बीच सच्ची बंधुता प्रस्थापित हो सकती है। परंतु यह किस आधारपर हो सकती है, इसका अनुभव और उसकी रक्षा एवं उसे जीवन में उतारने का प्रयत्न हमें करना है, यही एकमेव रास्ता है। अखिल-विश्व मेरा घर है, ऐसी बुद्धि जिनकी हो गई है, वे ही विश्व में शांति फैला सकते हैं। इस मातृभूमि के पुत्रों ने सत्य का साक्षात्कार किया है और उसको ज्ञापन करके वैज्ञानिक दर्शन के रूप में हमारे सामने रखा है। यह सत्य प्रयोग से और अनुभूति से सिद्ध हो सकता है। समाज के स्वाभिमान की और उसके स्वरूप की रक्षा करना, उसे स्वतंत्र और श्रेष्ठ बनाना ही अपना कार्य है। आज लोगों को विश्वास नहीं होता कि हजारों वर्षों से दासता में पला हिंदुसमाज क्या इतना पराक्रमशाली हो सकता है। क्या वह दुष्टों के दमन में समर्थ हो सकता है? हमने तो अभी साढे तीन सौ वर्ष पहले देखा है। जब मुसलमान का शासन सारे भारत में था उस समय कोई सर उठाने का साहस नहीं करता था। दुर्भाग्य से औरंगजेब जैसे अनेक मुगल सम्राट बनानेवाला जयसिंह जैसा पराक्रमी सरदार भी उसी की ओर से कार्य करता था। सारे देश का वातावरण विक्षुब्ध हो गया था, परंतु उस समय साधु मंडली ने ही कहीं राम के नाम से, कहीं कृष्ण के नाम से, कहीं शंकर की उपासना से, कहीं विष्णु की भगवद्-भक्ति से ऐसा जागरण किया कि देश की काया पलट गई। राम और कृष्ण के चरित्रों ने देश में ऐसा वायुमंडल बनाया कि मुगलों के दरबार में नौकरी करनेवाले हिंदु सरदार के यहाँ एक ऐसे बालक का जन्म हुआ, जिसने आठ वर्ष की आयु में गोरक्षा का ऐसा उदाहरण उपस्थित किया कि सारे बीजापुर राज्य में हल्ला हो गया। उसके विरोध में वातावरण खडा हो गया। परंतु उसने विदेशी के सम्मुख सिर झुकाने से इंकार कर दिया और उसी तेजस्विता का आगे चलकर परिणाम यह हुआ कि आसेतु-हिमाचल, कटक से अटक तक, एक बार हिंदु का गौरव बढा।

अंग्रेजों ने जिस समय भारत में मानसिक गुलामी लाने के लिए षडयंत्र रचा, उस समय भी तेजस्विता की ज्योति फैलानेवाले साधुओं की परंपरा निर्माण हुई। विवेकानंद, रामतीर्थ, रमण और अरविंद ने देश में जागृति पैदा की। विवेकानंद ने तो विदेशों में जाकर वहाँ के लोगों को भारतीय दर्शन सुनाकर चकाचौंध कर दिया। लौटकर आने पर उनका सम्मान हुआ और जनता में आत्मविश्वास की भावना जागृत हुई।

भारत ने आत्मसाक्षात्कार किया जिसके परिणामस्वरूप ऐसा जनजागरण हुआ कि इंग्लैंड को भारत में अधिक दिन ठहरना असंभव हो गया, परंतु इसका श्रेय उन्हीं साधुओं को है जो अकिंचन होकर निष्काम भाव से परमार्थ की भावना से प्रेरित होकर कार्य कर रहे थे। हमारी साधुवर्ग से वही अपेक्षाएँ हैं, जो पुत्र माता से रखता है। एक घटना है कि किसी माता के एक ही पुत्र था। बचपन में चोरी करने पर भी वह उससे कुछ न कहती और जो उसकी शिकायत करता उसे भी डांट कर भगा देती। बड़ा होने पर वह डाकू बन गया और बड़ी-बड़ी डकैतियों में पकड़ा जाने पर उसे फाँसी की सजा सुनाई गई। उसने अपनी मां के पास जाकर बात करने की अनुमति मांगी और वहाँ जाकर उसने उसका कान चबा डाला। कचहरी में लोग चिल्लाए कि क्या पागलपन करता है। परंतु उसने उत्तर दिया कि यदि मेरी मां बचपन से मुझे शिक्षा देती तो यह नौबत न आती। अतः यह भी दंड की भागी है। अपने यहाँ के राष्ट्रजीवन में सही मार्गदर्शन की अपेक्षा हमारे साधु-मंडल से है।

अपनी संस्कृति का प्रतीक भगवा मानो यज्ञ की ज्वालाओं को प्रकट करता हुआ हमारा जीता जागता और बोलता हुआ आदर्श है। उसी का संदेश घर-घर पहुंचानेवाली यह साधुमंडली है। हमें अपने व्यवहार में अपरिग्रह वृत्ति निर्माण करने की आवश्यकता है। दुर्बल समाज भी एक बार फिर से श्रेष्ठत्व का अनुभव कर सके, उसके पराक्रम के आगे दुष्ट न ठहर सकें, ऐसा समाज-जीवन आत्मीयता की भावना से हमें निर्माण करना होगा। परंतु यह इस भावना को लेकर कि मैं इस धन का स्वामी नहीं हूं। यह धन तो परमात्मा के रूप में मुझे मेरे समाज के लिए मिला है। इसका उपयोग तो मैं समाज के लिए करूंगा। यह धारणा लेकर प्रत्येक के जीवन में आत्मीयता का भाव भरकर हम साधुमंडली का मार्गदर्शन प्राप्त करना अपना उद्देश्य समझते हैं।

(२६–१०–५२ 'पांचजन्य' से)

विदेश-नीति

[अपने देश की विदेशनीति क्या हो इस विषय पर दि. ११ मार्च १९५४ को संघ-कार्यकर्ताओं, तथा उसके पश्चात् नागपूर के इतवारी रोटरी क्लब द्वारा आयोजित सभा के समक्ष प.पू. श्रीगुरुजी द्वारा व्यक्त किए गए विचार। संपादक]

इस पृथ्वी पर किसी भी राष्ट्र का जीवन पूर्णरूपेण स्वतंत्र नहीं रहता। एक राष्ट्र का अनेक दूसरे राष्ट्रों से संबंध आता है, उनमें परस्पर अनेक प्रकार का आदान-प्रदान चलता रहता है। उनमें से समय-समय पर जो स्थितियाँ निर्माण होती हैं उसमें अपना संबंध कैसा रहेगा, इनका समुचित विचार करना आवश्यक है।

संसार का चित्र

पृथ्वी का चित्र देखें तो मानव का समूहीकरण कहीं धर्म से, कहीं राष्ट्रीयता के हुआ है। कुछ का धर्म और राष्ट्रीयता दोनों से हुआ है। पश्चिम में मुसलमानों और ईसाइयों के ऐसे अनेक स्वतंत्र राष्ट्र हैं जिनमें विस्तार की भावना विद्यमान है और जिनके साथ हमारा संपर्क शत्रुता या मित्रता का हो सकता है। उन राज्यों के प्रति सद्भावना रखनेवाले तत्धर्मीय लोग हमारे देश में संगठित रूप से विद्यमान हैं। अपने उत्तर में चीन और उसके परे जापान है। इस प्रकार आग्नेय क्षेत्र में छोटे-छोटे देश हैं जो पश्चिम के पूंजीवादी एवं जनतंत्रीय पश्चिमी गुट के एक प्रभावशाली सदस्य फ्रांस के साम्राज्यवादी दासत्व से मुक्त होने के लिए प्रयत्नशील हैं और जो स्वाभाविकतया शत्रु के शत्रु को अपना मित्र मानकर केवल विरोधी भाव के आधार पर ही रूस और चीन से सहायता लेते हुए उसके प्रभावक्षेत्र में दृष्टिगत होते हैं। पड़ोस में ब्रह्म है जिसका कल तक अपने से अभिन्न संबंध था। दक्षिण में सिंहल (लंका) है जो अपनी ही भूमि का एक अंग है किन्तु आज की राजनैतिक परिस्थिति में अलग है। उत्तर में नेपाल और भूतान हैं, जो पूर्व में सदैव से हिन्दुराज्य के नाते रहे हैं। शेष अफगानिस्तान से मिस्र तथा मोरक्को तक अनेक छोटे-बड़े मुस्लिम देश, दूसरी ओर रूस, उसके आगे जर्मनी, फ्रांस आदि योरोपीय देश हैं। तत्पश्चात् महासागर को पार कर अमेरिका, जिसके दक्षिणी भूखण्ड में भी अनेक छोटे-छोटे राज्य दिखाई देते हैं। अफ्रीका में वहां के निवासियों का अपना कोई राज्य नहीं, योरोप की भिन्न-भिन्न जातियों ने वहां के मूल निवासियों को दबाते हुए अपने उपनिवेश कायम किये हैं। भारतीयों ने भी अपना पसीना बहाकर वहां के जंगलों को साफ किया, खानों को खोदा और उसके रूप-रंग को संवारा।

चित्र में हमारा स्थान

यह संसार का चित्र है। ऐसे चित्र में हमारा क्या स्थान है। हमारा देश विशाल है। यद्यपि वह हाल में छोटा हो गया है, तथापि उसकी विशालता बड़ी-बड़ी

को खटकती है। जनसंख्या की दृष्टि से यदि चीन को छोड़ दिया, तो इतनी बड़ी जनसंख्या कहीं नहीं। फिर चीन में भी अनेकों पंथ-उपपंथ आदि हैं। एकरस जीवन की अनुभूति लेकर चलनेवाला हिंदु-समाज जैसा विशाल समाज कहीं नहीं। हमारी परंपरा अत्यंत दिव्य, श्रेष्ठ और उदात्त है। अपना इतिहास पराभव का नहीं, पौरुष और पराक्रम का है। गत सहस्र वर्षों में अनेक आपत्तियाँ और आक्रमण आते हुए भी अपने जीवन को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए हमने संघर्ष किया है और उसकी सफलतापूर्वक सिद्धि की है।

ये सत्कार झूठे

इतने पर भी आज दुनियाँ में कुछ लोग कहते हैं कि हमारा बहुत अच्छा स्थान है। हमारे प्रधानमंत्री जब अमेरिका गए तो उनका वहां जोरदार स्वागत हुआ। देश के समाचारपत्रों में उस स्वागत के भव्य वर्णन तथा चित्र आदि छपे। यद्यपि स्वतः अमेरिका के पत्र में उसकी कोई विशेष चर्चा नहीं थी तथा इंग्लैंड में तो एक दिन उनके जाने तथा बाद में उनके लौटने के समाचार को छोड़ कर कुछ छपा ही नहीं। इसी प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ के रूप में जो संस्था भिन्न-भिन्न देशों के बीच संघर्ष-अवसर उपस्थित होने पर समझोते का मार्ग निकालने का प्रयत्न करने के लिए बनाई गयी है, उसकी अध्यक्षा हमारे प्रधानमंत्री की भगिनी श्रीमती विजयालक्ष्मी पंडित चुनी गई हैं। यह हमारे लिए आनंद की बात है, किन्तु मुझे तो इसमें हिंदुस्थान की वास्तविक प्रतिष्ठा की भावना नहीं, राजनैतिक चाल ही दिखाई देती है। सम्मान का आभास उत्पन्न करके राजनैतिक दृष्टि से यह एक प्रकार की घूस ही है।

क्या हमारी सीमाएं सुरक्षित हैं ?

राष्ट्रीय प्रतिष्ठा की मुख्य कसौटी केवल बाह्य सत्कार नहीं हो सकती, बल्कि कुछ और ही है। क्या अपना राष्ट्रजीवन सुरक्षित है ? राष्ट्र को छोडकर आजकल तो लोग केवल देश की बात करते हैं। तो क्या उसकी भी सीमा सुरक्षित दिखाई देती है ? उस पर आक्रमण करने का किसी को साहस न हो, ऐसी स्थिति है ? इस देश के किसी बालक को तो क्या, कुत्ते को भी छेडने की हिम्मत न हो, ऐसी बात है ? उत्तर नकारात्मक ही मिलेगा। रोज सीमा पर आक्रमण होते हैं। कभी स्त्रियां भगाई जाती हैं, तो कभी पशु, धन तथा धान्य लूटा जाता है। यह अपनी प्रतिष्ठा या सामर्थ्य के परिचय का लक्षण नहीं। सुरक्षा की दृष्टि से दुर्बल अवस्था है। पाकिस्तान बनाकर हमारे नेताओं ने अपने ही घर में अपना प्रत्यक्ष शत्रु खडा करने की जिस असामान्य राजनैतिक चतुराई का परिचय दिया है, वह अलौकिक है। उसने अमेरिका से सैनिक समझौता करके अपने इरादों को स्पष्ट कर दिया है। अब हमारे नेता भी कहने लगे हैं कि इससे आक्रमण को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रोत्साहन मिला है।

उत्तर में चीन तिब्बत को खा बैठा है और मानसरोवर तथा बद्रिकाश्रम तक अपना अधिकार जताता है। नेपाल और भूटान में चोरी से शस्त्रास्त्र आ रहे हैं, इंफिल्ट्रेशन (घुसपेठ) हो रहा है, आसाम तक आतंक जमाने के प्रयत्न चल रहे हैं।

चीन या पाक से चिंता करने का कोई कारण नहीं। हमारा समाज यदि सच्चे स्नेह से जागृत हुआ तो चिंता का विषय रहता ही नहीं। हमें अपनी फौज पर पूरा भरोसा है। पर अपने राजनैतिक नेताओं पर विश्वास रखना जरा कठिन बात हो गयी है। सच्चा विश्वास तो जनसाधारण पर रहता है।

शक्ति–गुटों की चाल

राष्ट्रों के बीच हुए संघर्ष को शांतिपूर्ण ढंग से हल करने हेतु हमने राष्ट्रसंघ का निर्माण किया। परंतु इस राष्ट्रसंघ का रवैया हमारे लिए कुछ ठीक-सा नहीं है। उस पर प्रबल देशों का प्रभाव पड़ता है और उन राष्ट्रों के उसमें स्वार्थ भी रहते हैं। यू. एन. ओ. की कार्यवाही आज वैसी ही है। हम अपने संघर्ष को दूर करने हेतु राष्ट्रसंघ जैसे जागतिक न्यायालय में गए, परंतु वहां हमारे संघर्ष के संबंध में सत्य प्रश्न को छोड़कर अन्य प्रश्नों पर ही बातचीत हुई—हमारे प्रदेश पर आक्रमण हुआ या नहीं? हुआ हो तो वह भाग खाली करने के लिए कहा जाना था, परंतु उन बातों को छोड़ दिया गया। इस लड़ाई में सूक्ष्म दृष्टि से ऊ–थांट का रोल देखा गया तो उन्होंने युद्ध में दोनों को, याने मारनेवालों और मार खानेवालों को, समान ही माना है। इससे यू. एन. ओ. पर विश्वास रखना हमारे लिए अनुचित होगा। यू. एन. ओ. में इस समय पावर-पालिटिक्स के अलावा और कोई तथ्य नहीं है। उसका कार्य पूर्णतया निष्फल है। वह संघर्ष बना रहेगा।

शीत युद्ध की परिस्थिति

जागतिक दृष्टि से जो शीत-युद्ध की परिस्थिति दिखाई देती है, वह भी हमारे लिए संकट का कारण बनी हुई है। जगत् पर प्रभुत्व जमाकर अपने साम्राज्य स्थापित करने की इच्छा रखनेवाले, दो शक्ति-गुट अपनी-अपनी चाल चल रहे हैं। उनकी अलग-अलग विस्तारवादी योजनाएँ हैं। अमेरिका ने जनतंत्र की दुहाई और डॉलर को अपना आधार बनाया है। रूस ने चारों ओर अपने सैनिक अड्डे स्थापित करने की इच्छा से ही पाकिस्तान में उसने अपना अड्डा स्थापित करने का प्रयास प्रारंभ किया है। काश्मीर में गोलमाल करने का प्रयत्न भी इसी दृष्टि से हुआ है। यू. एन. ओ. में काश्मीर का प्रश्न इसीलिए उलझा हुआ है। यदि हम अमेरिका को अड्डे देना स्वीकार कर लें तो एक दिन में फैसला हो जाए। किंतु इस प्रकार किसी के दबाव में आकर अपमानकारक फैसला करवाने के लिए सहायक बनना हमें स्वीकार नहीं, यह करवाने अमेरिका द्वारा भारत को धन, धान्य आदि की सहायता इसी आशा से दी जाती है कि हमारे मन में उसके प्रति अनुकूल भाव पैदा हो जाए। ईसाई धर्मप्रचारक

तक (दवादारू देने में) मनुष्य मात्र की सेवा निःस्वार्थ भाव से नहीं करते, बल्कि इसी आशय से करते हैं कि यहां के लोग ईसाई बनकर हिंदुस्थान की भूमि तथा परंपरा के प्रति बेईमान हो जाएं, इसलिए राजनैतिक संबंधों में निःस्वार्थ सहायता की आशा रखना नितांत अव्यावहारिक होगा। भारत को अपने गुट में मिलाने की आशा लेकर ही पंचवर्षीय योजना आदि के लिए पैसा आता है, अमेरिका का पैसा ही नहीं, उसके तंत्रज्ञ विद्यार्थी, पत्रकार और धर्म-प्रचारक भी बहुत बड़ी संख्या में यहां आते हैं। वे मन में कोरी सज्जनता का भाव लेकर नहीं आते। व्यवहार-दक्षता के लिए हमें उनकी नीति समझनी होगी।

वे तो जासूसी के लिए यहां आते हैं। यहां की सीमाएं, समस्याएं, पक्षोपपक्ष, उनके परस्पर संबंध तथा अपने लिए किसका उपयोग किया जा सकता है, इसकी पूर्ण जानकारी वे अपनी सरकार को देते हैं। देश के जितने अच्छे मानचित्र यहां की सरकार के पास होंगे, उससे कहीं अधिक सूक्ष्म मानचित्र जिनमें की पगडंडियां तक दिखाई गई हैं, अमेरिका तथा रूस में तैयार करके रखे गए हैं।

अपने कार्य (संघ) के संबंध में भी अमेरिका ने जानकारी प्राप्त की है और उसे यही पता लगा है कि भारत में उसके स्थायी प्रभाव-वृद्धि के मार्ग में सब से बड़ी कोई बाधा है तो वह संघ ही है।

रूस की चाल

अब जरा रूस का विचार करें। वह भी शांत नहीं। चीन को उसने हड़प लिया है। पूर्वी योरोप के छोटे-छोटे राष्ट्र उसके प्रभाव-क्षेत्र में हैं। आग्नेय में हिंदचीन आदि देशों को साम्राज्यवादी शक्तियों से मुक्ति का आश्वासन एवं सहायता आदि देकर अपने प्रभाव-क्षेत्र में लाने का प्रयास वह कर ही रहा है। अपनी साम्राज्यवाद की लालसा की पूर्ति के लिए सहायक अपने विचारों के लोग उसने हिंदुस्थान में उत्पन्न किए हैं। इस प्रकार पूर्वी योरोप से प्रशांत महासागर तक वह एक ऐसा शक्तिगुट तैयार कर रहा है जो एंग्लोअमेरिकी गुट को परास्त कर विश्व पर अपनी प्रभुसत्ता स्थापित कर सके। इसीलिए अमेरिका के समान उसकी ओर से भी धन और शस्त्रों की सहायता के द्वारा विभिन्न देशों में क्रांति कराने के प्रयास चल रहे हैं।

विश्व-युद्ध अनिवार्य

इन दोनों गुटों में कभी न कभी संघर्ष आएगा ही ? इसका कारण उनकी साम्राज्य-लिप्सा के अतिरिक्त और कुछ नहीं। तात्त्विक दृष्टि से तो उनका अंतर धीरे-धीरे कम हो रहा है, क्योंकि व्यक्ति-स्वातंत्र्य का आधार लेकर चलनेवाले (पश्चिमी देश) धीरे-धीरे समूहवाद की ओर तथा समूहवाद का आधार लेकर चलनेवाले (साम्य-वादी देश) व्यक्तिवाद की ओर बढ रहे हैं। दोनों गुटों में समाजरचना का अंतर तो कम है, किंतु दोनों ही अपने-अपने उद्घोषों की विजय चाहते हैं। अर्थात अपनी [illegible]

और वहां के लोगों का प्रभुत्व संसार पर स्थापित करना चाहते हैं। इससे अंततोगत्वा संघर्ष उत्पन्न होगा।

भारत को युद्धक्षेत्र बनाने की चाल

एक बात और ध्यान रखने की है। दोनों ही पक्ष अपनी भूमि पर युद्ध नहीं होने देना चाहते। भावी युद्ध सर्वसंहारक होने के कारण अपने राष्ट्र का विनाश उन्हें किसी भी स्थिति में अभीष्ट नहीं है। अतः वे किसी ऐसे राष्ट्र को खोज रहे हैं; जिसकी भूमि विशाल हो, जहां अपार जनसंख्या हो एवं जिसकी राष्ट्रीय भावना सुप्त हो तथा जिस राष्ट्र के विनाश से उन्हें कोई दुःख न हो। इस दृष्टि से भारतवर्ष उनके लिए मन-चाहा देश हो सकता है। यह देश उनके साम्राज्य-निर्माण में सहायक हो, इसी आशा से हिंदुस्थान में भिन्न-भिन्न शक्तियां अपना खेल खेल रही हैं। यह आशा उनके मन में इसीलिए पैदा हो सकी है, क्योंकि जहां खुद का राष्ट्रभाव नहीं, वहां किसी की गुलामी स्वीकार करने में संकोच नहीं होता। यदि प्रखर राष्ट्रभाव हो तो उनकी दाल न गले।

हमारी नीति क्या हो

ऐसी स्थिति में तीन मार्ग हमारे लिए संभव हैं। दोनों में से एक शक्ति-गुट के साथ मिलना अथवा दोनों से अलग रहना। इनमें से कौन सा मार्ग अपनाया जाए। क्या रूस और अमेरिका के साथ मेल किया जाए। इससे उन्हें तो आनंद होगा, किंतु हमारी स्थिति तो वैसी ही दुर्दशापूर्ण होगी, जैसी कि दैत्य और बौने की मित्रता से बौने की हुई थी। असमान शक्तियों के गठबंधन में दुर्बल की शक्ति अधिकाधिक क्षीण होकर बलवान को ही लाभ होता है। अमेरिका और रूस दोनों ही बलवान हैं। हम किसके साथ टांग बांधें ? यदि कहा जाए कि दोनों के साथ एक–एक टांग बांधें तो वह भी संभव नहीं, क्योंकि दोनों के मार्ग भिन्न एवं परस्परविरोधी हैं। अतः हम दोनों के साथ टांग बांधकर आत्महत्या करेंगे। अब केवल तीसरा मार्ग बचता है और वह है तटस्थ रहने का। किंतु तटस्थ केवल वही रह सकता है जो दोनों से अपनी रक्षा कर सके और दोनों के संघर्ष में अपनी भूमि पर संघर्ष नहीं आने दूंगा यह कठोरतापूर्वक बता सके।

राष्ट्र-संगठन चाहिए

तीनों ही अवस्था में जागतिक संघर्ष के बीच भी अपने राष्ट्र-जीवन को अक्षुण्ण रखते हुए अपने राष्ट्र का उत्कर्ष करने के लिए यदि किसी बात की आवश्यकता है तो, वह है शुद्ध राष्ट्रवाद को जागृत कर उसको शक्तिसंपन्न एवं चैतन्ययुक्त बनाना। यदि राष्ट्र में सामर्थ्य है तो किसी के साथ मिलना या न मिलना इसका विचार बाद में हो सकेगा। आज तो बल उत्पन्न करने का कार्य प्रथम है। यह बल किसी तात्कालिक समस्या के कारण चाहिए, ऐसी बात नहीं, अपितु सदासर्वदा के लिए चाहिए। इसलिए

हमने परिस्थिति-निरपेक्ष राष्ट्र-संगठन का सिद्धांत अपने सामने रखा है। संकट आए, तो काम करो और संकट टल जाए, तो सो जाओ, यह नीति हमने कभी अंगीकार नहीं की। राष्ट्रीय स्वतंत्रता के रक्षण के लिए राष्ट्र को अहोरात्र सन्नद्ध स्थिति में रहना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र के हितचिंतन में संलग्न, एक सूत्र में गूंथा हुआ, अनुशासित राष्ट्र के लिए अपना सर्वस्व बलिदान करने के लिए तत्पर ऐसी अवस्था हमें उत्पन्न करनी है। बिना इसके राष्ट्रजीवन सुचारु रूप से नहीं चलेगा। बडे-बडे आर्थिक, राजनैतिक सिद्धांतों की विवेचना चाहे हम कर लें, किंतु राष्ट्रजीवन को चलानेवाले प्राण का स्पंदन जब तक ठीक नहीं, तब तक यह सब शव के श्रृंगार जैसा ही होगा। हमारा काम तो ऐसा प्रबल जीवन उत्पन्न करना है, जो मृत्यु पर भी विजय पा सके। दुनिया साथ दे, या विरुद्ध हो, हमें तो सभी अवस्थाओं में राष्ट्र का जागरूक संगठन खडा करना है।

शासन और संगठन

संगठन का विचार करते समय लोग स्वतंत्रतापूर्व और स्वतंत्रतापश्चात् इस प्रकार के दो अलग कालखंड बनाते हैं। वे कहते हैं कि १९४७ के पूर्व अंग्रेज राज्य करता था, शासन-सेना-पुलिस सब उनकी थी, इसलिए उस समय अलग संगठन की आवश्यकता थी। किंतु अब तो शासन हमारा है, सेना हमारी है, पुलिस हमारी है। शस्त्रास्त्र के कारखाने थोडे ही क्यों न हों, हमारे पास हैं, आवश्यकता होने पर हम बाहर से भी शस्त्रास्त्र मंगा सकते हैं। शस्त्रास्त्र ले भी लेंगे। क्योंकि गत महायुद्ध में अमेरिकन हथियारों से ही अमेरिकन तथा जर्मन सिपाही युद्ध करते थे। अतः अब स्वतंत्र संगठन के जाल में न उलझते हुए शासनसूत्र को अपने हाथ में क्यों न ले लें, ताकि उसके आधार पर उपर्युक्त सभी साधनों पर अपना अधिकार हो जाए और हम सरलता से देश की रक्षा कर सकें।

सेना और समाज

किंतु सेना कहां से आती है? सामान्य समाज से ही तो। यदि समाज में राष्ट्र-भावना का पता नहीं, उसे देशभक्ति का ज्ञान नहीं, तो ऐसे समाज में से बनी सेना पर भरोसा रखकर कहां तक लडेंगे। वह तो पैसे के लिए अपने को बेच देगी। फिर सेना की शक्ति तो उसके पीछे कितना राष्ट्र-भाव लेकर चलनेवाला समाज विद्यमान है, इस पर निर्भर करती है। इसके अतिरिक्त आजकल तो सर्वांग युद्ध 'आल आउट वार' होता है। सेना को ही नहीं, समाज को भी पीछे रहकर (सेकंड लाइन ऑफ डिफेन्स) रक्षा की द्वितीय पंक्ति के रूप में रसद आदि जुटाना पडता है। गत महायुद्ध में बेचारे अंग्रेजों को पेट काटकर लडना पडा और इसके पश्चात् भी वहां के किसी राजनैतिक दल ने उसका राजनैतिक लाभ उठाने का प्रयत्न नहीं किया। चारों ओर से संकटों से घिर जाने के पश्चात् भी इंग्लैंड का प्रखर राष्ट्र-भाव ही उसकी विजय का कारण बना।

प्रथम कार्य करें

जिस कार्य की सर्वप्रथम तथा सर्व समय आवश्यकता है, उसे पूर्ण करना हमारा कर्तव्य है। बाकी बातें तो महासागर की लहरों की भांति जीवन के सुख-दुःख के रूप में आती-जाती रहती हैं। राष्ट्रीय चेतनायुक्त, सुसंगठित, सुसूत्र सामर्थ्य के निर्माण के अतिरिक्त और कुछ करणीय नहीं है। शक्ति होने से स्वेच्छा से, विवशता से नहीं चाहे जिसके साथ हाथ मिलाया जा सकता है। वैसे तत्वतः विचार करें तो हम जिस प्रकार धर्म और संस्कृति का आदर्श लेकर चले हैं जिससे व्यक्ति की प्रेरणा में समष्टि के सुख की उपासना निहित है, उसके अनुसार तो व्यक्ति-स्वातंत्र्य का उद्घोष करनेवाले (चाहे उसमें सत्यांश थोडा ही क्यों न हो) राष्ट्रों के ही हम अधिक निकट हैं। किंतु आज तो हमें स्वयं को अजेय सामर्थ्य से संपन्न ही बनाना होगा। फिर हम किसी को आश्रय भी दे सकेंगे, किसी के आश्रय में स्वयं जाने का तो प्रश्न ही हमारे सम्मुख नहीं आता। हम किसी के दयापात्र बनें, दीनता की भावना से किसी के साथ हाथ मिलाएं, यह तो दासता से भी हीन तथा त्याज्य मनोवृत्ति है। हमें तो वह सामर्थ्य उत्पन्न करना चाहिए कि लोग हमारी अनुकंपा की लालसा करें। हम चाहें तो किसी पर कृपा करें और यदि न चाहें तो शक्तिगुटों को अपने बाहुबल से किनारे धकेल कर स्वतंत्र एवं प्रभुत्वमय मार्ग पर अग्रेसर हों। प्रखर राष्ट्रभक्ति के अधिष्ठान पर राष्ट्र की यह स्थिति उत्पन्न हो सकेगी।

[नागपूर दि. १३–३–१९५४]

एक देश, एक राज्य

(बंबई मे प्रांतीयता-विरोधी संमेलन प. पू. श्रीगुरुजी की अध्यक्षता में हुआ था। श्री. जमनादासजी मेहता स्वागताध्यक्ष थे। बंबई के (मेयर) महापौर श्री. डाह्याभाई पटेल ने इस संमेलन का उद्घाटन किया था। प. पू. श्रीगुरुजी के अध्यक्षीय भाषण का वृत्त ३१ मई १९५४ के साप्ताहिक 'पांचजन्य' से यहां उद्धृत कर रहे हैं।)

— संपादक

मैं एक देश, एक राज्य का समर्थन करता हूं। परंतु वैसे मेरा राजनीति से कोई संबंध नहीं है। एक ओर दुनिया का एक राज्य बनाने की बात होती है, दूसरी ओर भारत को एक राज्य बनाने की बात कहते ही भौंहें क्यों चढ जाती हैं। भारत में केंद्रीय शासन होना चाहिए, और शासन-व्यवस्था की दृष्टि से राज्य समूह नहीं तो क्षेत्र रहने चाहिए।

अपने पूर्वजों ने जब भारत का वर्णन किया, तब भिन्न-भिन्न भागों का नहीं किया। अंग्रेजों की यह योजना थी कि भारत छोडने के पूर्व वे यहाँ पर भाषा संबंधी योजना

खडा कर दें और उन्होंने ऐसा ही किया। आज के नेता कहलानेवाले भी इस जाल में फँस गए और आज महाराष्ट्रीय और गुजराती आदि संस्कृति के नारे लगा रहे हैं। हमारी तो आसेतुहिमालय एक संस्कृति है और संस्कृति राष्ट्र की आत्मा होती है। बडे-बडे लोग इस प्रकार का प्रवाह चला रहे हैं कि विभक्तिकरण से राष्ट्र की एकता स्थापित होगी। बिहार में स्पष्ट रूप से चार भाषाएं हैं। इसी प्रकार देश के सभी प्रांतों में भिन्न-भिन्न भाषाएं हैं। इस प्रकार के विभक्तिकरण से क्या एकता स्थापित हो सकेगी?

काश्मीर को विशेष स्थान देने के कारण कितनी आपत्तियाँ आयीं यह स्पष्ट है। काश्मीर भारत का अविभाज्य अंग है। भारत का पूज्य प्रदेश है। डा. मुखर्जी ने आंदोलन किया। उस संबंध में लोगों से बात की जाती है, तो कहते हैं, 'हमें क्या पडी है? यह तो काश्मीरियों का प्रश्न है'। अब सिंध प्रांत की भी मांग की जा रही है। अतः आज तो ऐसा प्रतीत होता है कि भारत का चूर्ण हो रहा है। कुछ लोगों ने तो ऐसी भी घोषणा की है कि हमारी मांगों को स्वीकार नहीं किया गया, तो हम विदेशी सहायता से उसे हल करेंगे। कितनी घृणित मनोवृत्ति है! यहाँ तक कुछ लोग पहुंच गए हैं। इस पर हमें विचार करना है।

हमारी नीति तटस्थता की है। यदि ये दोनों दल (अमरिकी व कम्युनिस्ट) आपस में लडेंगे तो केवल शक्तिशाली ही तटस्थ रह सकता है। विभक्तिकरण से क्या शक्ति आ सकती है? केवल एकात्मता की भावना से ही राष्ट्र में शक्ति जागृत हो सकती है।

भारत में रूसवादी ही प्रांतीयता का अधिक समर्थन करते हैं। उनकी ऐसी कल्पना है कि भारत पर रूसी प्रभुता स्थापित करने में कठिनाई उपस्थित न हो, अतः वे भारत के टुकडे-टुकडे कर देना चाहते हैं। टुकडों के ही कारण हम हजारों साल गुलाम रहे हैं। राष्ट्र, समाज, भूमि, देश, धर्म, संस्कृति और भारती भाषा सब एक हैं। एक देश में एक ही शासन रहे, यही हमारी चेष्टा रहेगी। सबसे मिलकर आज हमने सोचा है कि राष्ट्रीयता को खंडित न होने देंगे। इसी विचार से यह कार्य प्रारंभ किया गया है। थोडे समय में ही हम अपनी भूमि को संपन्न करेंगे ऐसा हमें विश्वास है।

देश की संस्कृति, परंपरा, राष्ट्रधर्म और कुलधर्म की रक्षा करो। राष्ट्र को धर्मशाला बनाने से काम नहीं चलेगा। व्यापार की भाषा बंद कर हमें राष्ट्र की ओर देखना है। हमें प्रत्यक्ष कार्य करके अखंड भारत का निर्माण करना है। यही मुझे कहना है।

मैं एक स्वयंसेवक हूं और मेरी ऐसी अल्प आयु में मुझे ऐसा सम्मान नहीं देना चाहिए था।

(बंबई ३१–५–१९५४)

राष्ट्र-प्रासाद का निर्माण

(जालंधर में संघ—कार्यालय—संस्कृति—मंदिर—गृह—प्रवेश कार्यक्रम में प.पू. श्रीगुरुजी का भाषण)

जिस मकान में पिछले कई वर्षों से कार्यालय चला आ रहा है, वह मकान अपने स्वामित्व की वस्तु हुई और उसका कोई विशेष दिन देखकर गृह-प्रवेश का समारंभ करना है और उसमें मुझे उपस्थित रहना है ऐसा प्रांत के अधिकारियों ने मुझे कहा। इस इच्छा से मैं यहां आया हूं।

अनेक स्वयंसेवकों तथा अपने कार्य से स्नेह रखनेवाले अन्य बंधुओं ने इस कार्य में बहुत आत्मीयता के साथ सहायता की है और एक अच्छा, कुछ बड़ा भी, ऐसा स्थान अपने कार्य के लिए प्राप्त हुआ है। जिसके हृदय में संघकार्य के प्रति प्रेम है ऐसे प्रत्येक स्वयंसेवक के मन में इससे प्रसन्नता है। मैं भी सामान्य प्रसन्नता का अनुभव करता हूं। सामान्य मैंने इसलिए कहा क्योंकि जिस प्रकार के जीवन का मुझे लाभ हुआ है उसने किसी भी वस्तु का संचय अच्छा नहीं माना। संघकार्य में, कार्य के निमित्त जितना संग्रह करना आवश्यक होता है वह तो हम करते ही हैं। किसी वस्तु का संग्रह करने से मन में सुख होता नहीं, होना नहीं चाहिए। इसलिए कुछ ईंट, पत्थर, चूने, से बने भवन मात्र की प्राप्ति से प्रफुल्लित होने की आवश्यकता नहीं, ऐसा मुझे लगता है। कभी-कभी ऐसा भी लगता है कि स्थान-स्थान पर, अपने कार्यकर्ताओं को ईंट-पत्थर के लिए कहीं विशेष आकर्षण तो नहीं हो जाएगा ? आज यहां आते हुए मार्ग में इसी प्रकार का दृश्य देखने को मिला है। कई अन्य स्थानों पर भी जो कार्यालय अपने पास थे अब उनकी पुनर्रचना के विचार आते हैं। कई स्थानों पर उनके लिए झगड़े भी खड़े होते हैं। इसमें धन, मन, समय का व्यय भी होता है। यह सब समाचार भी मार्ग में मैंने प्राप्त किए।

आज प्रातःकाल गृह-प्रवेश का कार्यक्रम हुआ और यह विचार मैंने इसलिए रखा कि कहीं अपना इन बातों से कुछ प्रेम तो नहीं हुआ ? कोई भव्य कार्यालय है; बड़ा मैदान अपने हाथ में है, १०—५ संस्थाएं चली हैं, ऐसा मोह हृदय को पकड़ता तो नहीं ? अपने लिए इन बातों का आकर्षण नहीं रहना चाहिए। अब कोई स्वयंसेवक आकर कहता है कि बैठक के लिए छोटा-मोटा स्थान हो, जहां बैठकर, बैठकें गप-शप हो सके तो मुझे समझ में नहीं आता कि स्वयंसेवकों के मकानों का क्या हुआ ? हम सब स्वयंसेवक हैं। हमने संघकार्य को अपने हाथ लिया है। क्या हमने संघकार्य को घर से बाहर निकाल दिया है ? याने संघकार्य घर में नहीं गया ? अपने अंतःकरण का सर्व प्रमुख गुण वह नहीं बना ? जैसे सड़क पर चार व्यक्ति दिल बहलाने के लिए मिल लेते हैं, ऐसा ही संघकार्य का भी हुआ ? घर में बैठक के समय थोड़ी

बहुत असुविधा हो जाए तो भी क्या व्यवस्था नहीं हो सकती, ऐसा प्रत्येक स्वयंसेवक को सोचना चाहिए। अपना घर भी संघ का कार्यालय है यह विचार अत्यावश्यक है। तब हममें कार्य करने की कुछ पात्रता आयी ऐसा समझना चाहिए। नहीं तो संघ बाहर ही रहेगा, घर में उसका प्रवेश नहीं हो सकेगा। घर में प्रवेश नहीं, तो हृदय में भी नहीं। घर में गए तो शाखा की बातें भूल गए। अगर हम सोचते हैं कि अपने मकान में संघ नहीं रहना चाहिए और उसका कार्यालय अलग ही रहना चाहिए, फिर तो जैसे कोढी के लिए अलग मकान बना दिया जाता है, उसको उसी में रखा जाता है, वैसे ही क्या हम भी संघकार्य को कोढी के रूप में घर से निकाल देना चाहते हैं या अपने मकान को संघकार्य से अछूता रखना चाहते हैं? इसका मतलब यह है कि हमें इसके लिए दक्ष रहना चाहिए, सोचते रहना चाहिए।

मकान की रचना के समान ही राष्ट्र की रचना

अब यह मकान है। अपने लिए उपयोगी है। उसके भिन्न-भिन्न अवयव हैं। याने ईंट, पत्थर, चूना आदि यह सब एक-दूसरे से विशिष्ट रचना से जुडे हुए हैं। यदि इन ईंटों का ढेर बना कर, उसपर चूना लकडी और लोहा डाल दिया जाए, तो वे ढेर मात्र बने रहेंगे। उसको कोई मकान नहीं कहेगा। जब एक मकान की रचना का विचार उत्पन्न होता है तो हम उसका एक मानचित्र बनाते हैं। सामग्री इकठ्ठा करके एक अत्यंत उपयोगी, सुखकारक, रक्षा करनेवाले गृह का निर्माण होता है। यदि इस प्रकार का विचार न हो और कोई अस्थायी मकान चाहिए, तो ईंट के ऊपर ईंट रखकर, घटिया चूना लगाकर एक छोटासा मकान खडा किया जाता है। ऐसा मकान अच्छी प्रकार से रक्षा नहीं कर सकता, सुखकारक भी नहीं होता, याने उपयोगी मकान नहीं होता।

इस राष्ट्रजीवन का निर्माण कर उसकी सुदृढ रचना के लिए भी ऐसा ही विचार करना होगा। राष्ट्र में आज समाज ढेर के समान है। अतः उन्नति हो नहीं सकती। इसकी रचना करने की आवश्यकता है। प्रत्येक ईंट अपने-अपने स्थान पर रखी जानी चाहिए। यदि कोई बेढब हो, तो ठीक आकार दिया जाना चाहिए। समाज के उत्कर्षपूर्ण जीवन के लिए भी हमारा ढेर के रूप में रहना लाभदायक नहीं। इसकी सुरचना करनी आवश्यक है। हमें प्रत्येक छोटी से बडी शाखा तक महान रचना करनी है। अपने-आपको एक संगठन में समझना, विचारों को ठीक आकार देना और सबको संगठन का संस्कार प्रदान करना यह अपना कार्य है। इन संस्कारों के फलस्वरूप सबको सूत्रबद्ध रख सकें, यह अपनी शाखा का हेतु है।

समाज किन गुणों के आधार पर दुनिया में छोटा-बडा माना जाता है? अपने समाज में बल हो, बुद्धि हो तो उसका बडप्पन मानते हैं। समाज के उत्कर्ष का भार प्रत्येक व्यक्ति पर है। अपने में से प्रत्येक सुगढ है क्या? उसका स्वरूप, आकार, गुण वैसा है क्या। हम रोज प्रार्थना करते हैं। उसका अर्थ समझकर कितने बोलते हैं,

नहीं कह सकता। प्रार्थना का अर्थ हृदय में अंकित होकर, तदनुसार जीवनयापन करने का प्रयास करना यह अपनी प्रार्थना बोलने का मतलब है।

मातृभूमि की अवस्था चिंतनीय

प्रार्थना में सर्वप्रथम अंतःकरण की रचना के लिए विचार आता है। तदनुसार जीवनयापन का विचार भी है। मातृभूमि के प्रति श्रद्धा को भी प्रकट करते हैं। विचार करें कि दिन-रात मिलाकर हमें २४ घंटे मिलते हैं। अपने सारे काम-धंधे भी हम करते है, बाल-बच्चों के साथ सुख का अनुभव करते हैं। विचार करें कि हम तो रोज प्रार्थना करते हैं। उसमें " पतत्वेष कायो " भी बोलते हैं। तो क्या यह कभी स्मरण होता है कि यह मेरी मातृभूमि है और उसके लिए मुझे समर्पण करना है। किसी समय काबुल-कंधार भारत के प्रांत थे। तिब्बत, ब्रह्मदेश, कंबोडिया, सिंहलद्वीप, भारत के अविभाज्य अंग माने जाते रहे ऐसा वहाँ के पूर्वकाल के जीवन का उल्लेख मिलता है। धीरे-धीरे, एक-एक करके सब अलग हो गए। वह गांधार गया, त्रिविष्टप गया, अंग्रेजों की कूटनीति से ब्रह्मदेश व सिंहलद्वीप भी चले गए और छोटे-छोटे द्वीप भी गए। १०-१२ वर्ष पूर्व सिंधु का प्रदेश भी हमारे देखते-देखते अलग हो गया। सिंधु का तीर समस्त सुख का दाता है। उसके चारों ओर का पंचनद प्रदेश, जहाँ वेदों की रचनाएँ गायी गईं, वह भी गया। काश्मीर जो नंदनवन है, उसका बहुतसा हिस्सा भी गया। बंगाल की शस्य श्यामला भूमि भी गई, जिसमें कि हमने समस्त भारत की शस्य श्यामलता का सौंदर्य देखा था।

हम इतने करोड जीवित मनुष्य हैं। विचारी हैं। पर कभी-कभी बुद्धि का अभिमान हममें इतना हो जाता है कि हम दूसरे की ठीक बात को भी ठीक मानने का साहस नहीं करते। अपने सुख में चैनबाजी करते हुए जीवनयापन कर रहे हैं। हम खाते-पीते मौज उडाते चले जा रहे हैं। क्या एक विचारशील तथा सज्जन पुरुष के लिए इस प्रकार का अपमानित जीवन शोभनीय है? ऐसे पुरुष का धिक्कार होना चाहिए जिसके मन में ऐसा विचार आने पर बेचैनी उत्पन्न नहीं होती। मैं कार्य करूंगा ऐसा निश्चय नहीं होगा तो राष्ट्र के विशाल मंदिर का निर्माण कैसे होगा। हमारे हृदय में सदैव एक क्षुब्धता रहनी चाहिए। यह सर्वप्रथम गुण है।

हिंदुराष्ट्र की भावात्मक परंपरा

फिर भगवान् से प्रार्थना करते हुए हम कहते हैं कि यह हमारा हिंदुराष्ट्र है। यह एक ऐतिहासिक सत्य है। सत्य को अमान्य नहीं किया जा सकता है, अतः इस बात को हम उत्कटता से मानते हैं क्या? कहीं केवल प्रतिक्रिया के रूप में तो नहीं मानते? अपने को हिंदु क्यों कहना? क्या इसलिए ही, हम मुसलमान नहीं, ईसाई नहीं, इस-लिए हम हिंदु हैं? हमने १९३५ में अपने-आप को नॉन-मुस्लिम कहा। दूसरों के भय

से अपना कोई अस्तित्व नहीं माना । हम अपने को हिंदु के नाते नहीं मानते थे । इस प्रकार के हीनता-भाव भी रहे । इसके लिए एक और उदाहरण देता हूं । कुछ समय पूर्व गोहत्या निरोध के हस्ताक्षर इकट्ठे करने का बहुत बडा कार्य हमने किया । इसमें कुछ बडे लोगों की तरफ से आवेदन करने का कार्य भी था । इसके निमित्त हिंदुराष्ट्र के समर्थक ऐसे एक अच्छे ख्यात-नाम प्रसिद्ध पुरुष के पास गए । उसने कहा, क्या तुम बेकार गौ के पीछे फिरते हो । गाय कटती है तो कटने दो । परंतु यदि मुसलमान मारते हैं तब तो गोहत्या बंद करने का प्रश्न होना चाहिए । इसका अर्थ है कि उनमें गौ का प्रेम स्थायी, भावात्मक नहीं । वह केवल प्रतिक्रिया के रूप में है । इसी प्रकार हम हिंदु हैं, यह भाव, प्रतिक्रिया के रूप में तो नहीं आता ? वास्तव में अपने अंदर वह भावात्मक विचार अत्यंत स्पष्ट और विशुद्ध है । यह हृदय टटोलने की बात है । वह अपनी हिंदु परंपरा है । महापुरुषों ने अपने आदर्श हमारे सम्मुख रखे हैं । केवल नाममात्र के लिए हम हिंदु नहीं । हिंदुराष्ट्र कहने के पश्चात् इसके पीछे तपस्या, अपरिग्रह का जीवन हमारे महापुरुषों ने प्रस्तुत किया है । उस गुणपरंपरा का आविष्कार अपने में भी होना चाहिए । अपने यहां के लोगों का आध्यात्मिक जीवन रहा । हमें भी इसकी प्राप्ति की आकांक्षा रखनी चाहिए । यदि यह कुछ भी न रहा तो हम नाममात्र के हिंदु रह जाएंगे । उस परंपरा के लिए शोभायमान जैसे केवल तपस्वी जीवन की कल्पना ही नहीं है अपितु अपने धर्म के आधार पर अभ्युदय भी है व निःश्रेयस् भी है । यह सब मिलाकर जीवन पूर्ण होता है । अभ्युदय के लिए वीर पुरुष हुए जिसमें प्रभु रामचंद्र से शिवाजी तक अनेक महापुरुषों की परंपरा है । उन्होंने जिन गुणों की परंपरा रखी उस प्रकार के गुणों को प्राप्त करने की कोई भूख अपने अंदर है क्या ? आधुनिक काल में अनेक पहलुओं से पूर्ण शिवाजी का जीवन हमारे सम्मुख है । उनके जीवन में पावित्र्य, श्रेष्ठ चारित्र्य, पराक्रम, योग्य सेनापतित्व तथा राज्य-व्यवस्था की पात्रता सभी देखने को मिलती है । ऐसा श्रेष्ठ पुरुष जगत् में मिलता नहीं । अलेक्झांडर, जुलियस सीजर आदि दुनिया के बडे लोगों के जीवन का अध्ययन पिछले दिनों कुछ विद्वानों ने किया और कहा कि शिवाजी का जीवन ही सबसे बढ़कर है । अन्य महापुरुषों में अपने-अपने बडप्पन की बहुत बातें मिलती हैं । परंतु शिवाजी जिस प्रकार कष्टों को सहकर राष्ट्र को कष्टमुक्त कराने के लिए आगे बढे थे, उस प्रकार अन्य महापुरुष नहीं ।

अपने को हिंदु कहने के बाद अपनी विशिष्ट जीवन की पद्धति है इसका भान होता है । प्रातःकाल उठना, भगवान का नामस्मरण करना, सद्ग्रंथ का पठन करना यह सब प्रतिदिन के संस्कार ग्रहण करने की अपनी पद्धति है । क्या इसमें से कुछ अपने अंदर है ? हम अपने को किसलिए हिंदु कहें ? हिंदु आस्तिक है । वह सूर्योदय से पहले उठ जाता है । वह खाने-पीने को ही सब कुछ नहीं मानता । इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन कर संस्कार प्राप्त करने के लिए उत्कृष्ट रूप से प्रयत्न करना हमारा [illegible]

स्वाभाविक कर्तव्य हो जाता है।

राष्ट्र-रक्षा के लिए शक्ति

यह राष्ट्रमंदिर है। जैसे मकान की देखभाल न रही तो मकान टिकेगा नहीं। अगर पत्थर या चूना खराब हुआ तो मकान ज्यादा दिन टिकेगा नहीं। उसके देखभाल की आवश्यकता रहती है। उसी प्रकार इस राष्ट्र के मंदिर को चिरंतन रखने के उपाय अपनी प्रार्थना में कहे गए हैं। उसमें विश्व में अजेय सिद्ध हो ऐसी शक्ति चाहिए, ऐसा कहा गया है। प्रत्येक स्वयंसेवक को यह सदा स्मरण रहना चाहिए। हमारे लिए यह आव्हान है। प्रत्येक ऐसा शक्तिशाली हो कि वह स्वयं अजेय सिद्ध हो सके। हमारे यहां ईश्वर ने शरीर का रूप धारण कर अवतार लिया है। धर्म की प्राप्ति स्वस्थ शरीर में ही हो सकती है। " शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।" यदि शरीर जर्जर रहा, हड्डी-चमडा मात्र रहा, चार कदम चलने पर हांफने लगा तो हम कोई कार्य नहीं कर सकते। हमें तो बलवान शरीर की आवश्यकता है। कभी नींद मिली, न मिली, इसकी चिंता न रहे। हमें सब प्रकार से तितिक्षासंपन्न होना चाहिए। ऐसा बनने की अपने को आवश्यकता है। ऐसा बनने का हम क्या कभी प्रयत्न करते हैं? मैं, सामान्य व्यक्ति की दृष्टि से प्रार्थना के ' अजय्यांच विश्वस्य देहीश शक्तिम् ' में व्यक्ति को अजेय शक्ति प्राप्त हो, ऐसा भाव समझता हूं। यह अधिकृत अर्थ है, ऐसा तो मैं नहीं कहूंगा। परंतु उपयोगी अर्थ के नाते इसे अवश्य ग्रहण करना चाहिए। प्रार्थना में बार-बार शक्ति का उल्लेख भी इसीलिए है। आखिर शक्ति संगठित शक्ति है तथा प्रथम अपनी व्यक्तिगत शक्ति। हनुमान जैसा अकेला वीर लंका में जाकर सारी लंका को भस्म कर आया। रावण की इतनी शक्ति रहते हुए भी उसका कुछ न बन सका। इस-लिए हम अपने आगे शक्ति के नाते हनुमान का आदर्श रखें। प्रभु रामचंद्र, श्रीकृष्ण, उनके साथी अर्जुन, भीम, अनेक ऐसे महापुरुष हुए हैं। उन्हीं की परंपरा में छत्रपति शिवाजी का आदर्श आता है। कुछ लोगों ने भ्रम-फैलाया है कि वे दुबले-पतले पहाडी चूहे के समान थे। क्या केवल मोटेपन में ही शक्ति आती है? छत्रपति शिवाजी अत्यंत मजबूत शरीरवाले थे। वे एक सांस की दौड लगाकर पहाड की चोटी तक जाकर पहुंच सकते थे। पन्हालगढ से विशालगढ तक शत्रु से लडते-लडते पहाड की चढाई चढते रहे। यह सुदृढ शरीर के बिना कैसे संभव हुआ होगा? संघ का कार्य मखमल के गद्दों पर नहीं होता। इसलिए हमें अत्यंत कर्तव्यकठोर बन कर चलने की आवश्यकता है।

फिर यह भी विचार होता है कि शारीरिक बल तो आसुरी है। इसलिए प्रार्थना में भी कहा गया है कि शील भी चाहिए, शुद्ध चारित्र्य चाहिए, अंतर्बाह्य शुचिता हो। क्योंकि यदि सामर्थ्य बहुत रहता भी है तो जैसे रावण पराक्रमी था उसमें सामर्थ्य था, फिर भी उसे राक्षस कहा। राक्षस का धर्म ' परदारा-विमर्शनम् ' कहा गया है। ऐसे चारित्र्यहीन, पवित्रताहीन, मनुष्य की शक्ति किस काम की? शरीर जैसा बलवान हो

वैसा मन भी संयमित होना चाहिए। कहीं भी हरी घास देखकर तो जानवर दौडने लगता है परंतु मनुष्य तो दौडते हुए मन को रोककर शक्ति संग्रहित करता है व उससे अंतःकरण का पावित्र्य ग्रहण करता है। उसके अंतर्बाह्य पावित्र्य से समर्थ जीवन वरदान सिद्ध होता है।

शुद्ध चारित्र्य

अपने महापुरुषों में कितनी पवित्रता, शुद्धता, और सच्चारित्र्य था कि कोई भी मोह उनको छू नहीं पाया। इस प्रकार की एक आदर्श परंपरा रामचंद्रजी से छत्रपति शिवाजी तक मिलती है। एक बार शिवाजी के सैनिकों को शत्रु के एक सरदार की बहू, जिसे बहुत सुंदर बताया जाता है (मुझे तो पता नहीं सुंदर कौन होता है। भगवान के अतिरिक्त किसी को मैं सुंदर मानता नहीं और जिसमें जितना भगवान का अंश है उतना ही वह सुंदर है) शिवाजी के सम्मुख लाए। शिवाजी ने पूछा कि वह कौन है ? पता चला कि वह अमुक सरदार की बहू है। शिवाजी ने अपने सरदारों को डांटते हुए कहा, 'मां अपनी हो या शत्रु की उसका अपमान नहीं होना चाहिए।' कहते हैं कि शिवाजी ने उस महिला को लडकी समझकर आभूषण कपडे आदि देकर उसे सम्मान के साथ घर पहुंचाया। शत्रु जैसा करता है, 'इसलिए हम भी देखा-देखी वैसा ही करें तो उसमें और हममें क्या अंतर ? हम उल्टे अभद्र व्यवहार क्यों करें ? हम अपने आदर्श को क्या इसलिए छोड दें कि शत्रु वैसा करता है ?

हमें विचार करना चाहिए कि अपना मन कैसा है ? क्या उसमें पवित्रता, शुचिता है ? मैं मानता हूं कि वायुमंडल चारित्र्य के लिए पोषक नहीं है। उदाहरण के लिए यहाँ जहाँ मैं ठहरा हूं पास में एक विद्यालय है। भोजन के पश्चात् जाते हुए वहाँ बहुत बडी आवाज सुनाई दी। मैंने पूछा कि यह क्या है, तो एक अधिकारी ने बताया कि यह इस नगर का बहुत बडा विद्यालय है जिसमें विद्यार्थियों के सुधार के लिए बहुत कुछ किया जाता है। छुट्टी के समय रिकार्ड आदि बजाए जाते हैं। मैंने सोचा कि लडकों का सब प्रकार से चारित्र्य गठित करने के लिए विद्यालय होते हैं। यहाँ इतने बडे विद्यालय में लड़कों को पतित करने की इस प्रकार की बडी योजना मेरी समझ में नहीं आयी। तो प्रतिकूल वायुमंडल पर भी विजय पाकरे अपने पावित्र्य को कायम रखना अत्यंत आवश्यक है।

शील-संपन्न बडा सज्जन होता है। परंतु प. पू. डॉ. जी सज्जन के बारे में कडाई से बोलते थे। लोगों की धारणा है और ऐसा कहते भी हैं, कि वह व्यक्ति बडा सज्जन है। उसके मुंह में जबान नहीं। उसको कभी ऊंचा बोलते किसी ने सुना नहीं। वह घर के अंदर चारदिवारी में रहता है। उसका पहली बार तब पता लगता है कि जब चार आदमी उसको कंधे पर उठाकर घर से बाहर निकलते हैं। परंतु इस प्रकार के अकर्मण्य, चाहे वह कितने ही सद्गुणों से युक्त हो, सज्जन को क्या चाटना है ? सज्जन

को तो सदैव कार्यशील रहना चाहिए, उसे अपने कर्तव्य का ज्ञान रखना चाहिए। परंतु इतना कार्यतत्पर नहीं कि कर्तव्य-अकर्तव्य का उसे ज्ञान भी न हो। एक सज्जन का उदाहरण है कि उनका एक कार्यतत्पर नौकर था। बडा चालाक था। एक बार मालिक ने बाजार से घर पर संदेश भिजवाया कि कोई वस्तु मंगवानी हो तो नौकर को भेज देना। घर की स्वामिनी ने नौकर को मालिक के पास जाने को बताया। वह एकदम बाजार की ओर दौड गया। मालिक ने पूछा, जाओ घर से पूछ कर आओ कि क्या लाना है ? नौकर दौडता हुआ वापिस आया। घर की स्वामिनी ने कहा, यह टोकरी उठा लो और बाजार जा कर—वह इतने ही शब्द सुन, टोकरी उठा बाजार की ओर भाग निकला। उसने तीन चार बार इसी प्रकार की तत्परता दिखाई। अब सोचें कि यह तत्परता है, या मूर्खता है। इन सब बातों में विवेक की पात्रता चाहिए। क्या करणीय है, क्या त्याज्य है ? सोचकर, विचारकर चिंतन, से, अध्ययन से, उत्तम रीतिसे अपने को अधिकाधिक मात्रा में ज्ञानसंपन्न करते रहे इसकी आवश्यकता है।

जैसे गंगा की एक बूंद अनित्य है पर गंगा का प्रवाह नित्य है इसी प्रकार राष्ट्र नित्य चलनेवाला है। अतः राष्ट्र की उन्नति भी नित्य होती रहना चाहिए। उसके मार्ग में आनेवाली भिन्न-भिन्न सामयिक समस्याएं अनित्य हैं। अनित्य के प्रति क्या करना तथा नित्य के प्रति क्या ? अनित्य को कितना समय देना तथा नित्य को कितना इसका विवेक चाहिए। कुछ दिन पूर्व एक सज्जन मिले। उन्होंने कहा आपके पास संघ की इतनी बडी शक्ति है फिर भी कुछ 'कंस्ट्रक्टिव वर्क' (विधायक कार्य) क्यों नहीं करते ? मैंने पूछा आप 'कंस्ट्रक्टिव वर्क' किसे कहते हैं ? उन्होंने कहा, सडकें बनाना, सफाई करना, टिड्डियां मारना, रोगियों को दवाई देना, पाठशाला खोलना यह सब 'कंस्ट्रक्टिव वर्क' है। मैंने उनसे कहा, 'अपने यहां भी इष्ट व पूर्त इन दोनों' की कामना की गई है। इनमें ये सब समा जाते हैं। परंतु यदि एक-एक आदमी को देखें तो सब अव्यवस्थित चित्तावस्था में दिखाई पडेंगे। अव्यवस्थित चित्तवाले पुरुष यदि प्रसन्न भी रहें तो भी बडा खतरा है। 'अव्यवस्थितचित्तानां प्रसादोऽपिभयंकरः' क्या पता कभी आनंद में ही अपना गला नहीं घोट डालेगा ? अतएव चित्त अर्थात् मन व बुद्धि को संस्कारित करना यह प्रथम आवश्यक कार्य है। मन व बुद्धि की रचना के कार्य को क्या रचनात्मक कार्य नहीं कहेंगे ? समाज अपना है। उसके प्रत्येक व्यक्ति का मन, चारित्र्य क्या शुद्ध है ? अशुद्ध चारित्र्य से राष्ट्र की भलाई होगी नहीं। इसलिए व्यक्ति का चरित्रनिर्माण करना ही सर्वप्रथम रचनात्मक कार्य है। दूसरा प्रश्न है, समाज अस्त-व्यस्त है। इतने लोग हैं किंतु परस्पर मेल नहीं। समाज की सुव्यवस्थित रचना नहीं है। उसकी रचना करना क्या रचनात्मक कार्य नहीं ? ईंट-पत्थर की रचना की अपेक्षा मनुष्य की रचना अधिक महत्त्वपूर्ण है।' यह सुनकर उन्होंने कहा, 'हां यह ही प्रमुख रचनात्मक कार्य है।' यह तो उन्होंने विवेकशील होने के नाते मान लिया। ऐसी शुद्ध बुद्धि सबमें नहीं होती। अपने कार्य में ऐसे व्यक्ति मिलते हैं जो कहते हैं कि राजनीति

का कार्य कर डालें । एसी अनेक प्रकार की मोह की बातें उत्पन्न हो जाती हैं । ऐसे समय विवेक, ज्ञान की आवश्यकता चाहिए । राष्ट्र नित्य, बाकी सब बातें अनित्य । नित्य-कार्य को कभी किसी प्रकार की क्षति न पहुंचे । यह गुण अपने सब स्वयंसेवकों में उत्कटता से आना चाहिए ।

अपने इस प्राचीनकाल से चलते आए धर्म-कार्य में भी कहा है, "इदं ब्राह्ममिदं क्षात्रम् । शापादपि शरादपि" । इस प्रकार का दृढ भाव कि शत्रु की इतनी बड़ी सेना में भी मैं अकेला खडा हूं तो भी कोई परवाह नहीं । कर्तव्य भावना से ओत-प्रोत दृढता रखनेवाले निर्भय मनुष्य चाहिए ।

असंदिग्ध ध्येयनिष्ठा

लोगों को संघकार्य के बारे में भला-बुरा कहने में आनंद आता है । इससे कितने ही लोग कांप जाते हैं । तुम्हारे लडके को नौकरी नहीं मिलेगी यह सुनते ही कुछ को पसीना छूटने लगता है । मुझे कहीं नौकरी मिल जाए, ऐसा सोचनेवाले राष्ट्र के योग्य पुर्जे नहीं बन सकते । रामदास स्वामी ने कार्यकर्ता के गुण बताते हुए कहा कि "कार्य-कर्ता तोप का गोला होना चाहिए । जो निःशंक, निर्भय होकर चारों ओर शत्रु का विध्वंस करता है । परंतु अपने शरीर का क्या होगा इसकी परवाह नहीं करता" । यही वीरव्रत के नाम से हमने मांगा है । इन सब बातों की नित्य उपासना के लिए आजीवन, अहोरात्र, उत्कट निष्ठा होना आवश्यक है । अपने संगठन के प्रति तथा प्रतिदिन चलने-वाली शाखा-पद्धति के प्रति असंदिग्ध निष्ठा चाहिए कि इसी मार्ग से राष्ट्र का उत्थान होगा ।

एक बार रामदास स्वामी पंढरपुर गए । पंढरपुर में प्रत्येक आषाढी के दिन महा-राष्ट्र तथा कर्नाटक से लाखों दर्शनार्थी जाते हैं । रामदास स्वामी ने वहां भगवान के विग्रह को देखा । उन्होंने कहा, मैं इसे प्रणाम नहीं करूंगा । मैं जिसकी उपासना करता हूं वह कोदंडधारी है । यह तो अकर्मण्य बनकर, कमर पर हाथ रखकर खडा है । ऐसा कहने में उनका विठ्ठल भगवान के प्रति अनादर का भाव था, ऐसी बात नहीं । तुलसी-दास ने भी कृष्ण की मूर्ति को देखकर कहा था, कि भगवान् को मैंने इस रूप में देखा नहीं अतः मैं इसे पहचानता नहीं । मैं इसे कैसे प्रणाम करूं । उन्होंने भगवान् को संबोधित करके कहा भले ही तुम्हारा यह रूप सुंदर दिखाई दे परंतु जब तक धनुष्यबाण लेकर उपस्थित नहीं होते मैं प्रणाम नहीं करूंगा । कहते हैं उनकी प्रार्थना से कोदंडधारी के रूप में मूर्ति बदल गई । इतनी निष्ठा चाहिए । यह हिंदुराष्ट्र है । इसके प्रति मेरा निश्चय अडिग है । राष्ट्र के इस भव्य मंदिर के उत्तम पुर्जों के रूप में हम अपने को उपस्थित करें । प्रतिदिन की नियमित व्यवस्था को, तदनुसार चलाने की तत्परता निर्माण करें । फिर हम कह सकते हैं कि यह कार्य-शक्ति, अनुशासन से अजेय होकर राष्ट्र को वैभवसंपन्न अवस्था में बनाए रखेगी । यह अपना जीवनकार्य है तथा यही राष्ट्रनिर्माण

का कार्य है। इसी से आगे चलकर सब प्रकार का उत्कर्ष संभव है। पर बढ़कर काम नहीं होगा।

ध्वज में राष्ट्र का दर्शन

कभी-कभी अपने को लगता है कि हमने अपने हृदय में संघ धारण कर लिया है। परंतु जीवन में यदि किसी को आराध्य माना है तो सदैव उसका चिंतन करना होता है। कोई विष्णु का भक्त है, तो वह विशिष्ट प्रकार के कपडे, आभूषण आदि पहिन कर पूजा करता है। हम राष्ट्र के उपासक हैं। अपने सामने खडा होकर यह राष्ट्र एकदम तो आंखों से दीखता नहीं। यह ज्ञानदीप, तेजयुक्त, यज्ञ ज्वाला सम, संपूर्ण प्रेरणा देनेवाला ध्वज हमारे सामने रहता है। अतः उसकी पूजा हम नित्य करें। यज्ञ करनेवाले नित्य हवन करते हैं। हम भी एक घंटे का यह हवन-कार्य करें। प्रार्थना-रूप मंत्र कहते हुए भिन्न-भिन्न कार्यक्रमों की योग्य रूप से व्यवस्था कर उन-उन क्रियाओं द्वारा इसका पूजन करें। वही अपना हवन है। मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति की भांति संगठित-जीवन की उपासना के लिए यह नितांत आवश्यक है। एक दिन न करने से आलस्य पैदा होता है और आगे अनियमित रहने का स्वभाव बनता है। एक ही घंटा क्यों? इसे सोचें। यह कोई त्याग नहीं। इस एक घंटे पर मेरा कोई अधिकार नहीं। यह उसीका है, उसी के अनुकूल सब करना, यही संपूर्ण निष्ठा का मध्यबिंदु है तथा इसी का पोषण हम करें। अन्यान्य कार्य इसी के पोषण के निमित्त करें। तभी हम राष्ट्र के संगठित पुर्जे के रूप में खडे हो सकेंगे। मुझे विश्वास है कि हम संस्कार-संपन्न होकर, योग्य विचार ग्रहणकर, तदनुसार अपने जीवन में परिवर्तन करेंगे। यही सब स्वयंसेवकों से प्रार्थना है।

[जालंधर, दि. ३-३-'५९]

लेख

तिब्बत और कम्युनिस्ट 'मुक्ति'

[प्रस्तुत लेख में प. पू. श्रीगुरुजी की भविष्य में झांकने की पैनी दृष्टि का साक्षात्कार होता है। उनके द्वारा रूस को दी गई चेतावनी क्या सही सिद्ध नहीं हुई है? उनका विश्व-राजनीति का आकलन कितना अचूक था।]

तिब्बत का हृदयविदारक काण्ड सभी की जिह्वा पर है। संसार के सभी लोग उसके प्रति अपनी प्रतिक्रियाएँ प्रकट कर रहे हैं। किंचित् दृष्टिपात ही प्रकट कर देता है कि आज विश्व ऐसे दो गुटों में विभक्त है जिनमें विश्व-शान्ति जैसी महत्त्वपूर्ण समस्या के बारे में एक दूसरे से नितान्त विपरीत दृष्टिकोण है, मौलिक मतभेद है। यह अवस्था उस विश्व-शान्ति की समस्या के बारे में है, जो आज विश्व की प्रमुख शक्तियों के राजनैतिक सर्वेसर्वाओं के मस्तिष्क को परेशान किए हुए है, जो संसार के हर सच्चे शान्तिप्रिय नागरिक के हृदय को साले हुए है। एक दूसरी बात भी पूर्वाग्रह दोष से युक्त लोगों को छोड़कर सभी के लिए प्रत्यक्ष है कि भारत के नेता इनमें से किसी भी गुट से सम्बन्धित न होकर पूर्ण रूप से तटस्थता की नीति अपनाने के इच्छुक हैं तथा यह भी सिद्ध हो चुका है कि तटस्थता का वास्तविक अभिप्राय निस्सहाय की ऐसी निष्क्रियता या घटित घटनाओं के प्रति निर्बल की ऐसी उपेक्षा नहीं है जिसके कारण हमारे राष्ट्र की प्रतिष्ठा उस दर्शक की सी हो जाए जो सहानुभूति तो रखता हो किन्तु नपुंसक हो। भारत की इस तटस्थता की अनेकों के द्वारा यह कह कर आलोचना की जाती है कि वह निस्सहायता, निर्बलता, कायरता अथवा अदम्य साहस के अभाव के प्रदर्शन के अतिरिक्त कुछ नहीं है। अधिकांशतः देश का कार्यभार [illegible]

वाले उच्च पदस्थों की कार्रवाई ऐसी आलोचना को जन्म देती है। विशेष रूप से हमारे पश्चिम व पूर्व में स्थित उद्दंड पडोसी के व्यवहार के प्रति हमारे नेताओं ने जैसा व्यवहार किया है और कर रहे हैं, वह इस आलोचना की सत्यता का अकाट्य प्रमाण है। किन्तु यहां इन घटनाओं को या ऐसी ही अन्य घटनाओं को लेकर सरकार का समर्थन या विरोध करना अभिप्रेत नहीं है। यहां तो केवल तिब्बत के प्रश्न पर विचार करने का निश्चय किया गया है। इस बात की कतई चिन्ता न करते हुए कि इसका प्रतिवाद भी किया जा सकता है (यद्यपि मुझे इसकी सम्भावना है, क्योंकि आज लोगों को हर समय किसी भी वस्तु की और हर वस्तु की आलोचना करते हुए देखा जा सकता है), यह कहा जा सकता है कि तिब्बत के राजनैतिक और धार्मिक सर्वेसर्वा दलाई लामा को शरण देकर हमारी सरकार ने पहली बार ही क्यों न हो, यह कार्य किया है तथा उसका वह कार्य अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में गतिशील तटस्थता के उसके सिद्धान्त के अनुकूल है। हमारी सरकार की गतिशील तटस्थता की नीति के परिणामों के प्रति विभिन्न देशों ने जो प्रतिक्रियाएं व्यक्त की हैं, उनके रूप में तो संसार के दोनों गुटों के बीच विद्यमान तीव्र विरोध ही सामने आया है।

चीनी-रूसी गुट

इन दोनों गुटों में से अधिक सक्रिय तथा लड़ाकू है चीनी-रूसी गुट जिसके साथ उसके अनेक अनुचर राष्ट्र हैं तथा ऐसे अनेक राष्ट्रों में निवास करने वाले अनेक अनुचर लोग हैं जो अभी तक उक्त गुट के पूरी तरह गुलाम नहीं बन पाए हैं। निश्चय ही कुछ लोग ऐसे होंगे जो इस कथन का प्रतिवाद करेंगे और वे यह सिद्ध करने की कोशिश करेंगे कि सोवियत शास्ताओं की किसी प्रकार की कोई स्वार्थी आकांक्षाएं नहीं हैं; कोई साम्राज्यवादी लालसाएं नहीं हैं। वे जो कुछ कर रहे हैं वह तो है-पूंजीवादी साम्राज्यवादी पश्चिमी शक्तियों के जुए से निर्बल लोगों को मुक्त करना। वे तिब्बत के मामले में भी यही प्रमाण प्रस्तुत करने की चेष्टा करेंगे तथा चीनी, जो कि संसार पर राज्य करने के उद्देश्य से गठित सोवियत गुट का एक प्रमुख हिस्सेदार है, के 'पवित्र' इरादों के प्रति शंका व्यक्त करने वालों पर अनेक प्रकार के आरोप लगाएंगे। यहां यह तो उद्देश्य है नहीं कि 'पश्चिमी' अथवा 'सोवियत' गुट में से किसी की वकालत की जाय। यहां तो केवल एक ही उद्देश्य है कि एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शब्द 'मुक्ति' का अर्थ समझना और स्पष्ट करना। हर सम्प्रदाय की अपनी एक भाषा होती है और उसके प्रमुख शब्दों को प्रचलित अर्थ नहीं होता, अपितु वे तो अत्यन्त 'टेक्निकल' और [illegible] होते हैं। सोवियत प्रणाली ने भी ऐसे शब्द-समूह विकसित किए हैं जिनके शब्द तो प्रचलित रहते हैं किन्तु उनके अर्थ प्रचलित, सर्वस्वीकृत नहीं रहते। उनका प्रयोग इस प्रकार किया जाता है कि पाठक उनके प्रचलित अर्थों को मस्तिष्क में रखकर उनकी ओर आकर्षित होता है और फिर उससे वह अर्थ स्वीकार कराया जाता है [illegible] [illegible]

कल्पना भी नहीं रहती कि उस शब्द का वह अर्थ भी हो सकता है। 'मुक्ति' तथा उसी का भाव व्यक्त करने वाले 'मुक्ति सेना' आदि शब्द इसी प्रकार के हैं। पहले तो वे आकर्षित कर लेते हैं किन्तु अन्ततोगत्वा वे अपने खूनी पंजे दिखाते हैं, समय हाथ से निकल चुका होता है।

पाश्चात्य गुट

किंतु विस्मृत नहीं होना चाहिए कि मौलिकता का सारा श्रेय सोवियत सम्प्रदाय को ही नहीं दिया जा सकता। सदियों से आदमी जैसा का तैसा बना हुआ है। भौतिक प्रकृति पर विजय पाने और फलस्वरूप अधिक ऐशो आराम की जिन्दगी बसर कर सकने की दृष्टि से ये सब बातें सही हो सकती हैं। किंतु जहां तक मानव के मस्तिष्क व सांस्कृतिक उपलब्धियों का सम्बन्ध है, उनमें किसी प्रकार की उन्नति नहीं हुई है। इसी का परिणाम है कि इतिहास की पुनरावृत्ति होती दीखती है। भूतकाल में सभी साम्राज्यवादी शक्तियों ने इन्हीं भावों का प्रयोग किया है, अपनी सद्सद्विवेक बुद्धि को शांत करने के लिए, अपनी विस्तारवादी नीति, नृशंस लूटपाट को नैतिकता का जामा पहनाते हैं। विगत तीन शताब्दियों में संसार के असभ्य लोगों को सभ्य बनाने के नाम पर और इस सिद्धान्त की दुहाई देकर कि संसार के अन्य भागों में अंधकार में काम करने वाले 'दुपायों' को आदमी बनाने का भार श्वेत लोगों के कंधों पर है, योरोपीय शक्तियां दक्षिणी व उत्तरी अमेरिका, अफ्रीका, एशिया में विनाश और मृत्यु का सन्देश लेकर अपने साम्राज्य स्थापित करती हुईं, भूखण्डों को उजाड़ती हुई और कहीं तो वीरान करती हुई आईं। ईसाइयत और इस्लाम ने भी अपने विस्तार के लिए कोई श्रेष्ठ साधनों का अवलम्ब नहीं किया (इतिहास साक्षी है) किन्तु घोषणा सदा यही की कि 'काफिरों' को 'जादू-टोने' के जंगली विश्वासों से निकाल कर 'सच्चे खुदा' के पास ले जाया जा रहा है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो 'दोजख' से 'मुक्ति' दिलाकर 'बहिश्त' पहुंचने के लिए।

महमूद गजनवी

मेरे सामने अपने देश के इतिहास का एक विश्वसनीय उदाहरण उपस्थित है। सोमनाथ के मन्दिर की अतुल सम्पत्ति की कहानी सुनकर महमूद गजनवी ने मंदिर को लूटने के इरादे से चढाई की। उसे अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस देश के पंजाब, राजस्थान तथा सौराष्ट्र की हजारो मील भूमि को पार करना पडा। ये कोई निर्जन प्रदेश नहीं थे। वहां वीर पुरुषों का वास था और अनेक छोटे-छोटे राज्य थे जो गुजरात के शासकों से शिथिल निष्ठा से बंधे हुए थे। यह एक तथ्य है जो विशेष रूप से राजस्थान और सौराष्ट्र के छोटे छोटे राज्यों के बारे में तो सत्य है ही। कहा जाता है कि गुजरात का प्रभुत्व लगभग पूर्व में अजमेर तक, उत्तर में कच्छ तक, दक्षिण में [illegible] तक तथा पश्चिम में समुद्र तक व्याप्त था। यदि इन छोटे-छोटे राजाओं ने [illegible]

विरोध करने का निश्चय कर लिया होता तो लडकर सोमनाथ तक उसका पहुंचना असम्भव ही होता। इसके अतिरिक्त राजस्थान का रेगिस्तान उसके मार्ग में सबसे बडी बाधा थी और यदि उसने विस्तीर्ण रेगिस्तान को, जहां व्यवस्थित सडकें नहीं थीं, पार करने का इरादा किया होता तो वह भटक गया होता और आश्रय, भोजन व पानी के अभाव में इसकी सेना संकट में पड गयी होती। किन्तु एक सफल आक्रमणकारी के समान, उसने घोषणा की कि वह समस्त छोटे-छोटे राजाओं का मित्र है और गुजरात के साम्राज्यवादी जुएँ से उनको 'मुक्ति दिलाने' के विशेष उद्देश्य से आया है। 'मुक्ति' शब्द ने जादू का काम किया, राजा उसके चक्कर में आ गए तथा उन्होंने सामना करने के स्थान पर महमूद को हर प्रकार की सहायता देने का निश्चय किया। आगे की कथा सब को पता ही है, इसे फिर से कहने की कोई जरूरत नहीं। महमूद की हार्दिक इच्छा पूर्ण हो गई, किन्तु 'मुक्ति' के भ्रम में उलझे राजाओं को पता चल गया कि उसका अर्थ अपने आत्मीयों व सम्बन्धियों से 'मुक्ति' मिलने के अतिरिक्त कुछ नहीं था, और साथ ही साथ विदेशी दासता की निर्दय जंजीरें, जो कभी टूटने वाली नहीं थीं, उन्हें जकड लेनेवाली थीं। मानो वे 'जीवन' से मुक्त होकर 'बे रोक-टोक' विनाश और मृत्यु के मुंह में चले गए।

इतिहास दोहरा रहा है

लगता है, इतिहास दोहरा रहा है। समस्त प्रकार के विरोध को प्रभावहीन करके और सामूहिक हत्याकाण्डों तथा असभ्य बर्बरताओं को, निर्बलों की सहायता, मानवता, सुखी-सम्पन्न जीवन की स्थापना व विश्वशान्ति की खोखली बातों के झीने परदे से ढक कर आक्रमणकारी की विस्तारवादी योजनाओं की पूर्ति के लिए इस शब्द का आज फिर से प्रयोग किया जा रहा है। यह सब मानव की लिप्सा, विस्तारवादी वृत्ति तथा निरकुंशता का ही नया रूप है, जो आज तिब्बत में खुल कर मृत्यु का ताण्डव रच रहा है।

इतिहास का अध्ययन वर्तमान पीढी के लिए मार्गदर्शन के लिए है। उसकी शिक्षा साफ और स्पष्ट है। तिब्बत में चीनी विजय पर खुशिया मनानेवालों के लिए तथा अपने इस देश में भी इसी प्रकार की 'मुक्ति' का स्वप्न देखने वालों के लिए इतिहास का यह सबक है।

रूसियों को संकेत

इतिहास की रूस के लिए भी शिक्षा है। तिब्बत की घटनाओंसे वहां के नेता प्रसन्न हो सकते हैं, हो सकता है, वे सोच रहे हों कि उनका मित्र, सम्भवतः अनुचर-चीन अपना कार्य अच्छी प्रकार कर रहा है और विस्तृत क्षेत्र में सोवियत प्रभाव फैला रहा है। किन्तु यह भूलना नहीं चाहिए कि चीनियों के रग-रग में अहंकार, अंधराष्ट्रवाद और हठवादिता कूट-कूट कर भरी हुई है तथा अतीतकालीन व्यापक चीनी साम्राज्य का

आदर्श चीनी भूले नहीं हैं। यदि ऐसे चरित्र वाले एक अनुचर या यहां तक कि एक मित्र का दिमाग मिलने वाली विजयों से फिर जाए, तो वह स्वयं रूस व रूस की प्रभुता के लिए खतरा सिद्ध हो सकता है तथा कालान्तर में यह भी असम्भव नहीं कि आज का अनुचर कल स्वामी बन जाए, अति नृशंस स्वामी। ऐसी बातें पहले भी हुई हैं और आज भी क्यों नहीं हो सकतीं क्योंकि हम देखते हैं कि आदमी की प्रकृति सदियों के बाद भी वैसी ही है।

समय रहते उपाय किया, तो हो सकता है रूस इस होनी से अपनी रक्षा कर सके। तिब्बत काण्ड ने उसे एक अनुपम अवसर प्रदान किया है। यदि आज रूस के नेता हस्तक्षेप करते हैं, चीनी विस्तारवाद को रोकते हैं, तिब्बत में दलाई लामा के न्यायपूर्ण सुप्रतिष्ठित शासन को बनाये रखते हैं तथा तिब्बत की स्वाधीनता के जामीन रहते हैं तो चीन पर अंकुश रखने में यथेष्ट सफलता प्राप्त होगी और इससे भी बड़ी बात यह है कि इस कदम के उठने से दोनों गुटों के बीच विद्यमान सन्देह, भ्रान्ति तथा पारस्परिक अविश्वास का वातावरण समाप्त हो जाएगा जिसके परिणाम स्वरूप विश्व-शान्ति का मार्ग प्रशस्त होगा तथा उस तनाव का अन्त हो जाएगा जिससे मानवता बुरी तरह त्रस्त है।

किन्तु जिनसे यह सम्बन्धित हैं, वे क्या इतिहास से उपयुक्त शिक्षा ग्रहण करेंगे। यदि वे ऐसा करते हैं तो मानवता का संरक्षण होगा। अन्यथा हम सबको एक सुन्दर संसार की स्थापना के हेतु तुफानों के बीच एक बडे आकस्मिक संकट से सामना करने के लिए कमर कसना होगा।

(' पांचजन्य ' १८ मई १९५९)

स्वामी विवेकानंद को आदरांजलि

[स्वामी विवेकानंद जी के जन्म-दिवस पर उनकी पावन स्मृति को प. पू. श्रीगुरुजी द्वारा समर्पित शब्द-सुमनांजलि ।]

हे ज्ञान ज्योति !

भारत के रोग का सुस्पष्ट निदान कर अभ्युदय का मार्ग बतानेवाले हिंदुसमाज के वैभव-प्रासाद की नींव, धर्म, संस्कृति, उसका ऐकात्म्यबोधक तत्वज्ञान ही हो सकता है, आर्थिक या राजनैतिक सूत्रबंधन केवल नहीं, इस सत्य की घोषणा करनेवाले, तमोगुण व्याप्त अतएव अकर्मण्य एवम् प्रमत्त हिंदु समाज को सन्मार्ग प्रदर्शन कर तेजस्वी कर्म-योग का संदेश सुनानेवाले, उच्चनीचतादि भेदभावों के विध्वंसक, व्यक्तिमात्र में परमात्मा का दर्शन कर उसकी सेवा करने का आदेश प्रदान करनेवाले महाविभूति !

भारत की पराधीन अवस्था में भी संसारभर उसके तत्वज्ञान का जयजयकार करवानेवाले जगद्गुरो !

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में परकीयों का अंध अनुकरण कर अपने बुद्धि का खोखलापन, हीनता, दासता प्रकट कर भारत को अभारतीय जडवाद की ओर ले जानेवाले मूढ हिंदुओं के तथाकथित नेताओं के नेत्रों में स्वाभिमान का प्रखर अंजन डालकर उन्हें जगाने वाले—

भारत ही संसार का परमगुरु है इस सत्य को सिद्ध करनेवाले हे विश्ववंद्य महात्मन् ।

आज फिर से परानुकरण एवं अधार्मिकता के पथपर चलनेवाले, मानव से पशुत्व प्राप्त करनेवाले चारों ओर फैल रहे हैं। आज आपका पुण्य स्मरण कर आपसे हम धर्म और सन्मार्ग का पथप्रदर्शन चाहते हैं।

आपके आशीर्वाद से आज के अज्ञानजन्य अवगुणों को नष्ट कर, भेदरहित सूत्र-बद्ध हिंदुसमाज प्रबल एवम् स्वाभिमानपूर्ण होकर अपने महान् सांस्कृतिक गुणों का पुनरुज्जीवन कर प्रत्येक व्यक्ति को सुखपूर्ण जीवन प्राप्त करा देता हुआ संसार के सम्मुख स्पर्धाशून्य शांतिमय समाजजीवन का आदर्श खडा कर सकेगा।

इस उद्दिष्ट को पाने के लिए हम आपके उपासक आपसे यही वरदान मांगते हैं कि हमारा संपूर्ण जीवन इस महान् उत्थान-कार्य में व्यतीत हो, मार्ग में आनेवाले कष्ट भी सुखदायी हो सकें ऐसी हममें लगन हो और जिस भारतमाता का आपने जग में सन्मान बढाया उसकी सेवा में हम लोगों का जीवन समर्पित हो।

प्रभु ! आपके स्मृतिदिवस के अवसर पर ये कुछ शब्दपुष्प-रूखे-सूखे जैसे ही हों, अर्पण कर रहा हूं। यह अल्पपूजा स्वीकृत हो।

(दि. १०–१–५०)

हमारे राष्ट्रजीवन की परंपरा

(स्व. श्री. बाबासाहेब आपटे द्वारा लिखित 'हमारे राष्ट्रजीवन की परंपरा' नामक ग्रंथ को लिखी गई प्रस्तावना)

हमारे प्राचीन वाङ्मय में जगत्स्थितिपालक श्रीपरमेश्वर के जो अनेक अवतार वर्णित हैं, उनमें मत्स्यादि दस अवतारों को ही प्रमुख स्थान दिया गया है। वे सब अवतार, उनके आविर्भाव के समय तत्कालीन जनता की दयनीय अवस्था, उनका जीवन-कार्य, उनके श्रेष्ठ पराक्रम, उनके द्वारा किया हुआ दुष्ट-नियमन व साधु-सज्जनों का संरक्षण इत्यादि अनेक बातें, अखिल भारत के आबालवृद्धों की जिह्वा पर हैं। [illegible]

यह बात भी सर्वविदित है कि भारतीय जनता, जिसे आज 'हिंदु' कहते हैं, उसमें दशावतारों में प्रमुख गिने जानेवाले श्रीरामचंद्र एवं श्रीकृष्ण के उपासक हैं। प्रश्न उठ सकता है कि इन दस अवतारों के प्रति ही जनता में इतने एकमत से आदर की भावना क्यों है? अखिल विश्व और विशेषकर इस पुण्यपावन भरतभूमि में, समय-समय पर ऐसे असंख्य महापुरूषों के उत्पन्न होने पर भी, जिनमें कि अवतारों के विभूतिमत्त्व, श्रीमत्त्व एवं उर्जितत्त्व के लक्षण लागू हो सकते हैं, जनता ने केवल इन्हीं दस को ही चुनकर अपने हृदयों में क्यों बसाया? इसका व ऐसे अन्य प्रश्नों का उत्तर, अवतार के जीवन के सर्वमान्य उद्देश–

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभावामि युगे युगे ॥

से प्राप्त हो सकता है।

धर्म की परिभाषा

'धर्म' शब्द का यह प्रमुख अर्थ कि जिसके द्वारा अभ्युदय व निःश्रेयस की प्राप्ति होती है और समाज सुव्यवस्थित, सुखी, एवं एकसूत्र में गुंफित रहता है, सबको विदित है ही। अर्थात् ऐहिक जीवन को सुख साधनों आदि से अत्यंत समृद्ध कर, जिससे व्यक्ति को पशुत्व की ओर से मानवत्व की ओर, मानवत्व से दैवी-संपत्तिरूप गुण-समुच्चय प्राप्त कर मोक्ष की ओर बढने की प्रेरणा प्राप्त होती है तथा अनुकूल परिस्थिति का लाभ होता है, वही धर्म है। मानव स्वभावतः ही समाजप्रिय प्राणी (सोशल एनिमल) है। प्रत्येक भूभाग के मानव एकाकी न रहते हुए, आपस में मिलजुलकर रहते हैं अर्थात् अपना एक समाज बनाकर, उसमें प्रत्येक व्यक्ति को एक-दूसरे पर अवलंबित रहना पडता है। उसी प्रकार प्रत्येक को अपना जीवन निर्भयता एवं सुख से व्यतीत कर सकने के लिए इन सभी व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों को मित्रता, [illegible] तथा आत्मीयता से युक्त रखना आवश्यक होता है। दूसरे शब्दों में, समाज का सुव्यवस्थित होना आवश्यक है। अन्यथा अनवस्था निर्माण होकर, व्यक्ति को अपने [illegible] के निमित्त अपेक्षित शांति का लाभ कभी भी नहीं हो सकेगा। इसके साथ ही, ऐहिक जीवन में व्यक्ति के सर्वथा समाजाधीन होने के कारण, जिस परिमाण में समूचे [illegible] की उन्नति होगी, उसी परिमाण में प्रत्येक व्यक्ति का अभ्युदय साध्य हो सकेगा। समाज की उन्नति का अर्थ, उसके कुछ एक व्यक्तियों का भाग्यपूर्ण जीवन नहीं, अपितु प्रत्येक व्यक्ति को उसकी शक्ति-बुद्धि के अनुसार जीवन के सुखों की अधिक [illegible] प्राप्ति होना तथा प्रत्येक को अपनी उन्नति के हेतु अधिक से अधिक अवसरों [illegible] रूप सुख की प्राप्ति, हो सकता है। सभी व्यक्तियों को इस प्रकार सुख प्राप्त [illegible] की व्यवस्था होने पर ही, समाज सुव्यवस्थित रह सकता है। अतः यह स्वाभाविक [illegible] कि जिन्होंने इस सुव्यवस्था का निर्माण और उसकी रक्षा करने में [illegible]

श्रेष्ठता प्रकट की, उन्हीं की स्मृति समाज के हृदय-पटल पर अमिट अक्षरों में अंकित हुई और आनुवंशिक संस्कार के रूप में पीढ़ी प्रति पीढ़ी, समाज उन श्रेष्ठ व्यक्तियों का पुजारी बन बैठा।

समाज के सुव्यवस्थित सुखी जीवन के मार्ग में, दो प्रकार की बाधाएं उत्पन्न हो जाया करती हैं। जो समाज किसी विशिष्ट भू-भाग में बसा हुआ होता है और सभी व्यक्तियों का योग्य समन्वय कर अपने जीवन को सुख-शांतिपूर्ण बनाने में प्रयत्नशील रहता है, उस समाज पर अन्य भूभाग के निवासी समाज की ओर से होनेवाला आक्रमण ही पहिली और सहज ही ध्यान में आनेवाली बाधा है। ऐसे परचक्र के प्रसंग पर स्वार्थी, साम्राज्यलोलुप, तथा दुष्ट प्रवृत्तिवाले आक्रमकों का उन्मूलन कर, यहां तक कि आवश्यकता पड़ने पर उनका नाश करते हुए भी रक्षा करना, एक आवश्यक कर्तव्य ही होता है। जो अलौकिक पुरुष, ऐसे आक्रमण के कारण त्रस्त व दीन तथा आक्रमकों के भौतिक सामर्थ्य को देख हतप्रभ व निराश बने हुए समाज में, आशा का नवचैतन्य उत्पन्न करता है, समाज की समस्त शक्तियों का केंद्रीकरण कर अपनी नेतृत्वकुशलता के द्वारा समाज के हाथों दुष्ट आक्रमकों का पराभव कराते हुए समाज के त्राता के रूप में उठ खड़ा होता है, उसने अवतारकार्य का एक महत्त्वपूर्ण कार्य पूरा किया, ऐसा कहा जा सकता है। दशावतारों में से अधिकांश अवतारों के जीवन में उत्कटता के साथ व्यक्त हुआ अवतार-कार्य का यह भाग, हमें सहज ही दिखाई पड़ता है।

परकीय आक्रमणों का सामना करते समय, उस समाज में एक विशेष प्रकार की एकत्व की भावना जड़ पकड़ने लगती है। अन्य समाजों से अपने समाज की भिन्नता का ध्यान होने से, स्वकीय और परकीय की भावना व्यक्त होती है। एक विशिष्ट भू-भाग में तथा समान परिस्थिति में, समाज की सुस्थिति की समान कल्पना अंतःकरण में संजोकर, एक विशिष्ट जीवनप्रणाली अपनी है, इस बात का अनुभव स्पष्ट होने लगता है। अर्थात् उस भूमि का राष्ट्रीयत्व प्रकट होता है और अन्य लोगों के साथ चलनेवाले संघर्ष में अपने समाज के केवल व्यक्तियों का ही नहीं; अपितु अपने राष्ट्रीय वैशिष्ट्य का भी संरक्षण करना महत्त्वपूर्ण है, ऐसी कल्पना दृढमूल होती जाती है। परकीयों से संपर्क या संघर्ष निर्माण होने पर भी अपने वैशिष्ट्य को अक्षुण्ण बनाये रखने के निमित्त, प्रत्येक व्यक्ति पर दृढ संस्कार अंकित किये जाने की सावधानी रखने का प्रयत्न होता है। एतदर्थ ऐसे संस्कारों को अंकित करनेवाले तथा उन्हें उज्ज्वल रखनेवाले उपायों को व्यवहृत करने के हेतु समाज योजना करता है और उन योजनाओं के द्वारा अपने विशिष्ट संस्कारों को शुद्ध व सुरक्षित बनाये रखने का प्रयत्न करता है।

अपने भारतवर्ष में ऐसी योजना से संबंधित विचार, अनेक प्रयोग करने के पश्चात् निश्चित किये गए। उनका सारांश में निष्कर्ष यही रहा है कि प्रत्यक्ष सत्ता व संपत्ति से अलिप्त रहनेवाला, ज्ञानसंपन्न, शीलसंपन्न, तपःपूत, अशेष समाज के उत्कर्ष के हेतु जीवन-सर्वस्व न्योछावर करनेवाला और अपने उज्ज्वल चारित्र्य, पावित्र्य व [illegible]

चिंतन के द्वारा समाज पर अपना प्रभाव रखनेवाला एक वर्ग होना चाहिये तथा उसे स्व-सत्ता को भी—यदि वह उन्मत्त व दुष्ट हो—समाज-कल्याणार्थ दंडित करते हुए उसके स्थान पर सच्ची लोकहितकारी सत्ता प्रस्थापित करनी चाहिये, समाज-शिक्षा द्वारा सभी व्यक्तियों में स्वकर्तव्य-जागृति करते रहनी चाहिये, कहीं पर भी अन्याय, अनाचार, दुःख आदि को उत्पन्न न होने देना चाहिये, यदि उत्पन्न हुए हों तो सर्वत्र नित्य संचार करते रहने के कारण उस ओर यथासमय ध्यान देकर, समाज की बिगडी हुई घड़ी को फिर से ठीक बैठा देना चाहिये। ऐसे वर्ग को निर्माण करना और उसका सभी प्रकार से संरक्षण व संवर्धन करना ही अपने भारतीय राष्ट्रजीवन का वैशिष्ट्य है।

किंतु कभी-कभी सत्ता इतनी उन्मत्त हो जाती है कि वह इस वर्ग के अंकुश को भी नहीं मानती। सत्ता के मद से उन्मत्त सत्ताधारी, स्वकीय होकर भी दुष्टता करने लगते हैं। उनके अत्याचारों से, प्रजा त्रस्त व दीन हो जाती है। सत्ताधारियों की हां में हां मिलानेवाले लोगों की ओर से अनेक अत्याचार होते हैं और समाज की घड़ी बिगडने लगती है। सत्तालोलुपता, उपभोगलालसा आदि दुर्गुण उत्पन्न होते हैं और स्वार्थ और फूट की प्रवृत्ति बल पकड़ती है तथा उसके परिणामस्वरूप राष्ट्रजीवन खतरे में पड़ जाता है। समाज पर राष्ट्रजीवन के समुचित संस्कार अंकित कर, उसकी (समाज की) धारणा करनेवाले वर्ग पर अत्याचार प्रारंभ होते हैं तथा उस वर्ग का ही नाश होने के चिन्ह दिखाई देने लगते हैं। उसका नाश याने राष्ट्र की संस्काररूप निधि का संरक्षण-संवर्धन करनेवालों का, याने पर्याय से राष्ट्रजीवन का ही नाश होने की आशंका दीख पड़ती है। समाज के सुव्यवस्थित सुखी जीवन के मार्ग में रोड़े अटकानेवाली, यह स्थिति दूसरी बाधा है। अपने प्राचीन जीवन में, ऐसी बाधा अनेक बार आयी, ऐसा दीख पड़ता है। स्वकीय किंतु उन्मत्त व अनाचारी बने हुए और इसीलिये भारत में राष्ट्रीय गुण के रूप में संरक्षित व संवर्धित की गयी दैवी संपदा से विमुख होकर आसुरी वृत्ति ग्रहण किये हुए, कभी कभी स्वसंस्कृति, स्वधर्म एवं स्वसमाज से भ्रष्ट हो तथा परकीय संस्कृति व समाज आदि से तादात्म्य प्राप्त कर और उनका पक्ष लेकर स्वसमाज एवं धर्म पर आघात करने के हेतु कटिबद्ध सत्ताधारियों के कारण, मानो अब सर्वनाश ही होगा ऐसी आशंका निर्माण करनेवाली स्थिति उत्पन्न हुई थी। इस प्रकार जब कि अधर्म का बोलबाला था, धर्माचरण करनेवाले साधुपुरुषों अर्थात् समाजहितैषी वर्ग पर अत्याचार करते हुए उनको नष्ट करने का प्रयत्न करनेवाले दुष्ट जन जब प्रबल हो चुके थे, उस समय उन उन्मत्त सत्ताधारी दुष्टों को दंडित कर समाजहितचिंतक तपस्वीजनों की रक्षा करनेवाले, समाज की घड़ी को पुनरपि ठीक बैठानेवाले अर्थात् धर्म-संस्थापना [illegible], जो असामान्य, अतिमानवी महापुरुष उत्पन्न हुए, पददलित समाज के सुप्त आत्म-विश्वास एवं सामर्थ्य को जिन्होंने जागृत किया, असीम कर्तृत्व, परमोच्च चारित्र्य, निरतिशय राष्ट्रप्रेम को जिन्होंने प्रत्यक्ष आचरण में लाकर दिखाया, व्यक्ति चाहे कितना ही महान् क्यों न हो, यहां तक कि सार्वभौम चक्रवर्तीपद पर ही वह अधिष्ठित [illegible]

हो, फिर भी वह राष्ट्र से कदापि महान् नहीं हो सकता और इसीलिये राष्ट्र एवं समाज का सम्मान करते हुए व्यक्तिगत मतों को उसके अनुरूप ढाल लेना, भावनाओं को वश में रखना, अवसर आने पर प्रजा के सुख तथा मार्गदर्शन के निमित्त अपने स्वयं के सुख को तिलांजलि देना ही व्यक्ति का परम कर्तव्य है, यह सिद्धांत जिन्होंने स्वयं के आचरण से समाज को सिखलाया, हमारे समाज के वही हृदयसम्राट एवं राष्ट्रगुरु-मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचंद्र व भगवान श्रीकृष्ण सर्वश्रेष्ठ अवतारों के रूप में समाज के प्रेमादर का केंद्र-स्थान बने।

इस प्रकार विचार करने पर हमें सिद्धांत जँचने लगता है कि हमारे दशावतारों की कथा, भारतीय राष्ट्रजीवन के क्रमशः विकास का इतिहास है। इसी सिद्धांत को प्रस्तुत ग्रंथकार ने प्रस्थापित एवं विशद करने का प्रयत्न किया है। जिसके द्वारा भारतीय समाज-रचना की जड़ कौन सी है, उसमें किन गुणों को प्रधानता दी गई है, किन प्रवृत्तियों का त्याग करना सिखलाया है आदि बातें स्पष्ट होती हैं और समाज के राष्ट्र-जीवन की आत्मा अर्थात् उसकी संस्कृति के संरक्षण व संवर्धन का महत्त्व ध्यान में आ जाता है। इन सर्वश्रेष्ठ अवतारों के जीवनचरित्र का अवलोकन कर, अंतःकरण में यह बात दृढ़ हो जाती है कि संस्कृति-संरक्षण व संवर्धन का अर्थ प्रतिगामीपन नहीं, वह राष्ट्र को अमर बनाए रखने के निमित्त आचरणीय एवं अनिवार्य कर्तव्य है। विशेषतः आजकल, पुरोगामित्व के आकर्षक किंतु भ्रामक नारे का शिकार बनकर, संस्कृति-संरक्षण के कार्य की उपेक्षा एवं उपहास करने की जो प्रवृत्ति उत्पन्न दिखाई देती है उसे इन दशावतार कथाओं की ओर देखने की यह दृष्टि दूर कर सकेगी। जीवितावस्था के पश्चात् मृत्यु आती है, इसीलिये कालानुक्रम के आधार पर मृत्यु को निमंत्रित करने की क्रियाओं को पुरोगामी समझना जितना गलत है, उतना ही नहीं प्रत्युत उससे भी अधिक संस्कृति-संरक्षण की उपेक्षा कर, भारत के समाज व राष्ट्रजीवन के रहस्य को जानने का प्रयत्न न करते हुए, उस जीवनप्रवाह से विसंगत व बहुधा विरोधी तथा उस जीवन के लिए घातक ऐसी प्रवृत्ति एवं प्रणाली का आश्रय लेना गलत है। इस सत्य को, अपने सभी अवतारी पुरुषों की जीवनकथाओं ने अनेक बार सिद्ध किया है। वह सत्य इस दशावतार-कथाओं के विवरण में किस प्रकार सिद्ध हुआ है, यह बात प्रस्तुत पुस्तक को अध्ययनपूर्वक तथा पूर्वग्रहविमुक्त होकर पढ़ने से सहज ही ध्यान में आ जाएगी।

अपने भारतीय राष्ट्रजीवन के विकास का एवं उसके स्वरूप का दिग्दर्शन अपने प्राचीन वाङ्मय में किया गया है। वेद, इतिहास (अर्थात् रामायण-महाभारत) और पुराणों में कथाओं व रूपकों के रूप में, अशिक्षित आबालवृद्ध सभी को [illegible] रोचक प्रतीत होनेवाले स्वरूप में, अपनी संस्कृति अर्थात् राष्ट्र का इतिहास [illegible] किया गया है। उनमें समाविष्ट चमत्कृतिपूर्ण बातों को किनारे करते हुए, उनमें [illegible] रीति से प्रकट की गई अपनी राष्ट्रभावना को समझ लेना, अपने राष्ट्र के [illegible]

काल से सतत चले आए हुए जीवन का गौरवपूर्ण इतिहास ध्यान में लाना और सर्वसाधारण जनता को अपने राष्ट्र के अमरत्व की बात समझाते हुए अर्थात् उस अमरत्व को अपने राष्ट्र ने अनेक बार प्रत्यक्ष प्रलय जैसे भीषण सर्वसंहारक संकट पर भी विजय प्राप्त करते हुए किस प्रकार सिद्ध किया है, इसे सोदाहरण समझाते हुए, जनता में आत्मविश्वास, स्वसामर्थ्य का समुचित अभिमान तथा अपने राष्ट्र के अतुल-नीय श्रेष्ठत्व का सुदृढ़ ज्ञान प्रसारित करना परमावश्यक है। हमने आज से पूर्व कभी भी संपूर्ण भारत एक राष्ट्र वाली बात का अनुभव नहीं किया है, राष्ट्र की कल्पना तक हमने पाश्चात्यों से ग्रहण की है और अब हमारा एक नवीन राष्ट्र बन रहा है, ऐसे अनेक भ्रामक तथ्यों का आज सभी ओर बोलबाला दिखाई देता है। इस कथन की पुष्टि में अनेक प्रचलित वाक्यप्रचार व शब्दप्रयोग उद्धृत किये जा सकते हैं। अर्थात् उज्ज्वल भविष्यकाल का निर्माण करने की दृष्टि से आवश्यक प्रेरणा, उत्साह एवं आत्म-विश्वास जिसमें से उत्स्फूर्त होता है, भावी राष्ट्रजीवन को परमश्रेष्ठ बनाने के निमित्त जिसमें से शक्ति, गुणसंपदा निर्माण होती है, अपने उसी गौरवपूर्ण इतिहास को, अपने एकरस, एकसूत्र जीवनप्रवाह का साक्षात्कार करते हुए, राष्ट्र को सुसंगठित एवं प्रभावी बनानेवाले स्फूर्तिस्रोत को ही अस्वीकार करने की प्रवृत्ति प्रबल हो जाने से, आज हमारे राष्ट्र के सम्मुख ध्येयशून्य, आदर्शहीन और इसीलिये निराशामय जीवन खड़ा दिखाई देता है। राष्ट्र के नाते अतिप्राचीन काल से अपने जीवन से निगड़ित श्रेष्ठ आदर्शों के दृष्टिपथ से ओझल हो जाने से, स्वाभाविकतया ही हमारा समाज स्वार्थी [illegible] बन, इन अवगुणों के कारण कलहप्रिय और इसीलिये सामर्थ्यहीन, अप्रति[illegible] [illegible] महान् आकांक्षाओं से च्युत होता हुआ दिखाई दे रहा है। ऐसे जीवन-मरण के [illegible] पर, सभी प्रकार के भ्रामक तथ्यों का निराकरण करने के निमित्त अपने राष्ट्र[illegible] के विस्मृत इतिहास का क्रमबद्ध प्रतिपादन करते हुए, इस सत्य का साक्षात्कार समाज के अंतःकरण पर अंकित करा देना नितांत आवश्यक है कि अनादिकाल से अपने भारतीय राष्ट्रजीवन का प्रवाह अखंड प्रवाहित है, उसकी गति अप्रतिहत है, वह [illegible] विश्वविजयी एवं गौरवपूर्ण है।

मेरे विचार में यह ग्रंथ, इसी आवश्यकता की पूर्ति के हेतु निर्माण हुआ है। [illegible] निहित विचारधारा, मैंने ग्रंथकर्ता के मुंह से सुनी थी। अब अनेक मित्रों के आग्रह[illegible] उसको उन्होंने यथाशक्ति सांगोपांग विवेचन के प्रयत्न के साथ, पुस्तकरूप में [illegible] सम्मुख प्रस्तुत किया है। हो सकता है कि इसमें प्रतिपादित कुछ मतों व अनु[illegible] किसी का मतभेद हो, किंतु मेरे विचार में ग्रंथ के इस मूलसूत्र से कि द[illegible] रूपकरूप में अपने भारतीय राष्ट्रजीवन का विकास दर्शाती हैं और अपना [illegible] अनादिकाल से चला आया हुआ स्वयंस्फूर्त है—परानुकरण से निर्मित नकली [illegible]— इस संबंध में किसी का भी मतभेद न हो सकेगा। जैसा कि अपने निवेदन में [illegible] महोदय ने स्वयं ही बताया है, इस ग्रंथ से अनेक जिज्ञासु [illegible]

चिरंजीव प्राचीन वाङ्मय की ओर आकृष्ट हो और परिणामस्वरूप उसमें निहित अमृत का आकंठ पान करने की सुवर्ण संधि हम पाठकों को प्राप्त हो तथा समाज में आत्मसाक्षात्कार के द्वारा स्वाभिमानी, सामर्थ्यसंपन्न, तेजस्वी तथा यशस्वी जीवनयापन करने का दुर्दम्य उत्साह निर्माण होकर दिन-प्रतिदिन वृद्धिंगत होता रहे, यही उस सच्चिदानंदघन, धर्मसंस्थापक, साधुसज्जनरक्षक, दुष्टविध्वंसक, दयाघन श्रीप्रभु के चरणों में प्रार्थना है, जिन्होंने कि मत्स्यादिअवतार धारण कर, इस भरतभूमि को परमपवित्र एवं देवदुर्लभ श्रेष्ठता प्राप्त कराते हुए, भारत को जगद्गुरु पद पर अधिष्ठित कर, अखिल मानव समाज को अभ्युदय-निःश्रेयस् हेतु धर्म का पाठ पढ़ाकर, सर्वत्र चिरंतन सुख एवं शांतिमय जीवन प्रस्थापित करने के स्वयं के कार्य पर उसे नियुक्त किया। अस्तु, इन्हीं शब्दों के साथ कुछ बढ़ी हुई सी यह प्रस्तावना समाप्त करता हूं।

(नागपुर दासनवमी, शके १८७२)

गोपाष्टमी

अति प्राचीनकाल से भारत में गोवंश की महिमा गाई गयी है। वेदों में अनेक स्थानों पर गोपूजा, गोरक्षा, गोसंवर्द्धन इत्यादि विषयक आदेश पाए जाते हैं। गोरक्षा एवं पूजा में मानव का संपूर्ण हित सन्निहित है, ऐसा गोवंश का गौरवपूर्ण उल्लेख किया गया है। इन बातों को सब विद्वान् जानते हैं। अब भी अनेक सत्प्रवृत्त महानुभावों ने संबंधित रचनाएं श्लोक आदि प्रकाशित कर इस विषय का यथार्थ ज्ञान भारतवासियों को प्राप्त करवाने का सुयोग्य प्रयत्न किया है। इस कारण यहां उपर्युक्त वचन उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं।

तदुपरांत पौराणिक एवं ऐतिहासिक काल में वही गोविषयक श्रद्धा प्रस्फुटित होती हुई स्पष्ट दिखती है। भारतीय जीवन के सर्वव्यापी आदर्श पूर्णावतार भगवान श्रीकृष्ण तो स्वयं गोपाल-गोविंद आदि नामों से पुकारे जाते हैं। आज का यह गोपाष्टमी दिवस भी उन्हीं के तथा उनके गोपवासियों के गोपालन के श्रद्धापूर्ण स्मरणार्थ ही मनाया जाता है। अनेक राजा, सम्राट, चक्रवर्ती अपने को 'गो-ब्राह्मण प्रतिपालक' के ब्रीदवाक्य से गौरवान्वित करने में धन्यता अनुभव करते थे। भारतीय राष्ट्रजीवन में से पराभूतता का पराभव कर आक्रमणकारियों का दमन करनेवाले स्वराज्य संस्थापक श्रीछत्रपति शिवाजी महाराज अपने निकटतम अतीत के तेजस्वी, सर्वगुणसंपन्न युगपुरुष इसी ब्रीदवाक्य से उद्घोषित किये जाते थे। बाल्यकाल से ही गोवध के प्रति उनकी व्यथा प्रकट हुई, यह सर्वविदित ही है। भारतीय सांस्कृतिक आधार पर पुनरुत्थान के कार्य में संलग्न अपने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के जन्मदाता के जीवन में आए ऐसे रोमहर्षक प्रसंगों से सब परिचित हैं, जब कि अपने धन या प्राणों को भी सहर्ष संकट में [illegible]

वधिकों से गोरक्षा की थी। आज की अन्यान्य संस्थाओं में जो अग्रगण्य रहे, उन सब ने गोरक्षा एवं गोसंवर्धन अपने जीवन का सर्वश्रेष्ठ भूषण माना। महात्मा गांधी ने तो गोवध का पूर्णतया बंद होना स्वराज्यप्राप्ति से भी अधिक महत्त्व का माना, यह तो सब जानते ही हैं।

अनादिकाल से इस प्रकार पूज्य एवं अवध्य होने पर भी भारत में गोवध कैसे चल पडा इस प्रश्न का उत्तर भी इतिहास देता है। जब कोई असंस्कृत आक्रमणकारी समाज किसी देश में विजेता के उन्माद से रहने लगता है तब अपने विजय का मानो रस लेने के लिए पराजित जाति को अपमानित करना, उसके श्रद्धास्थानों को नष्ट भ्रष्ट करना, उसका धन, मान आदि लूटना इत्यादि नृशंस अत्याचार करने के लिए वह प्रयत्न-पूर्वक प्रस्तुत होता है। साथ ही अपनी विजय तथा नवस्थापित सत्ता को बनाए रखने के लिए विजितों के सब मानबिंदुओं को ठेस लगाकर, नष्ट-भ्रष्टकर उनकी चित्तवृत्तियां इतनी आहत एवं स्वाभिमानशून्य बनाना कि उनके मन में कभी पुनरुत्थान का विचार ही उत्पन्न न हो, प्राप्त दासता में ही सुखानुभव हो, नूतन स्वामी की तन-मन-धन से, स्त्री-पुत्रादि समर्पण से भी सेवाकर उसे प्रसन्न रखने में ही जीवित-साफल्य है, ऐसा भाव उनके हृदय में रहे, कहीं, पुनरुत्थान का प्रयत्न हुआ तो उसी को जघन्य स्वामी-द्रोह मानने की विकृति ही उनका स्थायी स्वभाव बने, इस प्रकार की नीति विजेता आक्रमक अपनाते रहते हैं। इस ऐतिहासिक सिद्धांत को ध्यान में रखते ही विजेता सत्ताधीश बनकर यहां बसे हुए मुसलमानों ने एतद्देशीय राष्ट्रीय समाज की अनन्य श्रद्धा के विषय चुन-चुनकर क्यों नष्ट किये, अनेक पवित्र मंदिरों को तोडकर उनके भग्नावशेषों पर मस्जिदें क्यों खडी कीं, धर्मग्रंथों को क्यों भस्मसात् किया, प्रायः संपूर्ण देशभर पूज्य देवताओं की मूर्तियों के नाक, कान, हस्तपादादि खंडितकर उन्हें विरूप क्यों किया, इन सब आसुरी कृतियों के पीछे की मनोभावना स्पष्ट हो जाती है। इस दृष्टि से देखने पर मुसलमानों के ये दुष्कृत्य केवल उनके मुसलमान होने के कारण नहीं अपितु मानवसमाज की अविकसित, असंस्कृत, अतः आसुरी प्रवृत्ति के कारण हुए हैं, यह भी स्पष्ट होता है।

इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप भारत में स्थित मुसलमानों ने गोहत्या को मानो धार्मिक सत्कृत्य माना। ईद आदि त्योहारों पर गोहत्या मानो अनिवार्य विधि मानकर प्रकट रूप में एतद्देशीय जनता की भावनाओं को चोट पहुंचाने में अपने को धन्य माना। अन्यथा कुरान शरीफ में गोवध का विधि या आदेश कहीं भी न होते हुए और गो-पालन पुण्य-कारक है, ऐसा उल्लेख होते हुए भी गोवध का उनके द्वारा यह विपरीत आग्रह क्यों? यह ठीक है कि गोमांसभक्षण उस धर्म में निषिद्ध नहीं है। परंतु आग्रहपूर्वक गोवध करने का आदेश भी नहीं है। फिर ऊपर कहे कारण के अतिरिक्त यानी केवल हिंदुओं को दुःख देकर अपने विजेतृत्व की भावना को तृप्त करना, इसके अतिरिक्त भारत की सर्वोच्च श्रद्धा के स्थान गोवंश की हत्या कराने के लिए अन्य कोई कारण प्रतीत नहीं होता।

बाद में परकीय शासन के रूप में आए हुए अंग्रेजों ने भी यह [illegible]

अधिक कुशलता से कैसे चालू रखा, संपूर्ण राष्ट्रजीवन को किस प्रकार संस्कृति-भ्रष्ट कर छोडा तथा इस राष्ट्र के जीवन के सनातन लक्ष्य पर से, मानव का चिरंतन आध्यात्मिक चतुःपुरुषार्थ प्राप्तिरूप विकास पर से उसकी दृष्टि उडाकर उसे हीन भौतिक अर्थ-काममय जीवन को ही सर्वस्व मानने की निकृष्टावस्था में कैसे पतित किया, इत्यादि बातें किसी से छिपी नहीं हैं। उनका शल्य आज प्रतिपल-प्रतिपद सत्प्रवृत्त राष्ट्रभक्तों को चुभता रहता है, यह बात भी नित्य अनुभव की है।

अंग्रेज शासकों की इस नीति के कारण, वे भी गोमांसभक्षक होने के कारण और साथ ही मुसलमानों के स्वभाव को देखकर उनको एतद्देशीय समाज के साथ संघर्ष करने में प्रोत्साहन देने से अपना आसन अधिक काल तक दृढ रह सकेगा, यह सोचकर गोवध बहुत बडे परिमाण में चलता ही रहा।

किंतु अब तो अंग्रेज का शासन नहीं है। मुसलमान भी यहां विजेता के रूप में नहीं किंतु इसी देश में एतद्देशीय हिंदुसमाज के साथ रहने के लिए विवश (उक्त समाज की आज की दृग्गोचर होनेवाली भावनाओं को देखकर यह शब्द प्रयोग करना पडता है) है। इस अवस्था में परस्पर की भावनाओं, श्रद्धाओं का आदर कर सुव्यवस्थित, सुसूत्र शासन निर्माण करने के लिए प्रयत्नशील होना परमावश्यक है। हिंदुसमाज ने सदा ही सब धर्ममतों का सत्कार कर अपना कर्तव्य पूरा कर रखा है। अब मुसलमान, ईसाई आदि समाजों को अपने कर्तव्य को समझकर चलने की, भारतीय राष्ट्रजीवन की श्रद्धाओं को, सांस्कृतिक आधारों को अपनाने की, उन्हें जीवन में उतारने की आवश्यकता है।

संसार के परिवर्तनशील चक्र में जब कभी किसी देश पर दूसरे देशवासी अपना अधिकार कर लेते हैं तब वहां अपनी सत्ता दृढमूल करने के हेतु वे किस प्रकार स्थानीय जाति की जीवनधारा को हीन बतलाते हुए अपनी चालचलन, विचार-व्यवहार आदि का विजितों पर बलात्कार से या कूटनीति से संस्कार करते हैं तथा उनको अपमानित एवं स्वाभिमानशून्य बनाने के लिए उनके श्रद्धा के विषयों को जानबूझकर आहत या नष्ट करते हैं, इसका कुछ उल्लेख ऊपर किया गया है। जिन-जिन देशों पर ऐसी आपत्ति आयी उनके इतिहास को खोलकर कोई भी इसका प्रमाण पा सकता है। भारत में भी यही हुआ इसका अनुभव स्पष्टतया आ रहा है, यह भी करतलामलकवत् स्वयंसिद्ध है।

परंतु जब वर्षानुवर्ष प्रयत्न कर, अंतर की भग्न-श्रद्धाओं का आवाहन कर, पुनरुज्जीवित कर नवचैतन्य से युक्त हुई जाति इस परकीय सत्ता के चंगुल से अपने-आपको मुक्त करने में सफल होती है, उसके सम्मुख सर्वप्रमुख कर्तव्य यही रहता है कि वह अपनी परंपराप्राप्त जाति-जीवनाधार पवित्र श्रद्धाओं को जागृत करे, उन पर किए गए प्रहारों के लघु से लघुतम चिन्ह भी मिटा दे, परावलंबिता-दासता के कारण उसके जीवन की भ्रष्टता को जड से उखाडकर अपनी चिरंतन राष्ट्रीय अस्मिता [illegible] हृदय में साक्षात् खडी करे। जो जाति इस महान् कर्तव्य को पूर्ण करने की [illegible]

करेगी उसकी स्वाधीनता नाममात्र ही कहलाएगी। वह जाति मन से, व्यवहार से भूतपूर्व स्वामियों की दास बनी रहकर अपने जीवन में उसके पुनर्निमाण की, वैभवप्राप्ति की, जगत्वंद्यताप्राप्ति की प्रबल आकांक्षा अनुभव नहीं कर सकेगी। फलतः राष्ट्र में दायित्वहीनता, स्वार्थपरता तथा उच्छृंखलता का बोलबाला होकर राष्ट्र के कर्णधार कितनी ही उन्नतिकारक, आकर्षक योजना क्यों न बनाएं, सर्वसाधारण व्यक्ति उससे उत्साहित एवं कार्यप्रवृत्त नहीं होगा। अपने भारत की आज की स्थिति दुर्भाग्य से यही है। अंग्रेजों का शासन समाप्त हुआ। स्वायत्तता प्राप्त हुई। धूमधाम से स्वतंत्रताप्राप्ति मनाई गई। परंतु सहस्र वर्षों से राष्ट्रजीवन पर लगे हुए लांछन को दूर करने के लिए, जीवन के मूल से अटूट रूप से संलग्न श्रद्धाओं की ओर का दुर्लक्ष दूरकर उनके पुनर्जागरण के लिए, उन पर लगे कलंक धोने के लिए कोई पग नहीं बढ़ाया गया। आक्रमणकारियों की तात्कालिक विजय के चिन्ह आज भी विद्यमान हैं। उनके जीवन का प्रभाव हटाने के स्थान पर दासता में अपनाई गई चालचलन, वेषभूषा, भाषा, गृहव्यवस्था, कुटुंब-व्यवस्था खेल आदि मनोरंजन के प्रकार, इतना ही नहीं, विचार, आचरण आदि जीवन के अंग-प्रत्यंग की विकृतियों का ही स्वीकार करने की प्रवृत्ति, इन दास संस्कारों को ही श्रेष्ठ मानने की दुष्ट प्रवृत्ति पनपती हुई, पनपाई जाती हुई दिखाई देती हैं। इसका परिणाम चैतन्यहीन, कर्तृत्वहीन, चारित्र्यहीन अपमानित राष्ट्रजीवन के रूप में हुआ है, यह कोई भी देख सकता है। नाममात्र स्वतंत्रता, स्वतंत्रप्रज्ञाहीन राष्ट्रजीवन, यह आजका अपना चित्र है। अनादिकाल से चली आयी अपनी पवित्र श्रद्धाओं की उपेक्षा का ही यह [illegible] है। राष्ट्रजीवन की धारा परकीय आक्रमण से सहस्र वर्षों तक दबी हुई थी, लुप्त थी। स्वकीय शासन आने के पश्चात् आज का जीवन उस पवित्र धारा से जीवन-स्रोत से जोड़ा नहीं गया। अतः चारों ओर विफलता का, निःसत्वता का, जीवन की उमंग की कमी का चित्र खड़ा है। एक भीषण निराशा की छाया सब पर पड़ी है।

अपनी सर्वप्रिय भूमाता, अपनी मातृभूमि, खंडित हुई, पश्चिम पंजाब, पूर्व बंगाल नोंच लिया गया, काश्मीर को मानो विलग होने का प्रोत्साहन मिल गया, ब्रह्मदेश [illegible] सिंहल द्वीप, जो भारत के गौरवपूर्ण अविभाजनीय अंग हैं, मानो उनका अपना [illegible] नाता नहीं था, ऐसे बिछड़ चुके हैं—पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण माता का अंगभंग हुआ। किसी ने दुःख से एक आह भी न भरी। अनेक महाभाग अंगभंग का समर्थन [illegible] और सर्वसाधारण समाज को तो औदासिन्य ने इतना ग्रस लिया कि उसके [illegible] आवरण को यह महान् आपत्ति भेद न सकी। कहीं दुःख नहीं, कहीं क्षोभ [illegible] क्यों ? तो राष्ट्र की चिरकालिक श्रद्धाएं सो रही हैं। उन्हें जगाने के स्थान में [illegible] मूर्च्छित ही करने के मानो आयोजन हो रहे हैं।

इस श्रद्धाविनाश के होते हुए राष्ट्रोत्थान की आशा करना व्यर्थ है। अतः [illegible] जीवन की मूलभूत श्रद्धाओं का पुनर्जागरण अनिवार्य आवश्यकता के रूप में [illegible] सम्मुख है। राष्ट्रपरंपरा में निर्मित मानबिंदुओं की [illegible]

उनके ऊपर हुए आक्रमण के छोटे-बड़े सब चिन्हों को मिटाकर उन्हें पुनः शुद्ध स्वरूप में उपस्थित करने की नितांत आवश्यकता है। अपने चिरकालीन श्रद्धा-विषयों के प्रति पुनः पूज्यभाव जगाकर अपने समाज के व्यक्ति-व्यक्ति में नवोत्साह फूंकने की आवश्यकता है। अपने राष्ट्रोत्थान के लिए, राष्ट्रसम्मान की रक्षा के लिए सर्वस्व का बलिदान भी विशेष बात नहीं, इस शुद्ध भाव से परिपूरित कर्तव्यप्रेरणा जिससे जाग उठेगी ऐसी महान् श्रद्धा का पुनः स्थापन करने के अतिरिक्त और कोई श्रेष्ठ कर्तव्य नहीं है।

अपने राष्ट्रजीवन में ऐसा पवित्र श्रद्धाविषय कौन सा है? यह आबाल-वृद्ध सब जानते हैं। गौमाता-भूमाता का जीता-जागता स्वरूप, जीवन की शक्ति, तेज, ओज की प्रदात्री, शुद्ध सात्विकता की प्रत्यक्षमूर्ति, निरपेक्ष उपकार में रत आदर्श मातृस्वरूप, अपनी उत्कट श्रद्धा का पूजा विषय है। इस पवित्र श्रद्धा को प्रतिदिन गोहत्या द्वारा ठेस लगाते लगते हृदय बधिर एवं सद्भावरहित होने के कारण ही राष्ट्रभाव का भी लोप हो गया और सब प्रकार के राष्ट्रीय अपमान होकर भी जनसाधारण एवं जनाग्रणी उससे कुंठित या लज्जित नहीं हुए, न हो रहे हैं। अतः राष्ट्रोत्थान की तीव्र इच्छा, मातृभूमि के प्रति उत्कट भक्ति उत्पन्न होने के लिए सर्वप्रथम गोहत्या रूपी राष्ट्रीय श्रद्धा का यह हनन तुरंत बंद होना ही चाहिये। गोवंश की हत्या के रूप में राष्ट्रीय भावों का ही उन्मूलन जहां चलता रहे वहां स्वायत्तता, वह स्वाधीनता, विकृति ही मानना पड़ेगा।

जैसा उल्लेख हो चुका है, आजकल परकीय प्रभावों के कारण भारत ने भी अपने जीवन का लक्ष्य छोड़कर केवल क्षुद्र अर्थ को ही अपना लक्ष्य बनाना प्रारंभ किया है। अतः आजकल बड़े-बड़े विद्वान, ख्यातनाम सज्जन भी गोहत्या का आर्थिक दृष्टि से समर्थन करते हुए दिखाई देते हैं, गोहत्या-निषेध से चर्मव्यापार से होनेवाली आर्थिक डॉलर-प्राप्ति रुक जाएगी आदि-आदि अनेक आक्षेप खड़े करते हुए भी दिखाई देते हैं। गोहत्या निषेध के विचार को वायुमंडल में प्रेषित करने के उपरांत अनेक विद्वानों ने इन सब आक्षेपों का सांगोपांग विवेचन करने का निश्चय किया है। इसके पूर्व भी अनेक विद्वानों ने इस संबंध में आंकड़ों द्वारा इन आक्षेपों का खोखलापन सिद्ध किया हुआ है। परंतु मैं समझता हूं कि इस प्रश्न की ओर आर्थिक दृष्टि से देखना ही भूल है। यह तो अपने मानबिंदुओं की रक्षा का विषय है, रुपये-आने-पाई का कोई संबंध नहीं। श्रद्धा के विषय के संबंध में आर्थिकता का मापदंड लगाना अनुचित है। उदाहरण के लिए अपने राज्य का ध्वज है, कोई उसे उतार कर तोड़-फोड़ दे तो कौन सी हानि होगी? एक डंडा, कुछ थोड़ा-सा कपड़ा इतना ही आर्थिक दृष्टि से उसका स्वरूप है। परंतु यदि कोई आक्रमणकारी इस अपने राज्यध्वज को अपमानित करने के लिए शस्त्रास्त्र सहित सजकर आता है तो आर्थिक दृष्टि से अत्यल्प मूल्य के उस वस्त्र के निमित्त अनेक अपरिमित धन, असंख्य लोगों के प्राण आदि उस पर न्योछावर कर उसकी मानमर्यादा सुरक्षित करना, यही अपना कर्तव्य होता है। राष्ट्र को एकत्रित कर उसमें चैतन्य फूंकनेवाला वह मानबिंदु कितना भी धन-जन का मूल्य क्यों न देना पड़े बचाना [illegible]

उसी प्रकार अनादिकाल से भारतीय एकात्मता का स्वरूप, सर्व पंथोपपंथों में एक-सा ही पूज्य होने कारण सब के समन्वय का आधार, सर्वदेवताओं को अपने शरीर में धारण करने के कारण अति पूज्य, पावन, पवित्रता निर्मात्री, जीवनदात्री आदि सर्व प्रकार से राष्ट्र की उत्कट्तम श्रद्धा का स्थान गौ-गोवंश सर्वथा रक्षणीय है फिर आर्थिक दृष्टि से लाभ-हानि कुछ भी क्यों न हो।

राष्ट्रोत्थान के लिए अनिवार्य भावनाओं का पुनर्निर्माण करने की दृष्टि से अपने राष्ट्र की सनातन सांस्कृतिक जीवनधारा के खंडित प्रवाह को पुनः पूर्ण शक्ति से प्रवाहित करने की दृष्टि से, राष्ट्र की भावना का सनातन, चिरकालिक, परमोच्च श्रद्धाकेंद्र गोवंश का सर्व प्रकार से आदर हो, रक्षण हो, संवर्धन हो और गोवंश की हत्या के रूप में चल रहा राष्ट्रीय जीवन पर का लांछन पूर्णरूपेण नष्ट हो, इस विशुद्ध दृष्टि से गोहत्या निषेध की मांग करने का यह शांतिमय कार्यक्रम हम लोगों ने अपनाया है। यह मांग अखिल भारतीय जनता के हृदय की है। उसे प्रस्फुट करने के लिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का यह आयोजन है। संघ तो केवल निमित्त मात्र है। कहीं न कहीं, किसी न किसी ने कार्यारंभ करना होता है। इस विषय में संघ ने यह पद आगे रखा है, इतना ही।

अब समस्त भारतीय जनता ने अपने राष्ट्र की विशुद्ध दृष्टि रखकर मतमतांतर, पंथोपपंथ भेद, धर्म, जाति आदि भेद इन सब बातों को हृदय से निकालकर इस कार्य में संलग्न होने की आवश्यकता है। कोटि-कोटि हस्ताक्षर संग्रहित कर संपूर्ण भारत की संगठित एकमुखी मांग भारत के अनाद्यतन राष्ट्रपुरुष के अंतःस्थल की प्रबल पुकार के रूप में प्रकट हो, जिससे कि अपनी जनतंत्रीय सरकार जनता की श्रद्धा को समझकर संपूर्ण गोवंश हत्या निषेध विषयक योग्य निर्बंध (लॉ) बनाकर सहस्राधिक वर्षों से चल रहा यह राष्ट्रीय अपमान का कलंक सदा के लिए धो डाले।

(दि. २६–१०–१९५२)

राष्ट्रोन्नति का सच्चा मार्ग

(नागपुर के मराठी साप्ताहिक 'राष्ट्रशक्ति' के १५–१०–१९५५ के अंक में प्रकाशित लेख)

अंग्रेजों को अपने देश पर प्रत्यक्ष राज्य करना छोडे और एतद्देशीय नेताओं के हाथों सत्ता सौंपे ८ वर्ष पूर्ण हो चुके हैं। इस अवधि में देश में अनेक महत्वपूर्ण घटनाएं हुई हैं। अपने ही देशबांधवों ने, देश के लिए नया संविधान तैयार किया, तद-नुसार नए चुनाव करा कर राज्यशासन प्रारंभ हुआ है। बड़ी-बड़ी औद्योगिक योजनाएं सामने आयीं। कुछ का काम भी प्रारंभ हुआ। ऐसी विविधतापूर्ण ...

परकीयों के सामने किया जाए तो वे भी दांतों तले उंगली दबाने लगें, निर्माण करने की घोषणाएं हुईं। ये सारे कार्य विदेशी ऋणों और बढते कर-भार के द्वारा पूर्ण करने का प्रयत्न शुरू हुआ। नया इतिहास, नई समाजरचना आदि बातें नया रंग भरने लगीं। इनके गुण-दोषों की सराहना-आलोचना कर भिन्न-भिन्न राजनैतिक संस्थाएं अपनी-अपनी लोकप्रियता बढाने के प्रयत्नों में मग्न हो गयीं। विदेशों में दूतावासों की स्थापना, नेताओं के दौरे, विभिन्न देशों के सम्मेलन, पंचशील आदि समझौते, देश के महान् व्यक्तियों की भेंट-प्रतिभेंट तथाकथित सांस्कृतिक सम्मेलन और "सांस्कृतिक" प्रतिनिधिमंडलों की यात्रा-प्रतियात्राएँ, विश्व-शांति की घोषणा आदि से वातावरण व्याप्त हो गया। अपने प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू का शांतिदूत के रूप में असामान्य गौरव हुआ देखकर देशवासी फूले नहीं समाए।

यह सब कुछ हुआ है, फिर भी सुख-संतोष, स्वाभिमान और स्पष्ट ध्येय के कारण प्रतीत होनेवाली दृढता का अनुभव दिखाई नहीं देता। प्रतिदिन कहीं न कहीं किसी-न-किसी के द्वारा आंदोलन, सत्याग्रह; उन्हें नियंत्रित करने के लिए लाठीमार, गोलीबार, सज्जनों को कारावास, जुलूस, प्रदर्शन, भिन्नमतानुवर्ती संस्थाओं द्वारा एक-दूसरे पर कटुतापूर्ण हमले और उनके परिणामस्वरूप दिखाई देनेवाला केवल पारस्परिक द्वेष ही नहीं, तो शत्रुभाव आदि दुखेदे बातों का पग-पग पर अनुभव हो रहा है। स्वकीयों व अपने मतों के अनुसार चलनेवालों को छोड शेष सभी पराए, देशद्रोही, निर्मूलन करने योग्य, ऐसी असहिष्णु भावनाएँ उभर आयी हैं। कोई किसी का नहीं, सभी अपने-अपने स्वार्थ में लीन एकाध दल के सहारे एकत्र तो आते हैं परंतु स्वार्थवश और कारण मिथ्या व्यक्तिगत अभिमान के कारण पक्षांतर करने की शोचनीय अवस्था दिखाई देती है।

केवल व्यक्ति के सुख का विचार करें तो उसका भी अभाव बढा है। भावी सुखों की आशा से नए-नए करों तथा जीवनस्तर ऊंचा उठने की भ्रामक धारणा में से अनेक प्रकार के नए-नए खर्चों का भार, आय की अनिश्चितता, आय हो भी तो उसकी अपर्याप्तता, ऐसी अधिकांश समाज की अवस्था है।

सामाजिक जीवन की नींव ही ढह गई

समाज की ओर समाज के रूप में देखा जाए तो प्रतीत होता है कि सामाजिक जीवन की नींव ही ढह गई है। एक सहस्र से भी अधिक वर्षों तक न्यूनाधिक प्रमाण में दासता का अनुभव करने के फलस्वरूप आत्मविश्वास, समाजधारणा विषयक श्रद्धा, अपनी की जीवनरचनासंबंधी आस्था, सभी कुछ ढह गया है और स्वतः की सभी बातों के प्रति घृणा, अवज्ञा और अनादर की प्रवृत्ति बलवती हो गई है। साथ ही साथ, जिन्होंने दासता थोपी, उन परकीयों के विषय में श्रेष्ठता की भावना उत्पन्न होकर, उनकी समाज-रचना, उनका ज्ञान, उनका राज्यशास्त्र, आर्थिक नीतियाँ, नीतिकल्पनाएँ, रीतिरिवाज, वेषभूषा आदि बड़ी बातों से निरर्थक क्षुद्र बातों तक, सभी बातों में, उनके

ही उनकी विजय के लिए कारणीभूत माने जाकर; यह आशा होने लगी कि उनके अनुकरण से हमें भी श्रेष्ठता प्राप्त हो सकती है। इस मनोभूमिका के कारण समाजसुधार संबंधी जो-जो परिवर्तन सूझे उन्हीं का आजकल ढिंढोरा पीटा जा रहा है। एक ही छोटासा उदाहरण लें। इस समय हिंदु-समाज की जातिव्यवस्था नष्ट करने के आंदोलन की लहर चली है। सामाजिक परिषदों का आयोजन हो रहा है। विद्वत्चर्चाओं के लिए दो-दो सप्ताहव्यापी सम्मेलन भी हो रहे हैं। इनमें जातिव्यवस्था समाप्त करने के संकल्प प्रकट हो रहे हैं! किंतु जातिव्यवस्था नष्ट करने के बाद समाज की क्या रचना होगी, इसका स्पष्ट चित्र कोई प्रस्तुत नहीं कर रहा है। यही राग आलापा जा रहा है कि साधारणतः पाश्चिमात्य समाज के समान समाज की रचना की जाए। किंतु जातिव्यवस्था केवल हिंदुसमाज में ही परंपरा से चलती आ रही है। अतिप्राचीन काल में क्या था, इसका विचार फिलहाल छोड दें। विगत् सहस्र-डेढ सहस्र वर्षों का इतिहास देखने पर विदित होता है कि यह व्यवस्था दुनिया में अन्यत्र कहीं नहीं थी, वह केवल हिंदुसमाज में ही थी। इस अवधि में, इस्लाम का उदय होकर, उसने धर्मप्रसार के साथ ही साम्राज्यविस्तार करना भी ठान लिया। संपूर्ण यूरोप, आफ्रिका का संपूर्ण उत्तरी हिस्सा, आशिया में अरबस्तान, ईरान, मध्य रूस व चीन का भी बहुत-सा क्षेत्र उन्होंने जीत लिया और ईरान आदि देशों में संपूर्ण जनता को मुसलमान बना लिया। यूरोप में उस समय जो रोमन साम्राज्य था, वह नष्ट हो गया। अत्यंत शक्तिशाली माना जानेवाला ईरान का साम्राज्य धूल में मिल गया और इस्लामी साम्राज्य की शक्ति अत्यधिक बढ गयी। पहले जब शक्ति कम थी तब उन्होंने इन प्रदेशों पर सहजता से विजय प्राप्त की थी परंतु साम्राज्यवृद्धि और प्रबल शक्ति हो जाने के बाद जब वे हिंदुस्थान को जीतने के लिए आए तो कदम-कदम पर कडा संघर्ष करते हुए उन्हें संकट में ही समय बिताना पडा। लगभग एक सहस्र वर्षों तक प्रयत्न करने के बाद भी वे बहुत ही थोडी जनसंख्या को मुसलमान बना पाये और अंत में तो यहां के साम्राज्य के उनके सपने धूल में मिल गए। घमंड से निर्मित दिल्ली के 'तख्त' के टुकडे-टुकडे हो गए। 'अपना बादशाह हिंदु सेनापति के कृपाकटाक्ष पर जीवन व्यतीत कर रहा है यह देखना उनके नसीब में आया। तात्पर्य केवल यही कि जातिसंस्था का न होना शक्ति का कारण नहीं है और केवल जातिव्यवस्था ही दुर्बलता व पराभव का कारण नहीं। अतः यह कहा जा सकता है कि आजकल स्वस्थ समाजरचना का वैज्ञानिक अनुशीलन कर, जातिविरहित समाजरचना का विचार नहीं हो रहा है अपितु केवल परकीयों की तात्कालिक विजय के कारण अपने विचारों पर आघात होकर उनका अनुकरण करने की आत्मविस्मृत भावना में से ये विचार हो रहे हैं।

यही बात विवाहविच्छेद, पैतृकधनाधिकार आदि विषयक कानूनों के संबंध में भी कही जा सकती है। विवाहविच्छेद में तो सामान्य मानवता के दृष्टिकोण से भी [illegible] हुआ है, यह दिखाई नहीं देता। अन्यथा, पति या पत्नी कुष्ठ रोग से [illegible]

पागल हो जाने पर मानवता का स्मरण कर, आमरण पीडित जीवन सहयोगी की सेवा करना छोड, उसका त्याग करने की छूट देने का विचार किसी के मन में भी न आता। परंतु, तब तो यह दिखाई देता कि विजयी विदेशियों की दासता में रहने के कारण हुए संस्कार घुल गए हैं। परंतु ठीक इसी बात का—स्वतंत्र मन, स्वाधीन बुद्धि, स्वतः के एक जीवन के तेजस्वी संस्कार का—अभाव है और इसीलिए समाजजीवन अन्य समाजों की विकृत प्रतिकृति बनता दिखाई दे रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सब प्रकार की अव्यवस्था फैली हुयी है। स्वत्व लुप्त हो गया है, झूठे आदर्शों का बोलबाला है, जीवन की स्वाभिमानपूर्ण स्वत्वाधिष्ठित निष्ठा का लोप हो गया है, इस तरह का एक दुःखद चित्र आंखों के सामने खडा है।

राष्ट्रीय उन्नति का सही मार्ग

विचारकों को चाहिये कि वे इस पर कोई उपाय खोजने का प्रयास करें, किंतु उसके पूर्व दृढता से विचारों की शुद्धि होना चाहिए। यह अभिमान हो कि यह अपना देश-यह भरतभूमि-अपनी मातृभूमि, पितृभूमि, धर्मभूमि, कर्मभूमि है। इस भूमि के सच्चे पुत्र कौन हैं, इसका विवेकपूर्वक विचार करें। हम सब हिंदु हैं। सभी जातियाँ, संप्रदायों, पंथों, भाषाओं, रीति-रिवाजों आदि वैविध्य से विभूषित यह संपूर्ण समाज, जो नगरों, ग्रामों और वनों में जीवन व्यतीत करता है, और जिसमें मूलभूत एकता विद्यमान है, इस पवित्र भूमाता की संतान है। इसी हिंदु–समाज का जीवन इस भूमि का राष्ट्रजीवन है। यहां की राष्ट्रीय परंपरा, राष्ट्रीय आदर्श, राष्ट्रीय श्रद्धा, संस्कृति, धर्म, तत्त्वज्ञान, कला, इतिहास, सभी कुछ हिंदुसमाज का ही है। उसमें अन्य कोई उट-पटांग और बाहरवालों से की गई मिलावट असहनीय है। ऐसे शुद्ध राष्ट्रजीवन का अभिमान ही राष्ट्रीय शुद्धि है। उस पर आघात, राष्ट्र पर आक्रमण है। इस प्रकार विचार-शुद्धि होगी, तभी अपने इतिहास के अनुरूप अपना जीवनप्रवाह द्रुतगति से आगे बढाने और उस प्रगति में से अपने राष्ट्रजीवन के आज भी अज्ञात असंख्य पहलू प्रकट करने की पात्रता उत्पन्न होगी। इन स्वाभिमानी भावनाओं से जीवन गतिहीन नहीं होगा। साथ ही नवीनता या पाश्चात्य विचारों की दासता के परिणामस्वरूप विपरीत अवस्था भी निर्माण नहीं होगी बरन् सच्चे अर्थ में राष्ट्र की स्वतः की शुद्ध नींव पर उन्नति करने की भावना रहेगी। उसमें यह भ्रांति भी नहीं रहेगी कि जो कुछ पुराना है, वह सब सोना समझकर उससे चिपके रहा जाए या फिर यह अविवेकपूर्ण धारणा भी नहीं रहेगी कि जो-जो कुछ नया है या पाश्चिमात्य है, वह सब ग्रहण करने योग्य ही है। आवश्यकता यह है कि [illegible] पर आधारित सदसद्विवेक बुद्धि का उपयोग कर, अपनी मानवी बुद्धि की [illegible] को ध्यान में रखकर, अपने समाज और समष्टि बुद्धि से सहस्रों वर्षों के प्रत्यक्ष [illegible] जीवन की कसौटी पर कसकर निश्चित किये गए प्रमेयों के अनुरूप विचार कर, जीवन की प्रगति करना है। विचारक इसका विचार करें।

इस लेख में, मस्तिष्क में उठे अनेक विचारों का जमघट अस्तव्यस्त व अल्प रूप में प्रकट हुआ है। विचारों की दिशा क्या हो इस विषय में जो कुछ सूझा, वह यहां टिप्पणियोंके रूप में लिख (नॉटिंग) दिया है। इसमें क्रमबद्ध विवेचन नहीं है, अपितु विचारों को गति प्राप्त हो, इस दृष्टि से जो विचार सूझे, उन्हें वैसा ही लिख दिया है।

योग्य शिक्षाक्रम अपनाएं

प्रश्न उपस्थित होगा कि उपाय के रूप में क्या सुझाव हैं? मुख्य उपाय तो यही है कि शिक्षाप्रणाली, शिक्षाक्रम व शिक्षा के विषय निर्दोष किए जाएं। भाडे की शिक्षा प्रणाली अपनी परंपरा में नहीं बैठती। ढेर सारे उदर-भरण के विषयों की भीड बढाने से उत्तम मानव, राष्ट्र के उत्तम अवयव का निर्माण नहीं होता। इसके लिए ऐसी शिक्षा आवश्यक है, जिसमें दृढ चारित्र्य, शरीर व मन की बलोपासना, राष्ट्रपरंपरा के उज्ज्वल नररत्नों के गुणों की अमिट छाप निर्माण कर सकनेवाले चरित्रों और धर्म के शाश्वत तत्त्वों को बिंबित करने जैसी पवित्र बातों के संस्कार बाल्यकाल से ही दृढ करते रहने की योजना हो। पेटभरू शिक्षा आगे यथावकाश दी जा सकती है। प्रथम चारित्र्य, शुद्ध राष्ट्रभावना, धर्मश्रद्धा की नींव पक्की की जानी चाहिए। इस दृष्टिकोण से शिक्षाक्रम और पाठ्यक्रम निर्धारित करना समुचित होगा। यह कहा जा सकता है कि सम्प्रति इस तरह का थोडा बहुत प्रयास होता है। किंतु दीर्घकाल के बाद अकस्मात् सत्ताप्राप्ति के कारण बडों-बडों के विचारों में भ्रांति उत्पन्न हो गई और तमोगुणी व्यक्ति जिस प्रकार आकाश को अपनी मुट्ठी में बांधने का अद्भुत किंतु हास्यास्पद प्रयास करता है, उसी प्रकार जागतिक, अंतर्राष्ट्रीयता, मानवता आदि मोहक भव्य किंतु जीवनोपयोगी गुणों की अभि-व्यक्तिहीन भावनाओं पर जोर देने की धुन सवार हो गयी। इसके फलस्वरूप अपने राष्ट्र-जीवन की परंपरा के अनुरूप धर्म, श्रेष्ठ चारित्र्य आदि के अध्ययन की आवश्यकता का विचार जाता रहा और जागतिक कहलानेवाली अनाकलनीय ध्येयविहीन बातों पर जोर देने का प्रयास हुआ। उसी प्रकार ऐसा भी कहा जा सकता है कि विशुद्ध राष्ट्रज्ञान न होने के कारण, या देश के अन्यान्य विरोधी समाजों के अस्तित्व को देखते हुए उनकी मर्जी संपादन करने की लालसा के फलस्वरूप श्रेष्ठ राष्ट्रीय पुरुषों के जीवनचरित्रों के पठन की हेतुपुरस्सर उपेक्षा हुई है। इसलिए इन संभ्रांतियों से सावधान रहकर योग्य शिक्षाक्रम का अनुसरण अनिवार्य है।

दास्य के अवशेष निःशेष हों

दूसरा महत्त्व का उपाय यह है कि दिन-प्रति-दिन के व्यवहार से विदेशी आक्रमणकर्ताओं की विजय के अवशेषों का निर्मूलन हो। शताब्दियों तक दासभाव से जिन बातों को प्रेम व आदर की भावना से स्वीकार किया, उन बातों के विषय में आकर्षण की जडें अंतःकरण में गहराई तक चली गयी हों तो, कोई आश्चर्य नहीं। [illegible]

राष्ट्रभावना के पोषण की दृष्टि से प्रतिकूल है। इसलिए इन सभी अवशेषों का सर्वथा त्याग किया जाना चाहिए। एक बार छोटे से बडो तक देशभर संपूर्ण समाज में दृढ, प्रखर व स्थायी राष्ट्रभाव दृढमूल हो जाए और जगत् के विभिन्न समाजों से क्या लेना, क्या न लेना आवश्यक व उचित है, ऐसी विवेक करने और सुनियोजित रूप में उन्हें आत्मसात. करने की पात्रता आ जाए तब फिर यह देखा जाएगा कि किससे क्या ग्रहण किया जाए। परंतु, विचित्र प्रतीत होने पर भी, अनुदारता का दोषारोपण होने पर भी सर्वप्रथम विदेशी दासता के अवशेषों को समूल उखाड फेंकना चाहिए। इसी से प्रखर राष्ट्रभक्ति निर्माण होगी और विश्व के विभिन्न देशों के समाजों की ओर निर्भयता के साथ, निःशंक होकर देखने की स्वाभिमानी दृष्टि प्राप्त होगी। अन्यथा अन्य सभी को श्रेष्ठ मानने की व स्वतः के राष्ट्र की अवज्ञा करने की सम्प्रति जो दासवृत्ति फैली है वह हम पर सवार रहेगी और सम्मान के साथ, गौरव के साथ, उन्नतमस्तक राष्ट्र के रूप में अपना जीवन कभी श्रेष्ठ नहीं बनेगा।

इन अवशेषों का विचार करने पर एक अत्यंत महत्त्व की बात ध्यान में आती है। अपने देश में ऐसे बंधु बडी संख्या में हैं जो मुसलमान और ईसाई बन गए हैं। इनमें से बहुतांश पीढी-दर-पीढी से इसी देश में रहनेवालों के वंशज हैं। उन्होंने, परकीय आक्रमण के आघातों में, भय, बलात्कार, प्रलोभन आदि के कारण; उन नए राज्यकर्ताओं के पंथ के प्रति भक्ति जागृत होने के कारण नहीं अपितु प्राणरक्षा का अन्य कोई मार्ग शेष न रह जाने के कारण निरुपाय होकर अगतिकता के कारण उनका पंथ स्वीकार किया था। अर्थात् उनका आज उन पंथों में बने रहना सहस्राधिक वर्षों की दासता का फल है। यह बात इसका प्रमाण है कि उनमें दासभाव विद्यमान है। यदि स्वतंत्रता का सच्चा उपभोग लेना हो तो हिंदुवंशज सभी मुसलमान व ईसाईयों को चाहिए कि पर-कीय बलात्कार के चिन्हरूप अपमानकारक पंथों व मतों का त्याग कर वे फिर से अपने पूर्वजों के स्वधर्म हिंदुधर्म में लौट आएं। तभी राष्ट्र की स्वतंत्रता को पूर्णता प्राप्त होगी और हमारे नेताओं को संत्रस्त करनेवाली स्थिति का अंत हो जाएगा और अपने देश में एकसंध, एकरस जीवन निर्माण होगा। समाजजीवन में सभी बंधुओं को अपने पवित्र धर्म के आदर्शों का अभ्यास होगा और फलतः एकजूट से समर्थ, स्वाभिमान के साथ विश्व के अन्यान्य आक्रमकों की चुनौतियों को स्वीकार कर व उन्हें पराभूत कर स्वतः का वैशिष्ट्यपूर्ण, वैभवसंपन्न, राष्ट्र पुनः प्रस्थापित हो सकेगा।

अपने देश का वर्तमान बिखरा हुआ, असंगठित, आत्मविस्मृत जीवन बदलने का यही एकमेव मार्ग है। इसी से वर्तमान दुरवस्था, पारस्परिक विरोध, विद्वेष, कटुभाव आदि दोष दूर होंगे, दैन्य, परानुवर्ती लांछित जीवन समाप्त होगा। ऐहिक सुख, ऐश्वर्य, व सम्मान प्राप्त करने के लिए आवश्यक बुद्धि की परस्परानुकूल अनुकूलित स्थिति उत्पन्न होगी और सनातन हिंदुराष्ट्र पुनरपि जगद्गुरु के रूप में मानवजाति के अग्रभाग में सुशोभित होने लगेगा। (दि. २५-१०-[illegible]

डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी

आज से लगभग १६ वर्ष पूर्व सौभाग्य से मेरी नागपुर में डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी से भेंट हुई थी। उन दिनों नागपुर में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का शिक्षा वर्ग चल रहा था और मैं उसका सर्वाधिकारी था। मुझ पर यह दायित्व प. पू. डॉक्टरजी द्वारा सौंपा गया था। प. पू. डॉक्टरजी पूना से नागपुर लौटने पर बीमार पड़ गए, इसलिए उन्हें घर पर ही शय्याशायी रहना पड़ा। उसी समय डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी बम्बई में आयोजित हिंदु महासभा की बैठक में उपस्थित रहकर लौटते समय मुख्यतः प. पू. डॉक्टरजी से मिलने के लिए नागपुर ठहरे। परन्तु प. पू. डॉक्टरजी की रुग्णावस्था के कारण, कुशल-क्षेम पूछने के सिवा, दोनों में कोई खास बातचीत नहीं हुई। डॉ. मुखर्जी ने एक विशेष प्रश्न अवश्य पूछा, क्या संघ हिंदु महासभा के राजनैतिक कार्यक्रमों में किसी हद तक सहयोग कर सकता है? प. पू. डॉक्टरजी ने इस संक्षिप्त प्रश्न का अति थोड़े शब्दों में उत्तर दिया था। उन्होंने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के राजनीति से दूर रहने का कारण, थोड़े से शब्दों में स्पष्ट किया। इससे अधिक कुछ वे कह नहीं सके।

श्रेष्ठ व्यक्तिमत्त्व

डॉ. मुखर्जी की प्रांजलता और अपने से भिन्न मत भी सहानुभूतिपूर्वक समझने की पात्रता, इन गुणों से मैं बहुत प्रभावित हुआ। वे अपने सिद्धान्तोंपर चर्चा करने को तैयार रहते तथा अपने प्राणप्रिय मतों के खण्डन में दिए गए प्रभावी तर्कों को मान लेते थे। ये गुण जो महान् व्यक्तियों में ही पाए जाते हैं, डॉ. मुखर्जी को जन्म से ही स्वभावतः प्राप्त हुए थे। मैं उनके इन गुणों के प्रति, पहिली भेंट में ही मुग्ध हुआ। तब से मेरे हृदय में उनके लिए अत्यधिक आदर पैदा हुआ। उनके नागपुर के वास्तव्य में, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के राजनैतिक कार्यों से दूर रहकर अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखने के रुख पर उनके साथ में चर्चा हुई। क्वचित् मैंने अपनी बात उत्तेजनापूर्ण शब्दों में रखी, तो भी मैंने अनुभव किया कि वे उत्तेजित न होकर शांत रहे; मैं उन्हें जो कुछ समझा रहा था उसके भाव ग्रहण करने को उत्सुक रहे, जो गुण प्रायः अन्यों में देखने नहीं मिलता। इससे मेरा आदर उनके प्रति द्विगुणित हो गया।

स्वातंत्र्यवीर के प्रति उत्कट भक्ति

इस भेंट के पश्चात् (मई १९४०) उनसे मेरी कई बार भेंट हुई और [illegible] से संबंधित विभिन्न महत्त्वपूर्ण विषयों पर हमारी चर्चा हुयी। बाद में यह [illegible] अनुभव करने पर, कि कोई भी राजनैतिक दल देश में रहनेवाले अहिंदु [illegible] तथा बहिष्कार नहीं कर सकता, उन्होंने हिंदु महासभा से त्यागपत्र दे दिया। फिर भी उनके हृदय में हिंदु महासभा के प्रेरणास्रोत तथा महान् आत्मा—अखिल [illegible] शूर देशभक्त स्वातंत्र्यवीर वि. दा. सावरकर—के प्रति प्रगाढ़ [illegible]

मैंने अनुभव किया। कई अवसरों पर उन्होंने मेरे पास स्वातंत्र्यवीर का उल्लेख जिन शब्दों में किया उनसे ज्ञात होता कि उनके हृदय में स्वातंत्र्यवीर के प्रति कितना उत्कट आदरभाव है। जब श्री. सावरकर पर यह आरोप लगाकर कि उनका महात्मा गांधी की हत्या के षडयंत्र में हाथ है, मुकदमा चल रहा था, तब डॉ. मुखर्जी अत्यंत क्षुब्ध होकर कहा करते थे कि एक श्रेष्ठतम सच्चे देशभक्त को इस तरह बदनाम करना घोर अन्याय है। उनका यह विश्वास था कि सत्ताधारी दल बदले की भावना से उन लोगों की लोकप्रियता को समाप्त करना चाहता था जो उससे मतभेद रखते और उसकी भीगी बिल्ली बनकर उसका अनुसरण करना नहीं चाहते थे।

मंत्रिपद से स्तीफा

अब यहांसे उनके जीवन का अंतिम पर्व प्रारंभ होता है। जब अपने ही करोडो देश-बंधु पूर्व-बंगाल में अवर्णनीय अमानुष अत्याचारों से पीड़ित हुए, अपने घरों से विस्थापित हुए और उन्हें भारत में आश्रय खोजना पड़ा, तब उन्होंने मंत्रिपद से स्तीफा दे दिया। जन-सेवा ही उनके जीवन का एक मात्र लक्ष्य है, सम्मान और काम के पदों से चिपके रहना नहीं, इस प्रकार की दृढता वे कई बार प्रकट कर चुके थे, इस बार भी उन्होंने वही किया। सरकारी मंत्री-पद के अप्रिय भार से जो उनके आदर्शों और दृष्टिकोण के विरुद्ध था, छुटकारा पा लेने के बाद वे सोचने लगे कि आगे क्या किया जाए। जिस व्यक्ति को राजनीति से विशेष रुचि हो वह ऐसे राजनैतिक दल को ढूंढेगा जो अपने दृष्टिकोण और सामर्थ्य से उसे संतोष दे सके। उस समय जो दल थे उनमें से कोई भी उन्हें पसंद नहीं आया। कांग्रेस राष्ट्रवाद के मार्ग से भटक कर सांप्रदायिक तुष्टीकरण की ओर बढ रही थी। उनकी दृष्टि से कांग्रेस देश के दुर्भाग्य और अपमान का साधन बन गई थी। उन्होंने हिंदु महासभा क्यों छोडी यह ऊपर कहा जा चुका है। सिद्धान्तों और कार्यक्रमों की कसौटी पर समाजवादी और प्रजा पार्टियां किसी ठोस नींव पर खडी उन्हें दिखाई नहीं दीं। साम्यवादी दल का विचार आना असंभव था क्योंकि वह दल अराष्ट्रीय, देशबाह्य, राष्ट्र-बाह्य और राज्य-बाह्य निष्ठा रखनेवाला रूसी आकांक्षाओं का पिछलग्गू, अभारतीय विचारधारा और हिंसा पर विश्वास करनेवाला था। उस समय जितने भी राजनैतिक दल थे उनमें से कोई भी उन्हें अपनी प्रतिभा के अनुकूल दिखाई नहीं दिया, इसलिए देश-विदेश की परिस्थितियों के अनुरूप क्या संपूर्णतः एक नया दल स्थापन करना संभव है, इस दृष्टि से उन्होंने स्वाभाविकतः अपने चारों ओर निरीक्षण किया।

नये राजनैतिक दल की स्थापना

उन्हीं दिनों जिनकी राजनैतिक कार्यों में विशेष रुचि दिनों-दिन बढ़ रही थी ऐसे एक मेरे पुराने सहयोगी लंबे अरसे से उनके निकट सम्पर्क में आए थे और [illegible]

कारण डॉ. मुखर्जी को इस विषय में मेरे सहयोग और सहायता प्राप्त करने की इच्छा हुयी हो। फलस्वरूप हम दोनों की कई बार मुलाकातें हुयीं और उनमें संबंधित विषय पर चर्चा हुयी। स्वाभाविकतः मैंने उन्हें सचेत किया कि संघ को राजनीति में न घसीटा जाए। संघ कदापि किसी राजनैतिक या अन्य दलों का पिछलग्गू नहीं होगा। राष्ट्र के सर्वांगीण सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन के कार्य में लगा हुआ कोई भी संगठन तबही सफलता प्राप्त कर सकता है जब तक वह राजनैतिक दलों की दासी बनकर काम न करता हो। यह भूमिका उन्हें सही जान पड़ी और उससे उन्होंने अपनी सहमति प्रकट की। साथ ही उन्होंने यह स्पष्ट किया कि नये दल को भी अपनी वृद्धि और विकास के लिए यह महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी होगी कि वह किसी दल का गुलाम नहीं होगा।

नये दल का आदर्श हिंदु राष्ट्र

इन आधारभूत मान्यताओं पर संघ और प्रस्तावित नये दल के परस्पर संबंध तय होने के उपरान्त यह विचार करना था कि प्रस्तावित दल की निष्ठा किन आदर्शों पर हो। संघ का तो एक निश्चित लक्ष्य और कार्य-पद्धति है, अतः यदि इस संगठन के किसी स्वयंसेवक का सहयोग चाहिए हो तो वह तभी मिल सकेगा जब दिखाई देगा कि आदर्शवाद के आधार पर दल की पृथक राजनैतिक प्रतिमा है। मैंने एक पत्रकार-परिषद में उनके द्वारा दिए गए एक वक्तव्य की ओर कि, हिंदु-राष्ट्र पर निष्ठा रखने के कारण, हिंदु महासभा साम्प्रदायिक है, उनका ध्यान खींचते हुए मैंने कहा कि संघ भी, हिंदु महासभा से अधिक तो नहीं परन्तु उसके समान ही, यह विश्वास करता है कि भारतीय राष्ट्र हिंदु राष्ट्र है, तो क्या वे संघ को भी अपने से दूर रखना चाहेंगे; फिर उसका परिणाम यही होगा कि वे न मेरे सहानुभूति की अपेक्षा कर सकेंगे और न ही मेरे सहयोगियों के सहयोग की जो हिन्दु-राष्ट्र पर दृढ निष्ठा रखनेवाले तथा उसके लिए अथक कार्य करनेवाले हैं। उन्होंने स्वीकार किया कि उन्होंने वह टिप्पणी असावधानी से की थी। उन्होंने हिन्दु-राष्ट्र के आदर्श से अपनी संपूर्ण सहमति प्रकट करते हुए कहा कि अपने संविधान द्वारा भारतीय राष्ट्रीयता का सही आकलन और प्रतिपादन नहीं हुआ है। उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि हिन्दु-राष्ट्र को उसका पूर्व-गौरव प्राप्त कराने का लक्ष्य आधुनिक जनतान्त्रिक राज्य की संकल्पना के विरोधी नहीं है, क्योंकि हिन्दु-राष्ट्र देश के सभी लोगों को पूर्ण नागरिक स्वतंत्रता, और राजनैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक प्रतिष्ठा का समान आश्वासन देता है। यह आश्वासन वह अहिन्दु सम्प्रदायों को भी देता है बशर्ते, वे राष्ट्रद्रोही कार्य न करें या राष्ट्र को उसके सर्वोच्च [illegible] के अधिष्ठान से षडयंत्र कर हटाने तथा सत्ता हथियाने की आकांक्षा न रखें। [illegible] अपने नये राजनैतिक दल के उद्देश्यों-नीतियों में उक्त तथ्य को स्पष्ट करने की [illegible] इच्छा भी प्रकट की। जब ऐसा मतैक्य हुआ तब मैंने अपने निष्ठावान और [illegible] सहयोगियों को चुना जो निःस्वार्थी और दृढ निश्चयी थे और जो नये [illegible]

का भार अपने कंधों पर ले सकते थे। उनमें विस्तृत दृढ नींव पर उस नये राजनैतिक दल को अखिल भारतीय प्रतिष्ठा और लोकप्रियता प्राप्त करा देने की योग्यता थी। इस प्रकार डॉ. मुखर्जी अपनी आकांक्षा भारतीय जनसंघ की स्थापना के रूप में साकार कर सके।

संघ-जनसंघ संबंध

डॉ. मुखर्जी को उत्कृष्ट कार्यकर्ताओं का समूह सौंपने के बाद, हमारी अपनी निष्ठा के अनुसार मैंने स्वयं को जनसंघ की आगे की गतिविधियों से पूर्णतः दूर रखा और संघ के साथ हमारे अपने हिंदुओं को संगठित करने के सांस्कृतिक दैनिक कार्य की ओर ध्यान केंद्रित किया। फिर भी समय-समय पर जब कभी हम दोनों मिलते थे तब वे जनसंघ की प्रगति और उसके आगामी कार्यक्रम या आंदोलन की जानकारी देते। मैं भी संघ-कार्य में उनकी सहायता और सहयोग लेता और वे भी हमारे कार्यकर्ताओं को जहां आवश्यक हो वहां खुल कर पूर्ण सहयोग देते। सार्वजनिक कार्यों में निकट आनेवालों में केवल औपचारिक मित्रता रहती है, परन्तु हम दोनों इस औपचारिकता को लांघकर, दिनों-दिन स्नेह-रज्जु के बंधन में दृढतर बंधते गए। हम दोनों अपने-अपने संगठन और कार्यक्षेत्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कदम परस्पर विचार-विनिमय के बिना नहीं उठाते थे। ऐसा करते समय हम इस बात का भी ध्यान रखते कि एक-दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप या दोनों संगठनों के परस्पर संबंध के विषय में भ्रम या एक दूसरे पर हावी होने का प्रयत्न न हो।

विधि का विधान अटल

एक ही बार उन्होंने मुझ से एक निकटवर्ती मित्र के नाते परामर्श किए बिना, अपने स्वयं के बारे में एक महत्त्वपूर्ण निर्णय लिया और दुर्भाग्य से यद्यपि वह उनके लिए प्राणघातक सिद्ध हुआ तथापि उसके कारण काश्मीर—संपूर्ण नहीं तो भी उसका वह भाग जो अपनी ओर है—अपनी मातृभूमि में ही रह सका तथा जनसंघ को अपार कीर्ति प्राप्त हुई। न जाने क्यों उस समय मुझे भावी की आशंका हुई कि डॉ. मुखर्जी वहाँ न जाएँ; यदि वे जाएंगे तो वापिस नहीं आएंगे। वे वहाँ न जाएँ ऐसा संदेश भिजवाने का प्रयत्न भी मैंने किया परन्तु विधि का विधान कुछ और था। ऐसा लगता है कि मेरा संदेश उन लोगों के बीच खो गया जो उस समय उनके चारों ओर एकत्र होकर उनकी कीर्ति के सूर्य-प्रकाश में लोकप्रियता का आनंद लूट रहे थे। परिणाम यह हुआ कि मेरा एक आधार चल बसा और डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी के रूप में जो भविष्य की महान् आकांक्षाएं साकार हो उठी थीं, वे चकनाचूर हो गयीं।

कालजयी कीर्ति

प्रखर विरोध के बीच एक नया दल गढ़ना कोई सरल काम नहीं है। अज्ञानियों ने खिल्ली उड़ाई, दुष्टों ने सब प्रकार के लांछन लगाए, फिर भी वह दि[illegible]

मानव निंदा-स्तुति की अवहेलना करता हुआ, अपने कंधों पर नए दल की ध्वजा लिए उत्तरोत्तर विजय ही विजय और लोकप्रियता ही लोकप्रियता की ओर दृढता से बढ़ता गया। अब हम देखते हैं कि जनसंघ कठिनाईयों के बावजूद दृढता से आगे बढ़ रहा है। डॉ. मुखर्जी के आकर्षक प्रभावी व्यक्तिमत्त्व, नेतृत्व के गुण, देश की राजनैतिक समस्याओं को संतुलित, ठंडे दिमाग से समझने की विरली अंतर्दृष्टि के कारण, भ्रातृभाव, एक ध्येय और एक दल के सूत्र में बंधे हुए सैकडों, कार्यकर्ता काम करने के लिए आगे बढ़े। इससे डॉ. मुखर्जी के राजनैतिक प्रति-द्वंद्वियों के मन में उज्ज्वल भविष्य की आशाएँ जाग उठीं। परन्तु अब उन्हें साकार करना उनके पीछे जो अनुयायी रह गए हैं, उनका काम है।

वे हमें छोडकर चले गए। उनका अभाव मुझे बहुत ही दुःखद लगता है। अपना सांत्वन करने के लिए मैंने अपने उस अति आदरणीय और प्रिय महान मित्र के संबंध में कुछ संस्मरण लिखे हैं। उनका शरीर अब नहीं रहा, परन्तु उनकी कीर्ति काल-जयी है।

('पांचजन्य' दि. २५-६-१९५६)

लोकमान्य तिलक

[यह लेख पूना से प्रकाशित होनेवाले सुप्रसिद्ध मराठी दैनिक 'केसरी' के दि. २२ जुलाई १९५६ के तिलक जन्म-शताब्दि विशेषांक में 'हिंदुराष्ट्र का उद्घोष' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है।]

भारत के दीर्घकालीन इतिहास में उन्नति अवनति, स्वातंत्र्य-पारतंत्र्य, ज्ञान-अज्ञान आदि का चढाव-उतार अनेक बार दिखाई देता है। अनेक अवसरों पर राष्ट्र-जीवन में विस्मृति, अपने जीवनादर्शों से स्खलन, परंपरा से विच्छिन्नता दिखाई दी है। परंतु चारों ओर घना अंधकार भयावह होकर तथा बुद्धिमान लोगों के मन में राष्ट्र का विनाशकाल समीप आने की आशंका पैदा होकर जब सबदूर व्याकुलता और निराशा छा जाती है, तब ऐसी आपात् स्थिति में किसी न किसी अलौकिक महापुरुष का आविर्भाव होता है जो जीवनादर्श की स्थापना कर, खंडित हुई परंपरा के प्रवाह का, भूतकाल से भविष्यकाल की आकांक्षाओं का योग वर्तमान के माध्यम से कर तथा राष्ट्र-विस्मरण को दूर कर उन्नति के पथ पर समाज को ला खडा करता है। वह ज्ञान प्रकाशित करता है, अंधकार में प्रकाश की किरणें फैलाता है तथा सर्वंकष उन्नति की अदम्य आशा निर्माण कर उत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त करता है। कुमारिल भट्ट, शंकराचार्य इसी कोटि के अति मानवी महा-पुरुष थे जिन्होंने बौद्ध मत के कुहरे में आत्मविस्मृत तथा उसके कारण अनीति, अना-चार, इतना ही नहीं, तो राष्ट्रद्रोह में भी प्रवृत्त होनेवाले समाज को पुनर्जाग्रत कर, उसमें राष्ट्रज्ञान और परंपरा की पुनर्स्थापना की।

विदेशी शासन और समाज का पतन

स्वराज्य-संस्थापक, हिंदुपदपादशाही के निर्माता छत्रपति श्री शिवाजी महाराज इसी कोटि के विभूति थे जिन्होंने विदेशी शासन के चंगुल में फंसे, अपना स्वत्व भूले हुए तथा दासता में ही आनंद माननेवाले समाज का पतन रोका तथा उसमें निर्भय, शौर्ययुक्त राष्ट्रभक्ति जागृत की थी। शिवाजी द्वारा स्थापित स्वराज्य नष्ट होकर देश अंग्रेजी साम्राज्य की बेडी में जकडा गया। सन् सत्तावन का स्वातंत्र्ययुद्ध असफल हुआ। भिन्न-भिन्न विद्रोह, क्रांति-प्रयत्न, इस विदेशी साम्राज्य की नींव को हिलाने में असमर्थ दिखाई दिए। विख्यात विचारक विदेशी सत्ता की मुसाहिबी कर, विनम्रता से अधिकाधिक अधिकार-प्राप्ति के लिए आवेदन-प्रार्थना करने तथा विदेशी शासन का कामकाज चलाकर उसे अधिकाधिक दृढ बनाने में मग्न रहे। दासता का विष राष्ट्र-शरीर में फैलने लगा। स्वत्वाभिमान नष्ट होकर विदेशी आचार-विचार, जीवनप्रणाली, राज्यव्यवस्था, समाजरचना इतना ही नहीं उनकी ईसाई उपासना पंथ भी स्वीकार करना, गौरवास्पद प्रतीत होने लगा।

तेजस्वी ज्योति का अवतार

उस समय अपनी सारी बातों के बारे में घृणा और तुच्छता लगने लगी। प्राचीन परंपरा से चिपके रहनेवाले कतिपय लोगों के हृदयों में अंधश्रद्धा, पूर्वाचार्यों द्वारा बताए गए ज्ञान का विकृत संस्कार, वेद-वेदांत आदि राष्ट्र के चैतन्यमय ज्ञान का अज्ञान और विपरीत ज्ञान, भीरूता तथा अकर्मण्यता के कारण 'ना विष्णुः पृथ्वीपतिः' जैसे पवित्र विचारों को अपवित्र अर्थ देकर विदेशी राज्यकर्ताओं को विष्णु मानकर उनके सामने मानों घुटने टेकने की जघन्य वृत्ति का संचार हुआ। तात्पर्य, सभी क्षेत्रों में से स्वत्व नष्ट होने की भीषण अवस्था पैदा हो गई। इस भयावह अंधकार में, तमोमय जीवन में आशा की किरणें दिखाई नहीं देती थीं। ऐसा लगने लगा कि सर्वनाश की घड़ी आ गई है। ऐसी परिस्थिति में भारत की परंपरा के अनुरूप एक तेजस्वी ज्योति मानव-देह धारण कर लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के रूप में अवतरित हुई।

तेजस्वी महामंत्र का उद्घोष

अनेक ज्ञान-शाखाओं में लीलया संचार कर सकनेवाली प्रखर बुद्धिमत्ता उन्हें जन्म से ही प्राप्त हुई थी। ज्ञान-संपादन और ज्ञान-वितरण की मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति होते हुए भी राष्ट्र की मुख्य समस्या सामने होने से, रुचि की उस सहज प्रवृत्ति की ओर जान-बूझकर उन्होंने मुंह फेर लिया और राष्ट्रोत्थान का कठोर व्रत स्वीकार किया। दासता के कर्दम में डूबे और उसी में सुख मानकर केवल आवेदन-प्रार्थना में ही जीवन की सार्थकता और राष्ट्र की परमोच्च सेवा माननेवाले समाज को झकझोर कर जागृत करने और विदेशी सत्ता से जूझते-जूझते दृढता, निर्भीकता, राष्ट्रार्थ सर्वस्वार्पण [illegible]

वृत्ति निर्माण करने का कठिन कार्य उन्होंने स्वीकार किया। 'स्वराज्य मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है', यह घन-गंभीर गर्जना कर दासता के पंक में डूबे हुए देश-बांधवों को स्वतंत्रता-प्राप्ति के कर्तव्य का तीव्रता से बोध कराया। उन्होंने इस तेजस्वी महामंत्र का उद्घोष किया कि 'सुराज्य से स्वराज्य श्रेष्ठ', स्वतंत्रता से प्राप्त होनेवाली नमक-रोटी दासता के पंच-पकवानों से अधिक मधुर और कल्याणकारी है।'

लोकमान्य की विशेषता

स्वराज्य-प्राप्ति का लक्ष्य सामने रखनेवाले उनके पूर्व भी हुए थे। श्री. दादाभाई नौरोजी प्रभृति नेताओं ने भी इस लक्ष्य की घोषणा की थी। लोकमान्य तथा उनके पूर्व हुए और उनके समकालीन अनेक लोगों का, यद्यपि उनके मार्ग भिन्न थे, लक्ष्य (स्वराज्यप्राप्ति) समान ही था। फिर प्रश्न उपस्थित होता है कि, क्या लोकमान्य का अलौकिक विभूतिमत्व केवल इस बात में है कि उन्होंने प्रखर संघर्ष मार्ग अपनाया। उग्र पंथ की बात सोचें तो शस्त्राचारी क्रांतिकारकों के मार्ग की तुलना में उनका रास्ता भी सौम्य लग सकता है। अर्थात् इस मार्ग में ही उनकी विशेषता या अलौकिकता समाई है ऐसा नहीं कह सकते। फिर उन्हें असामान्य मानने का कारण क्या है?

कुछ कुकल्पनाओं का निर्मूलन

इस प्रश्न का उत्तर इस महनीय बात में दिखाई देता है कि तत्कालीन छोटे-बड़े नेताओं की स्वराज्य और स्वराष्ट्र विषयक धारणा के अनैतिहासिक संभ्रम में, उन्होंने स्पष्ट रूप से भारतीय राष्ट्र का स्वरूप दिग्दर्शित किया। हमारा अपना कोई राष्ट्रजीवन कभी नहीं था, देश की अखंडता, एकता अपने हृदयपटल पर पहिले कभी अंकित नहीं थी, अपना समाज भी बहुविध भेदों से छिन्न-विच्छिन्न रहने से वह एकसंध और एकरस नहीं था, अपने समाज के अतिरिक्त, मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि भिन्न पंथ के लोग इसी देश में एक ही अंग्रेजी शासन के नीचे रहने से उनके-अपने हित-संबंध और भविष्यकालीन लक्ष्य-दृष्टिकोण समान ही हैं और इन सब का मिलकर एक नवीन राष्ट्र बना है या बन रहा है, आसेतु-हिमाचल अंग्रेजों के शासन-छत्र के नीचे आने के बाद से ही सर्वप्रथम हम लोग मानने लगे कि यह अपना देश एक है, यानी यह भिन्न उपमहाद्वीप होकर अनेक भिन्न-भिन्न देशों का समूह है, परंतु एक साम्राज्य के नीचे आने से उसकी एकता का नया बोध अब होने लगा है; भिन्न भाषा, भिन्न पंथ तथा भिन्न-भिन्न प्रादेशिक राज्यों के कारण योरोप जैसा अपना भी बहुराष्ट्रीय जीवन था, एक राष्ट्र के नाते वह प्रथम बार ही प्रस्फुरित होने लगा है और वह नव-राष्ट्र-निर्मिति [illegible] अंग्रेजी राज्य के विरोध में से हुआ है; पाश्चात्य राजनीतिशास्त्र से यह [illegible] बनाकर कि राष्ट्र-संकल्पना प्रादेशिक, राजनैतिक, आर्थिक हित-संबंधों से निर्मित है और अब हमें इस प्रकार का नया प्रादेशिक राष्ट्र बनाना है आदि धारणाएं उस [illegible] प्रचलित हुई थीं।

राष्ट्रपरंपरा खंडित हुई

इस कल्पना के कारण कि अपने पास राष्ट्रीय परंपरा, धर्म, संस्कृति, तत्त्वज्ञान आदि कुछ भी नहीं है, नए राष्ट्र में भिन्न-भिन्न धर्म-मतों का संघर्ष टालने के लिए धर्म-रहित राष्ट्रभाव, संमिश्र संस्कृति की भ्रामक धारणा जड जमाने लगी थी। इसका अर्थ यह था कि अपना अत्यंत प्राचीन तथा श्रेष्ठ धर्म, तत्त्वज्ञान और संस्कृतियुक्त, राष्ट्र-जीवन नकार कर, नया, इससे विपरीत निर्माण करने की लालसा में से अपनी राष्ट्रपरंपरा खंडित हुई और प्रामाणिक राष्ट्रभक्ति और देशभक्ति का निर्माण होना असंभव-सा हो गया। इस स्थिति में सचमुच राष्ट्रोत्थान होना तथा उसके लिए सब प्रकार के संकट-कष्ट झेलने की सामर्थ्य देनेवाली, राष्ट्र के लिए सर्वस्वार्पण की दिव्य भावना सर्वसाधारण व्यक्ति में पैदा होना सर्वथा असंभव था।

हिंदुराष्ट्र का पवित्र गंगौघ

लोकमान्य तिलक ने इस दुरवस्था में से राष्ट्र को उबारने के लिए, कभी स्पष्ट शब्दों में, तो कभी पर्याय से विशुद्ध हिंदुराष्ट्र का प्रतिपादन कर संभ्रम-संकुल नव-शिक्षितों का अचूक मार्गदर्शन किया। राष्ट्र-ज्ञान का संभ्रम इसी वर्ग में था और यही वर्ग सार्वजनीन जीवन में नेतृत्व प्राप्त कर बैठा था। इन लोगों को नेतृत्व प्राप्त करा देने में अंग्रेजों की कूटनीति ही कारणीभूत थी। तात्पर्य, पुरानी परंपरा में पले लोगों की संकुचित और अकर्मण्य वृत्ति और उदासीनता का भी इसमें बहुत बडा हिस्सा था। इस प्रकार नेतृत्व-प्राप्त आंग्लविद्या विभूषित लोगों का भ्रम-निवारण करना नितांत आवश्यक था। यानी हिंदुओं का पुनरुत्थान, उनके धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि सब प्रकार के जीवन का सर्वांगीण पुनरुत्थान यह अटल सिद्धांत उन्होंने व्यक्त किया और इसीलिए सार्वजनिक गणेशोत्सव, श्री छत्रपति शिवाजी महाराज का जन्मोत्सव का प्रारंभ कर, राष्ट्र-जीवन के प्रवाह को, प्राचीनकाल से चलते आए और निकटतम भूतकाल में श्री शिव छत्रपति के रूप में उत्कटता से अभिव्यक्त हुए हिंदुराष्ट्र के पवित्र गंगौघ से जोडा और कोई केवल अनुमानों से संतुष्ट नहीं होगा, इसलिए अपने लेखों और भाषणों द्वारा असंदिग्ध रूप से हिंदुराष्ट्र शब्द का प्रयोग कर भ्रांत धारणा के लिए कोई गुंजाइश नहीं रखी।

दूरदृष्टि की प्रतीति

लोकमान्य तिलक के अल्पजीवी होने से और बाद में 'एक वर्ष में स्वराज्य' आदि जैसी मोहक परंतु निराधार घोषणाओं से भ्रमित होने से हिंदु-मुस्लिम एकता के बिना स्वराज्य मिलेगा नहीं ऐसी सर्वथा असत्य धारणा बनाकर, हिंदु-मुस्लिम एकता की मृग-मरीचिका के पीछे पडकर यह नवशिक्षित संप्रदाय आज भी भ्रमसागर में फिर [illegible] गोते लगा रहा है, यह सद्यःस्थिति का सरसरी अवलोकन करनेवालों को स्पष्ट होगा। इस भ्रांति के कारण भारत-विभाजन का अपमान, काश्मीर का विभाजन (

पं. नेहरू के वक्तव्य से तो यह दिखाई देता है कि अब यह विभाजन पत्थर की लकीर सा बन गया है), लाखों देश-बांधवों का निर्वासन और उनकी व्यथा-यातनाएँ; आसाम, झारखंड, त्रावणकोर, कोचीन, मलबार आदि क्षेत्रों में सुलगनेवाला विद्रोह और उनकी पृथक होने की बढती हुई मांगें आदि असंख्य प्रक्षोभदायक घटनाएँ होने तथा और भी अनेक लज्जास्पद शरणागति की योजनाएँ करने को वर्तमान शासनकर्ता और उनका कॉंग्रेस दल उद्युक्त होने का, पराकाष्ठा का दुःखदायी दृश्य निर्माण हुआ और होता हुआ आज प्रत्येक सच्चे राष्ट्रभक्त को दीख रहा है। इससे, इस प्रकार की अनेक परंपराओं को समय पर ही रोक लगाकर उनका बीज ही नष्ट कर डालने के लिए हिंदुराष्ट्र के इतिहास-पुनीत सत्य सिद्धांत का दृढतापूर्वक प्रतिपादन करने में उनकी दूरदृष्टि अनुभूत होती है।

हिंदुराष्ट्र का साक्षात्कार

लोकमान्य तिलक का प्रदीर्घ कारावास, उस अवधि में उनके विरुद्ध हुए षड्यंत्र, मुसलमानों का सौतेला-सूबा निर्माण करने की अंग्रेज और उनके चमचों की कुटिलता आदि अनेक अपने वश के बाहर के कारणों से उनका राष्ट्र के सत्य स्वरूप के आविष्कार का कार्य सब दूर पहुंच नहीं सका, और बाद में भी उनकी जैसी निर्भीक दृढता से वह पहुंचाने के लिए कोई अदम्य उत्साह एवं तत्त्वनिष्ठा से आगे नहीं आया, इसलिए वर्तमान दुरवस्था तथा उसमें मत-मतांतर का कोलाहल देखने का दुर्भाग्य प्राप्त हुआ है। परंतु तिलकजी ने अपने जीवन में इस सिद्धांत को संपूर्ण समाज में दृढमूल करने में कोई कसर नहीं रखी। "भारत धर्म महामंडल" जैसी केवल धार्मिक संस्था के अधिवेशन में भी, सभी पंथों के मठाधिप-महंतादिकों की एकता का प्रतिपादन करते समय "हिंदुराष्ट्र" के पुनरुत्थान के लिए सारे मतभेदों को हजम कर एक धर्म, संस्कृति के ध्वज के नीचे सब को एकत्र होने का अंतःकरणपूर्वक आवाहन किया। यह स्पष्ट है कि उनके राजनैतिक जीवन, कार्य, नीति, योजनाओं के प्रेरणास्रोत का उद्गम हिंदुराष्ट्र के साक्षात्कार में से हुआ था।

परमेश्वर का अधिष्ठान

जिस प्रकार उनकी असाधारण विशेषता नवशिक्षितों को जाग्रत करने के लिए व्यावहारिक क्षेत्र में हिंदुराष्ट्र के उद्घोष में प्रकट हुई, उसी प्रकार दर्शन की आड़ में छिपकर कर्तृत्वहीन बने उदासीन अन्य जनों को कर्मयोग का अमृत पिलाकर उनके आलस्यादि दुर्गुणों का निर्मूलन करने के लिए 'गीता–रहस्य' लिखने में उनकी [illegible] प्रतिभा प्रकट हुई। भक्ति, ज्ञान, संन्यास-धर्म के नाम पर निवृत्तिपरक शब्दों का [illegible] फैलाकर वृत्तिहीन बने शब्दज्ञानी व उनपर विश्वास रखकर चलनेवाली कोटि-कोटि भोली जनता की भ्रांत धारणा का निर्मूलन करनेवाले तथा निःस्वार्थ कर्मशीलता और राष्ट्रसेवा में जीवनार्पण का तथा भक्ति-ज्ञान में विरोध नहीं है, इतना ही नहीं तो [illegible] ईश्वरार्पण बुद्धि से करना भी मोक्ष का एक स्वतंत्र तथा श्रेष्ठ मार्ग है, [illegible]

सप्रमाण मंडन करना नितांत आवश्यक था। व्यावहारिक जीवन को भी शुद्ध तत्त्वज्ञान का आधार आवश्यक था। व्यावहारिक जीवन को भी शुद्ध तत्त्वज्ञान का आधार आवश्यक है, तभी वह व्यवस्थित और पवित्र हो सकता है। अध्यात्म-ज्ञान ही सत्य तत्त्वज्ञान है ऐसी भारतीय परंपरा की धारणा है, इसीलिए, 'श्री समर्थ रामदास ने यह अनुशासन बताया है कि * 'आंदोलन में सामर्थ्य है और जो-जो आंदोलन करेगा उसे अनुभव होगा परंतु वहां ईश्वर का अधिष्ठान होना चाहिए'–

त्रिकालाबाधित सिद्धांत

अधिष्ठानविरहित किये गए व्यावहारिक कार्य और उनके परिणाम आसुरीप्रवृत्ति के परिचायक हैं। उनसे राष्ट्र का सही कल्याण असंभव है। इसीलिए तिलकजी ने विश्ववंद्य श्रीमत् भगवद्‌गीता को आधारभूत मानकर कर्मयोग के त्रिकालाबाधित सिद्धांत का उसमें किस प्रकार मंडन हुआ है, किंबहुना गीता का वही तात्पर्य कैसे है इसका साधार विवेचन किया। अन्य सभी भारतीय और अभारतीय मतों का संतुलित बुद्धि से विवेचन कर, उनके गुणावगुणों का अध्ययन कर, दृढता से प्रतिपादन किया कि गीता का वही तात्पर्य ग्राह्य है; और निःस्वार्थ, निरपेक्ष, निरलस, राष्ट्र–सेवा के कार्य में शुद्ध अध्यात्मज्ञान की मजबूत नींव डाली। अध्यात्म की नींव नहीं रही, तो संतुलन बिगड़कर स्वार्थ, अत्याचार, अनाचार, भ्रष्टाचार कैसे बढते हैं और श्रेष्ठ कहे जानेवाले भी कैसे अधःपतित होते हैं इसका अपने निधर्मी राज्य का वर्तमान राजनैतिक और अन्य सार्वजनीन जीवन, अत्यंत दुःखदायक परंतु असंदिग्ध प्रमाण है। इस परिस्थिति की ओर देखने के बाद इस बात का बोध होता है कि तिलकजी ने कितनी गंभीरता से विचार कर, मानवी मन का अध्ययन किया था और क्यों जीवन के शाश्वत अधिष्ठान और आदर्श का कर्मयोग रूपी सिद्धांत अपने राष्ट्र-स्वातंत्र्य-प्राप्ति के कार्य में आधारभूत माना।

सोने में सुहागा

गीता पर लिखे गए और लिखे जा रहे अनेक भाष्यों का खंडन और स्वमत प्रतिपादन करते समय भी उनकी जो सत्यान्वेषण की निराग्रही विनम्रप्रवृत्ति सहजता से प्रकट हुई वह तो उनके शुद्ध सुवर्णमय जीवन में अप्रतिम सुगंध के समान हृद्य है। आजकल कोई भी संप्रदाय–प्रवर्तक या संप्रदाय समर्थक बनकर अन्य मतों के श्रेष्ठ पुरुषों की अवमानना करने को उद्युक्त होता है। उसे उसमें न संकोच होता है न लज्जा होती है। उलटे अधिक सांप्रदायिक कट्टरपन; तथा उसमें से निर्माण होनेवाली संकुचितता, और

* सामर्थ्य आहे चळवळीचे।
जो जो करील तयाचे।
परि तेथे भगवंताचे।
अधिष्ठान पाहिजे। (– रामदास)

दूसरों की निंदा और द्वेष में ही गौरव समझने की प्रवृत्ति बढ़ी। बड़े-बड़े विचारक भी इसके अपवाद दिखाई नहीं देते। तिलकजी की विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता, विवेचनशक्ति, गहन विचार, धारणाशक्ति आदि गुणों के परमोत्कर्ष के साथ अन्य मतों का समुचित समादर करने की, उतनी ही उत्कृष्टता से प्रकट होनेवाली विनयशीलता देखने पर उनके अलौकिक दिव्यत्व पर विश्वास होता है और उनके सामने मस्तक अपने आप नम्र होता है।

पवित्र स्मृति को प्रणाम

तिलकजी की निकट से जानकारी रखनेवाले अनेक सहृदय विद्वान् विचारकों ने उन पर स्तुति-सुमनों का मनःपूर्वक वर्षाव किया है। स्थल और काल दोनों दृष्टि से उनसे सुदूर अंतर पर रहनेवाला मुझ जैसा अल्पज्ञ, उनके अल्प प्रकाश से मार्ग-क्रमण करने की इच्छा रखनेवाला पर-प्रकाशित व्यक्ति उनकी श्रेष्ठता का यथार्थ आकलन कैसे कर सकेगा ? परंतु उनकी जन्म-शताब्दि के पुण्यपर्व पर उनकी कीर्ति का गान अनेक सुविख्यात लोग करेंगे और उनके साथ, मैं भी 'अटपटा गाऊंगा परंतु तुम्हारा कहाऊंगा' इस नाते से इन शब्दों की निर्गुण, निर्गंध पुष्पराशि उनके चरणों में समर्पण कर रहा हूं। हिंदुराष्ट्र का घन-गंभीर उद्घोष, राष्ट्रकार्य को दृढ आध्यात्मिक अधिष्ठान देनेवाले ग्रंथराज गीता-रहस्य और उनकी सांप्रदायिकताशून्य निराग्रही, निरहंकारी वृत्ति के कारण वर्तमान अंधकारमय, भ्रमपूर्ण तमिस्रा का भेद करनेवाला अमर तेजोमय ज्योतिरूप उनका अमर जीवन है। उनकी स्मृति को कोटि-कोटि प्रणाम कर, उनके दिव्य जीवन से आबालवृद्ध संपूर्ण भारतीय हिंदुराष्ट्र की प्रेरणा ग्रहण करें और परमोच्च वैभव, श्रेष्ठतम गौरव तथा जगद्गुरुत्व प्राप्त करने के लिए कटिबद्ध होकर प्रगतिपथ पर बढ़ें यही इस पुण्यपर्व पर जगन्नियंता के चरणों में प्रार्थना करता हूं।

(दि. २२ जुलै १९५६)

हमारे देश की स्थिति

देश में अनेक प्रकार की योजनाएं बनाई जा रही हैं। करोड़ों रुपये व्यय करके बड़े-बड़े कारखाने और बांध निर्माण करने का प्रयास किया जा रहा है। इन समस्त योजनाओं को इस विचार-भूमिका के आधार पर कार्यान्वित किया जा रहा है कि जीवनस्तर उन्नत करने का एकमात्र साधन उपभोक्ता-सामग्री का भारी मात्रा में उत्पादन करना है। करों में हर प्रकार की वृद्धि करके देशवासियों से धन एकत्र किया जा रहा है। कैसा तमाशा है कि एक ओर तो जन-सामान्य की आय बढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा है और दूसरी ओर अनापशनाप मात्रा में कर बढ़ाया जा रहा है। इस प्रकार करवृद्धि किए जाने के पश्चात् भी पर्याप्त मात्रा में धन प्राप्त न होने [illegible]

नियमों का उल्लंघन कर, सरकार द्वारा निजी उद्योगों पर बलात् अधिकार करके धन एकत्र करने का प्रयास किया जा रहा है। धन की इतनी मात्रा भी पर्याप्त सिद्ध न होने पर विदेशों से ऋण प्राप्त करने के यत्न चल रहे हैं। विदेशी उद्योगपतियों तथा विशेषज्ञों को कारखाने खोलने की अनुमति प्रदान करके औद्योगिक प्रगति का दिखावा किया जा रहा है। इस संबंध में अधिकृत मत तो अर्थशास्त्री ही व्यक्त कर सकते हैं कि इन योजनाओं से राष्ट्र का कहां तक कल्याण होगा। प्रस्तुत लेख में हम केवल एक ऐसी बात के संबंध में विचार करेंगे जो अत्यंत महत्त्वपूर्ण होते हुए भी उपेक्षणीय बनी हुई है।

जिन योजनाओं पर अपरिमित धन व्यय किया जा रहा है, उनके संबंध में समय-समय पर विशेषज्ञों द्वारा मत व्यक्त किए जाते रहते हैं। इन मतों से यह स्पष्ट हो चुका है कि व्यय किए गए धन के द्वारा कहीं अधिक निर्माण-कार्य किया जा सकता था। अपव्यय की कोई सीमा नहीं। पुरानी-पुरानी मशीनों को बढे-चढे मूल्यों पर खरीदे जाने, लापरवाही तथा टालमटोल की वृत्ति के कारण, अपरिमित हानि हुई है। किंतु इससे भी गंभीर तथा दुःखद बात पर प्रकाश लेखा-निरीक्षक के प्रतिवेदन से पडता है कि योजना करनेवाले लोगों द्वारा ही धन अपहरण किया जा रहा है। अपहरण के लिए निम्न श्रेणी के कर्मचारी ही उत्तरदायी नहीं तो बडे-बडे अधिकारियों पर भी गोल-माल के आरोप हैं। अतः इस रोग का निदान आवश्यक है।

धन के प्रत्यक्ष संपर्क में आने के कारण ही यह घटनाएं घटित होती हों, ऐसी बात नहीं है। प्रशासकीय क्षेत्रों में नित्य प्रति अनैतिकता के भयंकर उदाहरण देखने को मिलते हैं। जिनके कारण गंभीर चिंता उत्पन्न होना अत्यंत स्वाभाविक है। संसद में प्रस्तुत होने से पूर्व बजट की प्रतियों का बाजार में खुले रूप से बिकना, नवीन आयात नियमों की घोषणा होने से पूर्व तत्संबंधित लोगों को उनका ज्ञान होना, उस विशेष विभाग की महत्त्वपूर्ण फाईलें गायब होना, जिसकी बागडोर वर्तमान शासन की कार्यश्रेष्ठता का ढोल पीटनेवाले तथा अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त हमारे प्रधानमंत्री स्वयं अपने हाथों में सम्हाले हुए हैं, प्रकट करता है कि दिये तले अंधेरा है। राजधानी में बम-विस्फोट होना और उनका पता न लग सकना, ऐसी घटनाएं हैं जिनके संबंध में भारी चिंता होना अत्यंत स्वाभाविक है। कहा जाता है कि इनमें से कुछ घटनाओं के पीछे विदेशियों का हाथ है। यह विदेशी कौन हैं? किस-किस की जेब गरम करके और सहयोग प्राप्त करके, वे कुटिल उद्योग चलाए जा रहे हैं? इन प्रश्नों का उत्तर अभी तक नहीं दिया जा सका है। क्या सरकार को अभी तक इन रहस्यों का पता नहीं [illegible] पाया है? क्या पता लगानेवाले अपात्र हैं अथवा उनकी भी जेबें भर दी [illegible] बडे-बडे लोग भी राष्ट्रद्रोही कार्य करने के लिए कैसे तैयार हो जाते हैं, इसका [illegible] निकालने की आवश्यकता है।

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर इसका कारण ढूंढ निकालना कठिन नहीं है। [illegible] समाज का ही नैतिक-स्तर गिर गया है। यदि ऐसा भी कहा गया कि [illegible]

अशिक्षितों की अपेक्षा नवशिक्षित वर्ग ने ही इस संबंध में अधिक बाजी मार ली है, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। विविध विश्वविद्यालयों के अनुभवी कुलपतियों ने आकाश-वाणी से इस संबंध में विचार व्यक्त किए हैं। जिन्होंने उक्त विचारों को सुना होगा या समाचारपत्रों में पढ़ा होगा, उन्हें इस कथन की सहज ही सार्थकता प्रतीत हो जाएगी।

यह सब क्यों होता है? नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ जीवन के लिए प्रसिद्ध भारत के वासी आज इतनी निकृष्ट स्थिति में कैसे और क्यों पहुंच गए हैं? प्राचीनकाल में समाज के सभी अंगों में आदर्श तथा नीतियुक्त जीवन का दर्शन होता था। स्खलन अपवाद था। आज यह भले ही कहा जाता हो कि हमने उन्नतिशील समाजों के समान प्रगति और उन्नति ही नहीं की है, अपितु उनके बीच आदर का स्थान भी प्राप्त किया है, परंतु इसकी सहस्रों घटनाएँ रोज देखने को मिलती हैं कि हमारी प्रामाणिकता, सच्चाई, कर्तव्यपरायणता आदि गुण लुप्तप्राय हो गए हैं। इतना ही नहीं, प्रतीत होने लगा है मानो अप्रामाणिकता हमारे जीवन का अभिन्न अंग ही बन गई हो। शुद्ध-चरित्र-व्यक्ति अपवाद स्वरूप ही दिखाई पड़ते हैं। यह क्यों?

इन प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करना अत्यंत सरल है। प्राचीनकाल में व्यक्ति देशभक्ति, समाजसेवा, मानवसेवा की घोषणाएं नहीं करता था। इसका कारण था कि उसके समग्र जीवन का एक निश्चित लक्ष्य तथा उदात्त ध्येय था। धार्मिक वृत्ति तथा ईश्वरोन्मुख बुद्धि उसके स्वभाव के स्वाभाविक अंग थे। आत्मज्ञान होने के कारण अथवा गुरुजनों या शास्त्र-वचनों पर श्रद्धा होने के कारण व्यक्ति की स्पष्ट या अस्पष्ट धारणा थी कि मानव-जीवन का लक्ष्य ईश्वराराधना करते हुए परम-सुख की चिरंतन अवस्था प्राप्त कर लेना है। वह समझता था कि उक्त लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सदाचार अनिवार्य है, जीवन को यम-नियमों से नियंत्रित करने की अत्यंत आवश्यकता है। हृदय में उद्देश्य-सिद्धि की आकांक्षा होने के कारण व्यक्ति इन यम-नियमों के बंधनों को स्व-प्रेरणा से आनंदपूर्वक स्वीकार करता था। मानवीय समाज से उठकर दैवी समाज-निर्माण के लिए भी वह इन नियमों का पालन करना आवश्यक समझता था। इस धारणा का स्वाभाविक परिणाम था-नैतिक तथा चरित्र-शुद्ध जीवन, धार्मिक श्रद्धा के अनुकूल आचरण और ईश्वरोन्मुख बुद्धि से उपासना। इसी आधार पर निःस्वार्थ, कर्तव्यपरायण तथा चरित्रसंपन्न जीवन का विकास होता है। चिरंतन ईश्वरप्राप्ति अथवा परम-सुख-प्राप्ति (दोनों समानार्थक हैं) जीवन का ध्येय रहने पर उन सभी श्रेष्ठ गुणों का आविर्भाव सहज रीति से होता है, जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है।

पुरातनकाल में यही लक्ष्य सर्वसामान्य व्यक्ति का प्रेरणा केंद्र था। जैसे-जैसे यह प्रेरक शक्ति क्षीण होती गई, व्यक्ति भौतिक सुखोपभोग की ओर आकर्षित होता गया। परिणामतः स्वार्थ का अधिकाधिक आक्रमण होता गया; स्वकर्तव्य तथा त्याग की भावना के अभाव में समाज में विशृंखलता निर्माण होती गयी, राष्ट्र की स्वतंत्र ...

का ह्रास हुआ, परकीय आक्रमणकारियों को जय प्राप्त हुआ और देश को दासता के दुर्दिन देखने पड़े। इससे सिद्ध होता है कि सच्चरित्र के लिए धर्माधिष्ठित, सहज-कर्मरत, ईश्वरार्पित जीवन की नितांत आवश्यकता रहती है।

अब सब कुछ बदल गया है। जीवन में धर्म, ईश्वर, निश्चित समाजरचना तथा तद्भूत सहज-धर्म को स्थान प्राप्त नहीं। सहस्रों वर्षों तक जिन श्रद्धाओं की साधना के कारण शीलसंपन्न जीवन का विकास हुआ, आज उन्हें भंग कर दिया गया है। भारत की लगभग २००० मील विस्तृत उत्तरी सीमा पर रूस और चीन, जिन्हें व्यावहारिक दृष्टि से एक ही शासन का अंगभूत कहा जा सकता है, प्रचंड युद्धसामर्थ्य से युक्त तथा साम्राज्य-विस्तार की भावना से उत्प्रेरित होकर अनुकूल अवसर की बाट जोह रहे हैं। इसका भय आज के शासकों को भी है और इस भय से उनकी विदेशनीति भी प्रभावित है। इसी प्रकार पूर्व और पश्चिम में स्थित पाकिस्तान की शत्रुता का भय, पाश्चात्य देशों के अनिश्चित तथा कभी-कभी विरोध में प्रकट होनेवाले रुख के कारण भयग्रस्त सरकार, देश में रहनेवाले मुसलमानों और ईसाईयों के तुष्टीकरण की नीति अपनाए हुए है। आर्थिक तथा औद्योगिक उन्नति पर अत्यधिक बल देने के कारण, संस्कृति के नाम पर सरकार केवल मनोरंजनात्मक कलाओं को प्रोत्साहन देकर भौतिक सुखोपभोग का प्रचार करती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पवित्रतापूर्वक समाजोन्नति और भावनोत्कर्ष कर दैवीय-जीवन निर्माण करनेवाली ईश्वरादि के प्रति विद्यमान सद्श्रद्धाओं को समाप्त किया जा रहा है, किंतु उनके कारण रिक्त मनोभूमि में अन्य किसी उत्कट श्रद्धा को [illegible] नहीं किया जा रहा है। यह माना जा सकता है कि महात्मा गांधी तथा पं. [illegible] नेहरू को, देवत्व प्रदान करने के उद्देश्य से पूजा का विषय बनाने का प्रयास [illegible] है। परंतु व्यक्ति चिरंतन नहीं है और इस कारण व्यक्तिनिष्ठा के कारण सुसूत्रता [illegible] नहीं आ सकती। जब तक श्रद्धा का आधार चिरंतन तथा सुसूत्र नहीं होता और [illegible] भी वह सर्व प्रकार की कसौटियों पर खरा नहीं उतरता, विशुद्ध जीवन निर्माण करने की शक्ति उसमें उत्पन्न नहीं हो सकती। प्रत्येक समाज का प्राचीन इतिहास रहता है [illegible] ठीक प्रकार से पर्यावलोकन करके उचित आदर्श के प्रति श्रद्धा का आवाहन करने से [illegible] प्रत्येक व्यक्ति पर शुद्ध संस्कार डालना संभव हो सकता है। इस तथ्य की [illegible] में उपेक्षा किये जाने के कारण आज की पीढ़ी श्रद्धाहीन और ध्येयशून्य हो गई है। [illegible] इस बात का ज्ञान नहीं रहा है कि किसलिए शुद्ध जीवनयापन किया जाए, [illegible] सदाचार के नियमों का भार कंधेपर लादा जाए। खाना, पीना, [illegible] उड़ाना, नीति-अनीति का विभेद असत्य, व्यर्थ; भौतिक सुखोपभोग ही [illegible] प्राप्ति का मार्ग ही सर्वश्रेष्ठ, फिर चाहे वह हेय हो अथवा श्रेष्ठ। [illegible] आधार पर ही किसी मार्ग की श्रेष्ठता अवलंबित है इन प्रवृत्तियों का [illegible] है। कहां का राष्ट्र, कहां का समाज, कैसी देशभक्ति और कैसी [illegible], [illegible] यदि कुछ सत्य माना जाता है तो वह स्वार्थ है और [illegible]

करना जीवन का ध्येय बस !

वर्तमानकाल में इस प्रकार की स्थिति होने के कारण ही प्रारंभ में उल्लिखित चिंताजनक हीन दृश्य उपस्थित हो रहे हैं और जबतक इस मार्ग का अवलंबन किया जाता रहेगा, यह दृश्य उपस्थित होते ही रहेंगे।

उपाय स्पष्ट है, भारत की अर्थात् हिंदुराष्ट्र की पवित्र, धार्मिक और आध्यात्मिक परंपरा का पुनरुत्थान, ऐतिहासिक श्रद्धाओं की पुनर्प्रतिष्ठा। अन्य कोई उपाय नहीं। राष्ट्र के समस्त वासियों को इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार करना चाहिए और समाजोत्थान के कार्य में स्व-जीवन लगाना चाहिए।

('पांचजन्य' दीपावलि विशेषांक सन् १९५६)

विदेशों में शिक्षा कैसे ग्रहण करें ?

(गुजरात प्रदेश के एक संघ-कार्यकर्ता इलेक्ट्रिकल इंजिनियरिंग का अभ्यास करने के लिए, अमरीका के इल्यानिस (Illinois) *विश्वविद्यालय में शिक्षा ग्रहण कर रहे है।*

उक्त स्वयंसेवक ने सरसंघचालक श्रीगुरुजी को स्वकुशल-क्षेम निवेदन किया। इस पत्र के उत्तर में श्रीगुरुजी ने जो विचार लिखकर भेजे, उन्हें यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।)

श्री गुरुजी ने लिखा है : "इसमें संदेह नहीं कि आप अभ्यास द्वारा अधिक पात्रता प्राप्त कर कुशलतापूर्वक अमरीका से स्वदेश लौट आयेंगे। वहां के जीवन, लोगों के उत्तम गुणों, व्यक्तिगत तथा सामाजिक चरित्र, राष्ट्रीय परंपराओं, राजनैतिक संकेतों तथा नीतिमत्ता आदि का अध्ययन करना अच्छा रहेगा। साथ ही छोटे-बडे उद्योगों व कृषि आदि सम्बन्धी उन्नति के प्रयासों, शैक्षणिक संस्थाओं तथा उनमें कार्य करनेवाले अध्यापकों तथा अध्ययन करनेवाले छात्रों की मनोवृत्ति को उत्तम रीति से समझने का प्रयास करना लाभदायक सिद्ध होगा। किसी भी समाज को पूर्णरूपेण निर्दोष नहीं पाया जा सकता। ऐसी स्थिति में दोषों की ओर ध्यान जाना अस्वाभाविक नहीं। किंतु प्रयत्नपूर्वक अच्छाई देखना ही लाभदायक होता है। आत्मोन्नति का यही मार्ग है। दूसरों के दोषों को देखकर आनन्दित होना अनुचित व असभ्यता का परिचायक है— यह सोचकर स्वयं को दोषपूर्ण दृष्टि से बचाना आवश्यक है। यह सब करते हुए भी वहां के समाज का एकांगी ज्ञान ही न हो, यह भी ध्यान रखना अच्छा होगा।"

"इस प्रकार अध्ययन करने से स्वदेश में स्व-समाज की परम्पराओं के आधार पर आधुनिकतम जीवन रचना करने का ज्ञान प्राप्त हो सकेगा और आप [illegible] अतीव उपकारी सिद्ध होंगे।" (पांचजन्य दि. १० दिसंबर [illegible])

विशुद्ध प्रेममयी मानवता

आजकल के विज्ञान-युग में पृथ्वी के सभी देश एक दूसरे से अधिक निकट संबंधों से जुड़ने लगे हैं। गमनागमन के साधनों में नव-नवीन संशोधनों के कारण अधिकाधिक वेगवान् यान उपलब्ध हो रहे हैं। एक छोर से दूसरे छोर तक जाना सुगम हो गया है। अल्प समय में पृथ्वी की परिक्रमा करके किसी भी देश में रहनेवाले बन्धुओं से मिलने-जुलने में कठिनाई नहीं रही। पूर्वकाल में ऐसे साधनों के अभाव में एक-एक भूखण्ड के लोग अपनी छोटी-सी सीमा में निवास करनेवालों से ही संबंधित रहते थे। कितनी भिन्नता से भरी रहन-सहन, भाषा-बोली, आचार-विचार-व्यवहार, गुण-अवगुण, उन्नत-अवनतावस्था पृथ्वी पर रहनेवाले मानवों में व्यक्त होती है इसका ठीक-ठीक ज्ञान भी सम्भवतः न था। एक दूसरे पर इन भिन्न मानवसमूहों का प्रभाव भी नहीं के बराबर ही होता था। क्वचित् निकटवर्ती भिन्न प्रकृतिवाले लोगों के साथ शत्रु-मित्रादि संबंध आते अवश्य थे, किंतु विचार-संस्कारादि का आदान-प्रदान तुरंत होना कठिन था। अतः मानवों के अनेक समूह अपने-अपने क्षेत्र में अपने भिन्न-भिन्न विचार-भावनाओं का विकास करके अपने-अपने वैशिष्ट्य से रहते हुए दिखाई देते थे। इसी परस्पर संबंधी-रहित स्ववैशिष्ट्ययुक्त जीवन के विकास के फलस्वरूप एक-एक क्षेत्र में जो मानव-समूह का जीवन प्रस्थापित हुआ, वही आगे चलकर राजनैतिक संबंधों के कारण राष्ट्र के नाम से परिचित होने लगा। आज पृथ्वी के अनेक देशों में इस प्रकार अपनी विशिष्टता से जीवन व्यतीत करनेवाले, अपनी विशिष्ट चेतना से युक्त तथा अपनी विशिष्ट गुणागुणों की चेतना में अभिमान करनेवाले राष्ट्र दृष्टिगोचर होते हैं। यह हो सकता है कि इनमें से अनेक राष्ट्रों को अपनी चेतना, विशिष्ट राष्ट्रीयता का यथार्थ परिचय न हो और वे केवल अपने भिन्न भूभाग, ऐहिक जीवन के सुख-दुःख, शत्रु-मित्र तथा बाह्य रहन-सहन, मनोविनोद के साधन एवं भाव इत्यादि स्थूल बातों का ही अभिमान धारण कर उसी में अपने राष्ट्रत्व का सार-सर्वस्व मानकर चलते हों किंतु भिन्न स्वभाव, भिन्न प्रकृति एवं ज्ञात-अज्ञात ऐसी भिन्न चेतना उनमें अभिव्यक्त होती ही है।

भिन्न-भिन्न जीवनप्रणाली तथा उसका अभिमान एक मर्यादा तक ठीक है। [illegible] श्यक भी है, यह भी कहा जा सकता है। परंतु जब यह अभिमान ऐकांतिक हो [illegible] है और इससे जब अन्य सब मानवसमूहों को क्षुद्रता की, अवहेलना की, दृष्टि से [illegible] अवगुण उत्पन्न हो जाता है, तब अपनी ही पद्धति को सर्वश्रेष्ठ मानकर उसे सारी [illegible] के मानवों पर थोपना तथा इस हेतु अन्य राष्ट्रों की चेतना को नष्ट करना, उन पर [illegible] अधिपत्य प्रतिष्ठापित कर स्वयं पृथ्वी का स्वामी बनने की कामना करना ऐसे सं[illegible] अनिष्ट भावों को वह जन्म देता है। पृथ्वी का गत इतिहास, जितना भी ज्ञात [illegible] प्रकार निर्माण हुए संघर्षों का ही वर्णन करता है। इससे असंख्य मानवों [illegible] हुआ है। बनी-बनाई सभ्यता का नाश हुआ है। कितने ही सुंदर [illegible]

हैं। कला, तत्त्वज्ञान, साहित्य विनाश को प्राप्त हो चुके हैं।

परंतु मानव में जैसे स्वार्थ, दुरभिमान, हिंस्रता आदि दुर्गुण हैं, वैसे ही उसमें दिव्यत्व, विशाल अंतःकरण, सर्वव्यापी प्रेम आदि पुनीत भावनाएँ भी हैं। समय-समय पर मानव को विनाश की ओर ढकेलनेवाले अतिरिक्त संकुचित राष्ट्राभिमान के स्थान पर स्थायी बन्धुत्व की प्रतिष्ठा करने के श्रेष्ठ भावों के भी प्रकट होने के प्रसंग इतिहास में हैं। प्राचीनकाल में 'जगत् का पिता एवं स्वामी एक ईश्वर है और सब उसकी संतान हैं', इस विश्वास को आधार बनाकर मानवों में बन्धुत्व स्थापन करने की कामना से कई पंथ प्रसृत हुए। पिछले दो सहस्र वर्षों में इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण दो पंथ-ईसाईपंथ तथा इस्लाम जगत् के बड़े क्षेत्र पर फैल भी गए। किंतु केवल ईश्वर के पितृत्व तथा तदनुसार मानवों का बन्धुत्व के विचार कितने ही श्रेष्ठ क्यों न हों, मानवों को स्वाभाविक दीखनेवाली सीमित राष्ट्राभिमान की भावना को वे जीत नहीं सके। इतना ही नहीं, राष्ट्राभिमान की अत्यधिक, अमर्याद तथा संकीर्ण दुर्भावना के साथ अपने विशिष्ट पंथ का दुरभिमान निर्माण करने में ही उनका पर्यवसान हो गया और वे 'धर्म' कहलानेवाले 'पंथ' उनमें से उत्पन्न हो गए तथा ये उपपंथ स्वयं ही मानव-संहार के साधन एवं प्रेरक बन गए। 'जगत्साम्राज्य किसी पंथविशेष का ही हो, अन्य सब पंथ-मार्ग नष्ट हो जाएं' इत्यादि राष्ट्र की भौतिक जीवनसंबंधी दुर्भावनाओं का इनमें प्रादुर्भाव हो गया तथा ये पंथ राष्ट्र की दुर्भावनाओं से युक्त होकर मानवों के अति भयानक शत्रु बन गए। यह भी इतिहास है। जानकार इसे जानते हैं।

इस प्रकार अतिरेकी राष्ट्रवाद तथा असहिष्णु पंथवाद से पीड़ित मानवता का अपने अन्तःकरण की सुप्त-सी प्रेममयी विशालता का स्मरण करके, उसकी पुकार सुनने के लिए, उस प्रेममयी, विशाल, बन्धुत्वपूर्ण मानवजीवन की चिरंजीवी स्थापना के लिए तड़प उठना स्वाभाविक है। एवं मनीषी मानवों के लिए इस प्रकार की विशालता को चिरस्थायी बनानेवाले सुस्थिर आधार की खोज भी स्वाभाविक है।

धर्म, ईश्वर आदि भाव भी संघर्ष के हेतु बने, राष्ट्र-दुरभिमान तो पहले से था ही। यह देखकर सामान्य जनों को, जिन्होंने जगत् की वास्तविक एकता का साक्षात्कार नहीं किया है तथा जो इस लोक को ही सर्वस्व मानते हैं, स्वाभाविक ही तुरंत यही विचार सूझता है कि 'धर्म, ईश्वर, राष्ट्र आदि भावों को जीवन से हटाकर संपूर्ण जगत् तथा मानवों के बीच आर्थिक समानता के आधार पर तथा अधिकारों की संपूर्ण समानता का आग्रह करके संघर्षविहीन जीवन का निर्माण करना चाहिए।' गत कुछ शताब्दियों में राष्ट्र के स्थानविशिष्ट भाव के निर्माण के साथ ही एक बड़ा परिवर्तन प्रारंभ हो चुका था, जो औद्योगिक क्रांति के नाम से परिचित है। भौतिक शास्त्रों की अभूतपूर्व, असामान्य प्रगति के कारण मानव को अपनी शक्ति के ऊपर इतना अधिक विश्वास होने लगा है कि जगत् के संचालक ईश्वर तथा तदधिष्ठित धर्म अज्ञानी लोगों की कल्पनामात्र है, यह कहने में भी नहीं सकुचाता। वस्तुतः विज्ञान से [illegible]

सकता था। अतः धर्म, ईश्वर आदि को छोड़कर विज्ञान के बल से प्रकृति पर विजय प्राप्त करके मैं जगत् का संचालन कर लूँगा, इस प्रकार साहसपूर्ण कार्य करने को उद्यत होना उसके लिए अस्वाभाविक नहीं है।

इस विज्ञान का एक और परिणाम यह हुआ कि उत्पादन के साधनों की क्षमता कल्पनातीत बढ़ गई। कुछ लोगों के हाथों में इन साधनों के द्वारा धन पूंजीभूत हो गया, इससे मनुष्यजीवन में धनी-निर्धन, पूँजीपति-श्रमिक ऐसे नवीन भेदों का निर्माण होकर वे अधिकाधिक स्पष्ट होने लगे। जीवन के भौतिक सुखों के स्तर में भी अत्यधिक भिन्नता का अनुभव होने लगा, इससे ईर्ष्या-द्वेष आदि विप्लवकारी भावों का जन्म होने लगा। एक-दूसरे के सुख में सुखी होना, अपने जीवन से संतोष इत्यादि गुण धर्म-विश्वास के फल थे। विज्ञान के द्वारा धर्म को पदच्युत करने का प्रयास होते ही वे गुण लुप्त होकर असहिष्णुता की अनुभूति बढ़ने लगी। उत्पादन की वृद्धि के साथ उसका वितरण करने की सुगमता की प्राप्ति होने के लिए राष्ट्र के रूप में कुछ समूहों ने साम्राज्य विस्तार कर विज्ञान में अप्रगत अन्यान्य लोगों का उत्पीडन-शोषण आरंभ किया। पीड़ित जन-समूहों में अपने उत्पीडक राष्ट्रों के प्रति विद्वेषाग्नि का धधक उठना अपरिहार्य था। इसका अर्थ यह हुआ कि राष्ट्रभाव के साम्राज्यवादी बनने का कारण केंद्रीभूत धन की, पूँजी की वृद्धि की कामना ही दिखाई दी। अतः 'इस पूँजीवाद को नष्ट करना, धर्म का भी अपने उपकरण के रूप में उपयोग करनेवाले, इस पूँजीवाद पर आधारित राष्ट्र को समाप्त कर, जगत्में एक आर्थिक समानता पर अधिष्ठित अधिसत्ता उत्पन्न करना ही मानवता की प्रतिष्ठा के लिए एकमात्र मार्ग है यह विश्वास अनेक मनीषियों के अन्तःकरण में दृढ़ हो गया। आधुनिक काल का जागतिक समाजवाद या साम्यवाद इसी विश्वास का परिणाम है।

किंतु अर्थ-व्यवस्था के परिवर्तन मात्र से मानव के सहस्रों वर्षों के स्वभाव नहीं बदलते। यद्यपि आर्थिक समानता का प्रचार किया जाता है एवं वैसी ही शिक्षा भी दी जाती है; बाल्यकाल से ही विज्ञान तथा अर्थप्रधान साम्यवाद के ही संस्कार कर अन्य सब प्रकार के विचार-संस्कारों के प्रति घृणा निर्माण करने का आयोजन भी किया जाता है, तथापि इन सबके परे अंतस्तलमें इसी घृणा के शिक्षा-संस्कारों से परिपुष्ट होनेवाले सत्ता-साम्राज्य आदि के स्वार्थ, वैयक्तिक अधिकार-मद आदि मानव-संघर्ष के हेतु अन्य रूप धारण कर प्रकट होते ही रहते हैं। आज रूस आदि देशों में इस बात के प्रमाणों की कमी नहीं। आर्थिक समानता की घोषणा स्वयं ही एक ऐसी साम्राज्यवादी प्रेरणा बनी हुई दीख रही है। कुछ काल के उपरांत उसका यथार्थ विनाशकारी [illegible] प्रकट होनेवाला ही है। आज से पहले ही वह असंख्य मानवों के विनाश का [illegible] बन चुका है। यों असंख्य मानवों के विनाश पर उर्वरित मानवों को सुख देने का [illegible] अवश्य ही चमत्कारपूर्ण है। उस पर यह विश्वास करना कि वह कभी पूर्ण [illegible] की प्रतिष्ठा तथा बंधुभाव, प्रेम, विश्वास आदि का निर्माण कर सकेगा, [illegible]

लोगों के अथवा वर्तमान में किसी विषम जीवन से व्यथित होकर किसी भी प्रकार, किसी के भी आधार पर उस जीवन से छुटकारा पाने के लिए लालायित अदूरदर्शी मनुष्यों के लिए ही ऐसा समझना संभव है।

इस अवस्था में, विज्ञान से एक-दूसरे के निकट आए हुए मानव को उसी विज्ञान के बल पर अधिक सुगमता से एक दूसरे का विनाश करने में समर्थ देखकर शुद्ध-स्नेहमय मानवता का स्वप्न देखनेवालों के अंतःकरण का विदीर्ण होना अनिवार्य है। इस विषम अवस्था से निकलने का मार्ग ढूँढ़ना ही चाहिये। आज जो सर्वनाश-कारी शस्त्रास्त्र के निर्माण की स्पर्धा चल रही है, उससे वैज्ञानिक भी चिंतित हो उठे हैं और ये विज्ञान के अनुसंधान, प्रकृति की शक्ति का उपयोग करने का यह ज्ञान विनाश के लिए नहीं, अपितु उन्नति के लिए उपयुक्त हो एवं मानव एक कुटुंब के रूप में रहकर परस्पर सहकारी बनें ऐसी उत्कट इच्छा जगत् के मनीषियों के अंतःकरण में प्रकट होकर क्रमशः बल पकड़ रही है। मार्ग की खोज चल रही है।

इस परिस्थिति में कुछ बातें स्मरण रखना लाभदायक होगा। संपूर्ण मानवजाति का एक कुटुंब के रूप में स्थित होना असंभव नहीं है, किंतु इसमें कोई यदि यह सोचे कि भीतर-बाहर सब समान हो जाएंगे तो यह सोचना ठीक नहीं है और न ऐसी निर्जीव समानता मानव के सुख का निर्माण ही कर सकती है। जबतक सृष्टि है, तब तक विविधता रहेगी ही। विभिन्न स्थानों के समूह अपने स्थानवैशिष्ट्य तथा परंपरावैशिष्ट्य से युक्त रहेंगे ही। इन सब वैशिष्ट्यों युक्त इन राष्ट्रजीवन भोगनेवाले समूहों के वैशिष्ट्य को नष्ट कर उन्हें एक ही ढाँचे में ढालने की चेष्टा करना जगत् की सुंदरता, सुख आदि को नष्ट करना है। वैशिष्ट्य नष्ट होने से उन समूहों की जीवनविषयक अंतःस्फूर्ति ही नष्ट हो जाएगी। इस प्रकार का मृतप्राय मानव पशुभाव से केवल शरीर-कर्म तथा सुखोप-भोग आदि में ही संतुष्ट होगा तथा इसके फलस्वरूप उसके भीषण अधःपतन की संभावना होगी। अतः आवश्यक है कि राष्ट्रों का विनाश न करके उन्हें अपने-अपने श्रेष्ठ वैशिष्ट्य से युक्त जीवन विकास करने दिया जाए। इस विकास में सब राष्ट्र परस्पर सहयोगी बनें, अनिष्ट विशेषताओं को परस्पर सहकार्य से दृढतापूर्वक हटा दें, ऐहिक जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु सब राष्ट्र एक-दूसरे का भरण-पोषण करने में सहायक हों। वैधानिक प्रगति के अभिमान से अत्यधिक भोग-सामग्री का निर्माण न करते हुए, संपूर्ण जगत् को आवश्यक वस्तुएँ मिलती रहें इसके लिये सब राष्ट्र आपस में मिलकर उन वस्तुओं के निर्माण-कार्य का बँटवारा कर लें तथा अधिक वस्तुओं से उत्पन्न हो सकनेवाले संघर्षों को समाप्त कर दें। संपूर्ण जगत् में एक-दूसरे की विशिष्टता का यथार्थ ज्ञान तथा तत्संबंधी आदर का निर्माण हो और इस प्रकार की व्यवस्था से परस्पर प्रेम-पूर्ण तथा सहयोगपूर्ण परस्परपूरक राष्ट्रों का एक महान् कुटुंब स्थापित करने का प्रयत्न किया जाए और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि सब लोग इस 'एक कुटुंब' भावना को यथार्थ आधार समझकर चलें।

जिन महानुभावों ने जगत् की एकता के स्वप्न साकार करने के हेतु विचार किये हैं, सिद्धांत खोज निकाले हैं, उनमें से अपने भारत के ऋषि, मुनि, संत आदि के तत्त्वज्ञान एवं जीवनदर्शन की ओर जगत् के अन्य भौतिकता में प्रगत मानवों का ध्यान अभी पर्याप्त रूप में नहीं गया है। वास्तव में यह तत्त्वज्ञान ही, अद्वैत ही, एक ही सच्चिदानंद सर्वत्र व्याप्त है—भेददृष्टि द्वैतदृष्टि सर्वथा मिथ्या है—इसकी अनुभूति ही मानव के व्यावहारिक जीवन में मानवता, बंधुता आदि शब्दों से परिलक्षित विशाल जीवन को प्रतिष्ठित करने की क्षमता एवं पात्रता निर्माण कर सकती है। विविधता में एकता का साक्षात् दर्शन इसी तत्त्वज्ञान में रमने पर हो सकता है। आज का विज्ञान भी इसी तत्त्वज्ञान की नितांत सत्यता की ओर संकेत करने लगा है तथा बढने लगा है। इस तत्त्वज्ञान की उपासना होना तथा इस ज्ञान को ही जीवन का आधार बनाकर चलना शांतिसुखपूर्ण, बंधुभाव से भी दृढ ऐकात्मपूर्ण मानवता की चिरजीवी स्थिति के लिए अनिवार्यरूप से आवश्यक है।

परंतु कुछ लोग यह कह सकते हैं कि ‘यह तत्त्वज्ञान तो पुराने समय से विद्यमान है, भारत तो इसपर अभिमान करता रहा है, परंतु न तो भारत में, न अन्यत्र ही जगत् में कहीं इसका प्रभाव दिखाई देता है। किसी अंश में यह शंका ठीक ही है। परंतु यदि हम सोचेंगे तो दिखाई देगा कि ज्ञान तो दिक्कालातीत सत्य था और सत्य ही है, किंतु उसका अनुभव करके तदनुसार व्यक्ति तथा समाज के जीवन की रचना करने की उत्सुकता जनमत में उतनी नहीं रही, जितनी रहनी चाहिये। इस ज्ञान के आधार पर जीवन-रचना करने का विशाल समाजव्यापी प्रयोग यथार्थरूप में कभी हुआ ही नहीं। कहीं किसी अंश में उसका प्रयोगाभास जब-जब हुआ, तब-तब उस आभासमात्र से भी मानव में परस्पर स्नेह, विश्वास, आत्मीयता, सहकार्य आदि गुण प्रकट हुए तथा समाज उत्कर्ष को प्राप्त हुआ। अपने भारत के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे। परंतु पूर्णरूपेण यह प्रयोग हुआ नहीं। इसी हेतु श्रीव्यासमहर्षि को कहना पडा कि ‘धर्म को आधार बनाओ, उसी से ऐहिक जीवन का उत्कर्ष एवं सर्व सुखोपभोग प्राप्त होंगे। ऐसे धर्म की उपासना क्यों नहीं करते ? अरे, मैं हाथ उठाकर पुकारकर यह कह रहा हूँ, पर मेरी कोई सुनता ही नहीं।’

आज विज्ञान के द्वारा इस तत्त्वज्ञान की पुष्टि होने लगी है। विज्ञान ने अपनी अपूर्णता भी विनाशकारी बनकर सिद्ध कर दी है। अब इस ‘ज्ञान’ के आधार पर विज्ञान का प्रयोग करते हुए ‘एक ही सत्तत्व जगत्रूप बनकर आविष्कृत हुआ है’ इसकी अनुभूति प्राप्त करने के लिए अनुभूत मार्गोंका अवलंब करना चाहिये। इस ज्ञान के आधार पर मानवसमाज की वैज्ञानिक शास्त्रशुद्ध रचना-धर्मनिर्दिष्ट चातुर्वर्ण्यात्मक रचना करनी चाहिये तथा समष्टिरूप परमात्मा का मानवजाति एक स्वरूप है, प्रत्येक व्यक्ति-समूह तथा समान गुण-कर्मयुक्त व्यक्ति-समूह, स्थल उस विराट् देह के अवयव हैं इस [illegible] को व्यवहार में लाकर सब का समन्वय करना आवश्यक है। इसी में [illegible]

शांति तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का यथार्थ अनुभव करानेवाले ज्ञानयुक्त, शील-चारित्र्य-युक्त, धर्मनियंत्रित, परस्पर विश्वास तथा सहकारसंपन्न मानवसमाज का निर्माण होगा और उससे सुख की चरम सीमा प्राप्त हो सकेगी। आज के अधिकारविषयक तथा स्वार्थ-विषयक सारे संघर्ष—आर्थिक-राजकीय, धर्ममताधिष्ठित या इसी प्रकार के अन्य किसी भी स्वार्थ के कारण उत्पन्न होनेवाले संपूर्ण संघर्ष—सदा के लिए शांत हो जाएंगे और स्वकर्तव्य का योग्य परिचय तथा परिपालन होकर सर्वत्र प्रेममय मानव—परमात्मा के अंश-भूत होने के कारण अति विशुद्ध प्रेममय मानव—का उन्नत जीवन प्रतिष्ठित हो सकेगा।

सर्वजगद्व्यापी अंतर्यामी जगच्चालक सच्चिदानंद श्रीपरमात्मा अपनी धर्मरक्षण की प्रतिज्ञा का स्मरण कर इस ज्ञानरूप जीवन के आधार की प्रतिष्ठापना करने की शक्ति के रूप में अभिव्यक्त जगत् में अपना आनंद भरें, मानव उस आनंद में अंतर्बाह्य सुस्नात हो और प्रत्येक मानव को संपूर्ण जगत् ही सच्चिदानंद रूप में दिखाई दे। यही इच्छा श्रीभगवच्चरणों में निवेदन कर यह अल्पसा, अल्प मतिद्वारा व्यक्त किया हुआ प्रबंध पूर्ण करता हूँ।

('कल्याण' मानवता अंक जनवरी १९५९)

राष्ट्रीय एकात्मता का विश्लेषण

[भारत के प्रधान मंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू द्वारा अपने राष्ट्र की भावात्मक एकात्मता दृढ करने के उद्देश्य से दिल्ली में सन् १९६१ में, दि. २८ सितंबर से दि. १ अक्तूबर तक 'विज्ञान भवन' में एक नेशनल इंटिग्रेशन कान्फरन्स (राष्ट्रीय एकात्मता सम्मेलन) बुलाई गयी थी। देशभर के १५३ विचारकों को, जिनमें केंद्रीय मंत्रियों, प्रदेशों के मुख्य मंत्रियों, लोकसभा में विभिन्न राजनैतिक दलों के प्रमुख नेताओं, विश्वविद्यालयों के कुलपतियों, शिक्षाविदों, वैज्ञानिकों, प्रमुख उद्योगपतियों का समावेश था, आमंत्रित किया गया था। परिषद में कुल १३० सज्जनों ने भाग लिया था।

परिषद के प्रथम दिवस पर राष्ट्रपति डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् का उद्घाटन पर भाषण हुआ। उन्होंने अपने भाषण में एक संस्कृत वचन, "तं वर्षम् भारतनाम भारती यत्र संततिः" उद्धृत किया।

इसी परिषद में नेशनल इंटिग्रेशन काउन्सिल (राष्ट्रीय एकात्मता परिषद) स्थापन करने का निर्णय किया गया तथा उसके अध्यक्ष पद पर प्रधान मंत्री की नियुक्ति की गयी।

सन् १९६२ में दि. २ तथा दि. ३ जून को नेशनल इंटिग्रेशन काउन्सिल की प्रथम बैठक हुई जिसमें यह निर्णय किया गया कि राष्ट्रीय एकात्मता

संघचालक श्रीगुरुजी को समिति की कार्यवाही में आमंत्रित किया जाए। यह निर्णय समिति द्वारा प. पू. श्रीगुरुजी को पत्र से सूचित किया गया। श्रीगुरुजी ने पंजाब प्रांत संघचालक मा. लाला हंसराज जी गुप्त और उत्तर प्रदेश के प्रांत संघचालक मा. बै. नरेन्द्रजित सिंह जी को अपनी ओर से इस समिति की बैठकों में भाग लेने के लिए भेजा था।

समिति के विचार-विनिमय में भाग लेते समय किन बातों पर चर्चा होना चाहिए इस संबंध में मार्गदर्शन हेतु श्रीगुरुजी ने कुछ विचार लिपिबद्ध कर रखे थे जिन्हें यहाँ उद्धृत किया जा रहा है।

इसमें प. पू. श्रीगुरुजी ने अपनी मर्मग्राही दूरदृष्टि से गणमान्य नेताओं द्वारा कहे जानेवाले कम्युनलिज्म (सांप्रदायिकता), मेजॉरिटी एण्ड माइनॉरिटी कम्युनलिज्म (बहुसंख्यकों और अल्पसंख्यकों की सांप्रदायिकता), लॉयल्टी टू रिलिजन इन कॉन्ट्राडिक्शन टू ऑर इन अपोजिशन टू दि लॉयल्टी टू कन्ट्री (राष्ट्रनिष्ठा से विरुद्ध या विभक्त संप्रदायनिष्ठा), सेक्युलरिज्म (धर्मनिरपेक्षता), आदि शब्दों का मूलग्राही विश्लेषण कर, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को अभिप्रेत हिंदु-जीवन दृष्टि की अभिव्यक्ति संक्षेप में की है।

यह सामग्री खंड क्र. ४ में देनी चाहिए थी। परंतु स्थानाभाव के कारण उसमें नहीं दे सके। इसलिये उसे इस खंड में दे रहे है।]

अध्याय—१

१. भारतीय राष्ट्रजीवन पुरातन है। एक तत्वज्ञान के अधिष्ठान से निर्मित समान जीवनादर्शों से युक्त एक सांस्कृतिक परंपरा से जनजीवन परस्पर संबद्ध है। ईसाई या इस्लाम के आक्रमणकारी आगमन के बहुत पूर्व से विद्यमान है। अनेक पंथ, संप्रदाय, जातियाँ या कभी-कभी अनेक राज्यों में विभक्तसा दृश्यमान होते हुए भी उसकी एकात्मता अविच्छिन्न रही है। जिस मानवसमूह की यह एकात्म जीवनधारा रही है उसे 'हिंदु' इस नाम से संबोधित किया जाता है। अतः भारतीय राष्ट्रजीवन हिन्दु राष्ट्र जीवन है।

२. राष्ट्रीय एकात्मता का विचार इसी शुद्ध भूमिका में से होना चाहिये। इस वास्तव राष्ट्र धारा से, उसकी परंपरा-आशा-आकांक्षों से एकरसता का निर्माण ही इन्टीग्रेशन (एकरसता) है।

३. इस राष्ट्रीय अस्मिता को पुष्ट एवम् सबल करनेवाले कार्य ही राष्ट्रीय हैं। इस अस्मिता से अपने को पृथक मान कर इस राष्ट्र की आशा-आकांक्षाओं के विपरीत, उनके विरुद्ध आकांक्षाओं को धारण कर अपने पृथक अधिकारों की मांग करनेवाले समूह कम्यूनल (सांप्रदायिक) कहे जाने चाहिये। अपने [illegible]

अधिकारादि की पूर्ति के हेतु राष्ट्र के जनसमूह पर आघात करनेवाले—यह आघात धर्मान्तर के रूप में, श्रद्धास्थानों को ध्वस्त वा अपमानित करने के रूप में, महापुरुषों को अवगणित करने के रूप में या अन्य किसी रीति से हों—राष्ट्र विरोधी माने जाना चाहिये।

४. भारत में हिन्दु यह किसी भी प्रकार सांप्रदायिक (कम्युनल) नहीं कहा जा सकता। वह सदैव संपूर्ण भारत की भक्ति करनेवाला, उसकी उन्नति तथा गौरव के हेतु परिश्रम करने के लिये तत्पर रहा है। भारत के राष्ट्र जीवन के आदर्श (व्हैल्यूज) हिन्दु-जीवन से ही प्रस्थापित हुए हैं। अतः वह राष्ट्रीय है, कम्युनल (सांप्रदायिक) कदापि नहीं।

५. बहुसंख्यकों की सांप्रदायिकता-(मेजारिटी कम्युनेलिज्म)—यह कल्पना निरी भूल है। जनतंत्र में बहुसंख्यकों के मत को व्यावहारिक जीवन में सर्वमान्य मानना आवश्यक है। अतः बहुसंख्यकों का व्यावहारिक अस्तित्व राष्ट्रीय अस्तित्व माना जाना उचित है। इस दृष्टि से भी हिन्दु—जीवन तथा उसके उत्कर्ष हेतु किये प्रयत्न राष्ट्रीय हैं, सांप्रदायिक नहीं। मेजारिटी कम्युनेलिज्म (बहुसंख्यकों की सांप्रदायिकता) यह प्रयोग जनतांत्रिक भाव के विरुद्ध है। परकीय राज्य में परकीय राज्यकर्ता सब जनता को दास तथा विभिन्न जातियों में-(कम्युनिटीज) में-विभक्त मानने के कारण वे मेजोरिटी, माइनारिटी कम्युनेलिज्म जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं। उनकी दृष्टि से यह ठीक हो सकता है किन्तु स्वराज्य में मेजोरिटी का ही प्रमुख रहना उचित होने के कारण मेजारिटी कम्युनेलिज्म यह शब्द प्रयोग तर्क के, न्याय के, सत्य के विरुद्ध है।

६. हिन्दु सदैव परमतों का समुचित आदर करता रहा है। उपासना की भिन्नता को वह राष्ट्रीय ऐक्य का विरोधक नहीं मानता। उपासना पद्धति के अलौकिक मार्ग का बहाना बनाकर ऐहिक जीवन में पार्थक्य की नीति को ग्रहण करने का [illegible] विशेष अधिकारों की मांग से राष्ट्र-जीवन पर आघात करने की प्रवृत्ति का [illegible] कभी-कभी करता है, यद्यपि सदैव सतर्क रहकर ऐसी प्रवृत्ति का दृढ़ता से विरोध करना उसका स्वाभाविक परम कर्तव्य है।

७. ऐसी प्रवृत्तियों (राष्ट्र-जीवन पर आघात करने की प्रवृत्ति) का पोषण करना, उनको धारण कर चलनेवाले समूहों की राष्ट्रविरोधी मांगों की पूर्ति [illegible] संतुष्टीकरण की नीति अपनाना, तात्कालिक लाभ के लिये [illegible] रहना, उनके संतुष्टीकरण के हेतु राष्ट्रीय जीवनप्रवाह के स्वाभिमान [illegible] को, हित संबंधों को चोट पहुंचाने की चेष्टा करना राष्ट्रजीवन की [illegible] राष्ट्रीय एकात्मता इन चेष्टाओं से कभी सिद्ध नहीं हो सकती।

८. इन विपरीत राष्ट्रहित विरोधी भावनाओं का विरोध करने की [illegible] समाज की साम्प्रदायिकता कहना बड़ी भूल है, [illegible]

विपर्यस्त बुद्धि का लक्षण है। वस्तुतः ऐसा विरोध करना प्रत्येक राष्ट्रीय वृत्तिवाले नागरिक का प्रमुख कर्तव्य है।

९. कम्युनेलिज्म के अनेक प्रकार दिखायी देते हैं। जिसकी जीवन धारा से भारतीय राष्ट्र की अभिव्यक्ति होती है उस हिन्दु जनसमूह के विपक्ष में खड़े अन्य मतावलम्बी एक प्रकार के कम्युनल हैं। हिन्दु समाज के अन्तर्गत, उसी की बहुमुखी प्रतिभा से निर्मित पंथ अपने मूल को, प्रेरणास्रोत को, अपने उद्‌गम को, उद्‌गम के हेतु को विस्मृत कर अपने आपको हिन्दु-समाज तथा धर्म से विभिन्न मानकर उस आधार पर राजनैतिक, आर्थिक आदि ऐहिक जीवन के विशेषाधिकारों की मांग करनेवाले तथा इन मांगों की पूर्ति कराने के हेतु हिन्दु-समाज से पृथक होने की घोषणा तथा अन्य अनिष्ट प्रकार के आंदोलनों का अवलम्ब करनेवाले दूसरे प्रकार का कम्युनेलिज्म है। वंश (रेस) भिन्नता की मिथ्या भावना के आधार पर विभक्तता की मांग, तत्पूर्त्यर्थ शेष समाज के प्रति विद्वेष, घृणा तथा हिंसा का व्यवहार करनेवाले का तीसरे प्रकार का कम्युनेलिज्म है। स्पृश्यास्पृश्य, ब्राम्हण-अब्राम्हण आदि जाति 'कास्ट' विषयक विवाद, विद्वेष, ऐहिक स्वार्थ, विशेषाधिकारादि भावों को लेकर चलनेवाले यह चौथा कम्युनेलिज्म का प्रकार है। भाषिक गुटों का अपने निकटस्थ अन्य भाषियों से स्पर्धा-कटुता, द्वेष आदि का व्यवहार पांचवा कम्युनेलिज्म है। लिंग्विस्टिक माइनारिटीज (भाषाई अल्पसंख्य) यह शब्द प्रयोग इसी में से उत्पन्न हुआ है। प्रान्तीयता की सकुंचित भावना से प्रेरित हो अन्य प्रान्तनिवासियों के प्रति अयोग्य व्यवहार छठा प्रकार है। दक्षिण-उत्तर, पंजाबी-गैरपंजाबी, मराठी-गुजराती-कन्नड विवाद, बंगाल-बिहार-उत्कल विवाद, आदि इसी के उदाहरण हैं। चुनाव के स्वार्थ के हेतु जाति,पंथ, भाषा आदि की उत्तेजना निर्माण कर विद्वेष के बीज को बढावा देना यह बडा व्यापक एवम् अति भयावह ऐसा सातवां प्रकार है, जिसके दोषी शासकीय दल से लेकर अनेक राजनैतिक दल हैं। यह जबतक विद्यमान रहेगा, अन्य किसी प्रकार का कम्युनेलिज्म दूर होना असंभव है। इस सातवे प्रकार की प्रवृत्ति का त्याग करने से अन्यान्य प्रकारों का उपाय करने में कम कठिनाई का अनुभव होगा। और भी छोटे-बडे प्रकार हो सकते हैं। कुछ प्रमुखों का उल्लेख किया है।

१०. इससे स्पष्ट होगा कि कम्युनेलिज्म के कुछ प्रकार धर्ममत यानी पंथ को आधार बनाकर पनपते हैं तो शेष शुद्ध ऐहिक जीवन के (सेक्युलर) स्वार्थ के आधार पर निर्माण होकर चलते हैं। अतः यह कहना कि सेक्युलैरिज्म का विरोधी भाव कम्युनेलिज्म है भ्रमपूर्ण है। वास्तविकता तो यही है कि धर्म के क्षेत्र में धर्ममत भिन्नता से कोई संघर्ष साधारणतया नहीं होता। संघर्ष भौतिक स्वार्थ के जीवन में—सेक्युलैरिज्म में—ही परस्पर स्पर्धा के कारण उत्पन्न होता है।

११. धर्म विचार संकुचित कहना तथा आर्थिक संबंधों को व्यापक घोषित करना युक्ति, बुद्धि और इतिहास से सिद्ध नहीं होता। ईसाई मत की व्याप्ति के अंतर्गत अनेक संकुचित आर्थिक हितसंबंधों से निर्मित अनेक राष्ट्र-राज्य योरोप तथा अमेरिका में दिखायी देते हैं। एक इस्लाम के व्यापक स्वरूप में संकुचित आर्थिक, वांशिक राज्य चल रहे हैं। एक व्यापक सनातन धर्म (इसमें वैदिक अवैदिक आदि सब एतद्देशीय मतों का अंतर्भाव है) के अंतर्गत आज भी भारत, नेपाल आदि अनेक आर्थिक जीवन पर आधारित राज्य विद्यमान हैं। इससे स्पष्ट है कि धर्ममत का अनुसरण व्यापकता तथा आर्थिक हितसंबंध संकुचितता बनानेवाले हैं।

१२. धर्म तो नित्य व्यापक, संपूर्ण जीवन की व्यवस्था देनेवाला इंटर्नल ला ऑफ लाइफ है। धर्म के अंतर्गत उपासना विशेष भी आर्थिक स्वार्थ जीवन से व्यापक रह सकते हैं यह उपयुक्त उदाहरणों से स्पष्ट है। छोटे संप्रदाय या पंथ-उपपंथ का अतिरेकी अभिमान मात्र आर्थिक आदि ऐहिक हितसंबंधों की समानता, एकता में संकुचितता के भाव उत्पन्न कर ऐहिक जीवन में कटुता तथा संघर्ष निर्माण करनेवाला बन सकता है। अतः यह अभिमान अतिरेक हेय (त्याज्य) है।

१३. धर्म, समाज, राष्ट्र आदि को गौण मानकर केवल आर्थिक हितसंबंधों के आधार पर ही ऐक्य निर्माण करने का कोई सोचता हो तो वह एकता किसी भूभाग मात्र के लिये सीमित न रह कर पृथ्वी के मानवों के आर्थिक हितभिन्नता के आधार पर जगद्व्यापी गुटों (क्रॉस सेक्शन्स) के रूप में ही हो सकेगा। फिर नैशनल इंटीग्रेशन का कोई अर्थ या मूल्य रहता नहीं।

१४. व्यावहारिक जीवन में राष्ट्र से समरसता निर्माण करते समय उपासना पद्धति विशेष का नाश अभिप्रेत नहीं है उसकी व्यावर्तकता (Exclusiveness) तथा असहिष्णुता (Intolerance) के अवगुणों का नाश मात्र अभिप्रेत है। भाषाओं का नाश अभिप्रेत नहीं उसके दुरभिमान से निर्मित विभक्तता के भाव का (Separatism-Desire to secede) नाश अभिप्रेत है।

उपाय

१. भारत के विशुद्ध-हिन्दु राष्ट्र जीवन के सत्य का असंदिग्ध उद्घोष कर उसे पुष्ट, बलिष्ठ, वैभवयुक्त, सार्वभौम, निर्भय बनाना संपूर्ण भारत की जनता का सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है, यह शिक्षा जातिपंथ निर्विशेष प्रत्येक व्यक्ति को दें। इस राष्ट्र की उत्कट भक्ति सब में जगाएं।

२. अहिन्दु व्यक्तियों की उपासना पद्धति को सन्मान्य एवम् सुरक्षित रखते हुए भी राष्ट्र की परंपरा, इतिहास, जीवन-धारा, आदर्शों, श्रद्धाओं के प्रति आत्मीयता

एवम् आदर रखने का, अपनी आकांक्षाओं को राष्ट्र की आकांक्षाओं में विलीन करने का संस्कार उन्हें प्रदान करने का प्रबंध करें।

३. ऐहिक क्षेत्रमें सब नागरिक एकसे हैं इस सत्य का पूर्णरूपेण पालन करें। जाति, पंथ आदि के गुट बनाकर नौकरियों में, आर्थिक सहायता में, शिक्षामंदिरों के प्रवेश में, किसी भी क्षेत्र में, किसी भी प्रकार के विशेषाधिकार (राइटस एण्ड प्रिविलेजेस) पूर्णतया बंद करें। माइनॉरिटी, कम्युनिटीज की बातें करना, उस ढंग से सोचना एकदम बंद करें।

४. स्वतंत्र राष्ट्र के व्यवहार के लिये उसकी अपनी भाषा होती है। संविधान ने राष्ट्र की अनेक भाषाओं में से सुविधा व सरलता की दृष्टि से हिन्दी का स्वीकार किया है। उसे सरलता के नाम पर दुर्बोध करना तथा उसका उर्दूकरण करना यह राष्ट्र की सार्वभौम स्वतंत्रता में सांप्रदायिकता और सांप्रदायिक तुष्टीकरण (कम्युनलिज्म एण्ड कम्युनल अपीजमेंट) की मिलावट करना है। राष्ट्र की राज्यव्यवहार-भाषा से यह व्यवहार या परकीय भाषा-दासता के भाव में देश को जकडनेवाली अंग्रेजी को राज्यभाषा के समकक्ष बनाने का व्यवहार, राष्ट्रभक्ति के विशुद्ध भाव को नष्ट करनेवाला है। राष्ट्रभक्ति की उत्कटता पर ही एकात्म भाव सर्वथा अवलम्बित होने के कारण भाषासंबंधी यह दुर्नीतियां त्वरित बंद हों।

५. एक देश, एक समाज, एक भावात्मक जीवन, एक ऐहिक हितसंबंध, एक राष्ट्र अतएव इस राष्ट्र का व्यवहार एक राज्य के द्वारा एकात्मशासन के रूप में व्यक्त होना स्वाभाविक है। आज की संघात्मक (फेडरल) राज्यपद्धति पृथकता की भावनाओं का निर्माण तथा पोषण करनेवाली, एक राष्ट्र-भाव के सत्य को एक-प्रकार से अमान्य करनेवाली अतएव विच्छेद करनेवाली है। इसको जड से ही हटाकर तदनुसार संविधान शुद्ध कर एकात्म शासन प्रस्थापित हो।

६. धार्मिक दृष्टि से जितने प्रकार के आघात या अतिक्रमण होते हैं जैसे पूजास्थानों का विध्वंस, मूर्तिभंजन, गोहत्या, किसी भी सार्वजनिक या वैयक्तिक स्थानपर पीर कब्र, दर्गाह, मजार, क्रास आदि अनधिकार रूप से खडा करना, अन्यायपूर्ण व्यवहार से धार्मिक शोभायात्रा आदि को रोकना, मारपीट करना, धमकियां देना इनका निवारण करने के स्थान पर प्रत्यक्ष या परोक्षरूप में इन अन्यायों का पृष्ठ-पोषण करना, प्रोत्साहन देना यह आज की शासकीय नीति कटुता उत्पन्न करनेवाली होने से इसका अविलम्ब त्याग कर ऐसे अन्यायों को दृढता से दूर करने की नीति का पालन करना प्रारंभ हो।

७. हिन्दु के लिये धर्म की पुकार भारत में ही है। धर्मक्षेत्रों का आकर्षण उसे भारत में ही देशभर भ्रमण करने के लिये प्रेरित करता है। उसकी ऐहिक कामनाएँ भारत से ही संबद्ध हैं। अर्थात् उसकी अंतर्बाह्य परिपूर्ण निष्ठा भारत पर ही है। अतः धर्म और देश आदि के आर्कषणों का उसके जीवन में परस्पर विरोध हो ही नहीं

सकता, सदैव एकरूपता रहती है। उसमें डिव्हाइडेड लॉयलटी (विभक्तनिष्ठा) नहीं है, लॉयलटी टू रिलिजन इन कान्ट्राडिक्शन टू ऑर इन अपोजिशन टू दि लॉयलटी टू कन्ट्री–राष्ट्रनिष्ठा से विरुद्ध या विभक्त संप्रदायनिष्ठा–हिन्दु के संबंध में सर्वथा असंभव है। उसके शुद्ध राष्ट्रीय समाज होने का यह सुदृढ प्रमाण है। उसे कम्युनल कहकर जिनकी डिव्हाइडेड (विभक्त) और कभी-कभी क्वश्चनेबल लॉयलटीज (संदेहास्पद निष्ठायें) हैं उनके स्तर पर लाकर हिन्दु को खडा करना अन्यायपूर्ण, अविवेकपूर्ण है।

८. हिन्दु का अन्य मत में धर्मान्तर होना एकनिष्ठ राष्ट्रभक्ति के स्थानपर विभक्त-निष्ठता यानी निष्ठाहीनता उत्पन्न होना है। देश, राष्ट्र की दृष्टि से यह घातक है। अतः इस पर रोक लगाना आवश्यक है। यह धर्मान्तर सोचकर, तत्त्वज्ञान आदि के अध्ययन-तुलना के पश्चात होता नहीं है। अज्ञान का लाभ उठाकर, दारिद्र्य का लाभ उठाकर, भुला-फुसला कर, प्रलोभन देकर यह किया जाता है, अतः इसमें सद्भाव से किसी उपासना-मत का अंगीकार नहीं है। सद्भावरहित इस प्रकार को रोकना न्याय्य है, अज्ञान, दारिद्र्य से पीडित अपने बांधवों की उचित रक्षा का आवश्यक कर्तव्यपालन है।

९. हिन्दु तत्त्वज्ञान सर्व संग्राहक होने से अहिन्दु समाजों को आत्मसात करने की उसमें शक्ति है। मान्यवर पं. नेहरू ने इसको ध्यान में रखकर ही कहा था कि पूर्वेतिहास में आक्रमणकारी के रूप में आये हुए शक हूणादिकों को अपने राष्ट्र-जीवन में हिन्दु ने जैसा समाविष्ट किया था वैसा ही मुस्लिम, ईसाई आदि का समावेश करना उचित है। मान्यवर पंडितजी ने इस भाषण में राष्ट्रीय एकता प्रस्थापना का, सर्व संप्रदायों के एकीकरण का, उनमें एकनिष्ठता निर्माण करने का सत्य मार्ग प्रदिष्ट किया है। परंतु हिन्दु को अवगणित कर हिन्दु-विरोधी तत्त्वों को गर्वोद्धत आक्रमणों में भी संतुष्टीकरण की नीति से अधिक उद्धत एवम आक्रमणशील बनाने से, हिन्दु स्वत्व, परंपरा को अपमानित कर हिन्दु को निर्वीर्य स्वसंरक्षण करने में भी अक्षम बनाने की आज की विकृत नीति से इस सत्य मार्ग का त्याग ही नहीं उसे नष्ट करना भी हो रहा है। यह विकृति दूर करना व अनवच्छिन्न राष्ट्रनिष्ठा का अनुसरण करनेवाले हिन्दु का वास्तविक स्थान मान्य कर अन्यों को उस मान्यता के अनुरूप उससे समरस बनाने की नीति अपनाना अनिवार्य रूप से आवश्यक है।

१०. राष्ट्रीय एकता के नाम पर बनी हुई समिति ने अनेक असंतुष्ट गुटों को अपनी शिकायतें, मांगे आदि प्रकट करने का अवसर देकर विभक्तीकरण से विशिष्ट मांगों की पूर्ति होने की आशाएँ उनमें जगाई हैं। सांप्रदायिकता का निवारण करने के लिये उसकी व्याख्या बनाकर मार्ग निर्धारण करने का दावा कर उनके स्वार्थ, तथा-कथित अधिकार आदि की पूर्ति होने की अपेक्षा (आकांक्षा) उत्पन्न की है।

इससे प्रत्येक संप्रदाय में आग्रह से विभक्त रहने की इच्छा बलवती हो सकती है।

राष्ट्रीय एकता प्रस्थापित करने की रट लगाने से उसका अभी अभाव है यह धारणा जागकर दृढ होती जाती है। अतः अपने हेतु के मूल उद्देश्य के विपरीत ही इस समिति का अस्तित्व दिखाई देता है। अतः इसे अविलम्ब विसर्जित कर दिया जाय। राष्ट्रीय ऐकात्म्य के विकास के लिये यह बहुत उपकारक होगा।

उपसंहार

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ हिन्दु समाज का राष्ट्रीय स्वरूप पहचानकर हिन्दु समाज के प्रत्येक व्यक्ति के अंतःकरण में ज्वलंत भारतभक्ति, राष्ट्रनिष्ठा जगाने का, राष्ट्रसेवार्थ सर्वस्वार्पणयुक्त शील-चारित्र्यसंपन्न जीवन अपनाने का, उसी दृष्टि से अपने गुणों का अधिकाधिक विकास करने का, सब व्यक्तियों में सामाजिक भावना, सहानुभूति, परस्पर सहकार्य, स्नेह, जागृत करने का, राष्ट्रसेवा में जाति पंथ, भाषा आदि सब गौण हैं, इस सत्य को हृदयंगम कर तदनुसार व्यवहार घटित करने का, निरहंकार बुद्धि, संयमित मन तथा नियमित सूत्रबद्ध व्यवहारकुशल सुदृढ शरीर के सामंजस्य से उत्पन्न होनेवाले जीवन के सर्व क्षेत्रों में अत्यावश्यक सर्व व्यवहारव्यापी अनुशासन प्रस्थापित कर सर्व व्यक्तियों को मिलाकर एकरूप, एकरस, एकात्म, समाज-जीवन, राष्ट्रजीवन आसेतु हिमाचल पुनः प्रतिष्ठित करने का निश्चयपूर्वक प्रयत्न करता है।

संघ की कुछ मांगें नहीं हैं। किन्हीं विशेषाधिकारों के लिए छीनाझपटी नहीं है। राजनैतिक स्पर्धाओं में खडा रहकर सत्ता का उपभोग करने की उसकी इच्छा नहीं है। अतः वैसी नीति भी नहीं है। देश, धर्म, राष्ट्र का संवर्धन, संरक्षण करने के लिए सुसंगठित रूप से बलशाली बनकर जीवनसर्वस्व समर्पित कर अपने राष्ट्र को परमवैभव-शाली, गौरवसंपन्न करने के अतिरिक्त उसकी और कोई आकांक्षा नहीं है। फलतः उसे किसी पंथ, जाति या दल से विरोध, द्वेष आदि का विचार भी स्पर्श नहीं करता। शुद्ध हिन्दु होने के कारण सब के प्रति समानता, स्नेह, सहिष्णुता का व्यवहार उसका स्वभाव है। राज्य का (स्टेट का) व्यावहारिक जीवन भौतिक (सेक्युलर) स्तर पर ही रहता है यह हिन्दु धारणा है। पंथादि के आधार पर विशेष पक्षपातपूर्ण अधिकारों का विचार हिन्दु मत के प्रतिकूल है।

इस दृष्टि से राष्ट्र की आदिकाल से चलती आयी हुई एकात्मता का गठन कर उससे सबकी समरसता प्रस्थापित करना इसका वास्तविक उद्देश्य है। इसके संबंध में दूषित दृष्टि रखकर इसे सबव्हर्सिव्ह (विध्वंसक) आदि कहकर इसे बदनाम करने का प्रयास शासन, शासनारूढ दल के कितने ही महानुभाव, अन्य कुछ राजनैतिक दल करने के कारण कुछ भ्रम फैलाये गये हैं। अन्यथा देशभर में आज हो रहा प्रान्तीयता, भाषाविवाद, जाति-वाद आदि का कटु दृश्य नष्ट करने में अबतक यह बहुत मात्रा में सफल होकर आज यह समितियां आदि बनाने की समस्या उत्पन्न ही नहीं होती।

इस सुदृढ, संगठित, राष्ट्र पुनर्निर्माण पर दृढ विश्वास रख अपने इस पुनीत कार्य को पवित्र व्रत के रूप में ग्रहण कर वह कर रहा है। श्रीभगवान् की कृपा से करते रहेगा और सफल भी होगा।

प्रकरण ४

भेंट-वार्ता—वक्तव्य

गोहत्या निरोध आवश्यक

(दिल्ली में पंजाब प्रांतसंघचालकजी के निवासस्थान पर पत्रकारों से चर्चा करते हुए श्रीगुरुजी ने गोहत्या निरोध आंदोलन के विषय में जो विचार प्रस्तुत किये थे वे यहां दिये हैं।)

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा गोहत्या के विरोध में चलाए जा रहे अभियान का उद्देश्य इस प्रश्न पर जनजागरण करना, संपूर्ण देश के वयस्क व्यक्तियों के हस्ताक्षरों के रूप में जनमत को अभिव्यक्त करना और दुधारू या ठाठ बूढ़ी या बाछी गोहत्या पर देशव्यापी प्रतिबंध के लिए सरकार से आग्रह करना है।

गोरक्षा के लिए कारण

पशुओं की सुरक्षा की आवश्यकता का पहला कारण तो यह है कि अपना देश मुख्यतः कृषिप्रधान है और यहां सामूहिक या विशाल पैमाने पर जोत की प्रथा नहीं है। आचार्य विनोबा भावे का मत है कि छोटे भूखंडों (जैसे ५ एकड) के वितरण से सभी को और विशेषतः बेरोजगारों को रोजगार देने की समस्या हल हो सकती है। इन सब पहलुओं को देखते हुए इस देश में यंत्रों द्वारा खेती बहुत सफल होने की संभावना नहीं है। इसलिए खेती के विभिन्न कामों के लिए पशुओं की बडे पैमाने पर आवश्यकता है। खाद की पूर्ति भी एक पहलू हैं, किंतु वह तभी मिल सकती है जब आजकल बड़े पैमाने पर होनेवाला गोधन का भीषण संहार रोका जाए।

गाय के प्रति जनसाधारण की अनन्य श्रद्धा है, और यही बात मुझे सब से

अधिक जंचती है। जनश्रद्धा के विषयों की आज जिस प्रकार से अवहेलना हो रही है वह दुःखदायक है। लोगों को राष्ट्रीय चेतना से उत्स्फूर्त करना तभी संभव होगा जब प्राचीन परंपरागत श्रद्धाओं का लोगों में पुनर्जागरण किया जाएगा। इस दृष्टि से सोमनाथ मंदिर का पुनर्निर्माण एक प्रशंसनीय उदाहरण है, क्योंकि उसका लक्ष्य था पराजय और दासता की भावना को समूल नष्ट करना। गो–रक्षा से भी वही लक्ष्य साध्य होगा।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अन्य दलों के समान कोई दल नहीं है फिर भी वह इस अभियान का प्रारंभ कर रहा है क्योंकि किसी न किसी को आगे आना चाहिए। यह अभियान किसी दल की ओर से प्रारंभ नहीं किया गया है इसलिए यह आशा है कि सभी दल इस अभियान में सहयोग देंगे।

खोखली दलीलें

गोहत्या के विरुद्ध इस अभियान के विषय में संभाव्य आक्षेपों से मैं अवगत हूं। उदाहरणार्थ कोई यह कह सकता है कि बूढ़े पशु बोझ हैं, इसलिए उनकी हत्या होनीही चाहिए। किंतु यह सत्य नहीं है। इसके विपरीत मैं समझता हूं कि यदि वृद्ध और निरुपयोगी गाय-बैलों की सही देखभाल की जाए तो उससे जो लाभ होगा वह उनपर किए जानेवाले खर्च से कहीं अधिक होगा।

इसी प्रकार, विदेशी मुद्रा का भी प्रश्न उठ सकता है। किंतु इसे अनावश्यक महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए। विशेषतः ऐसे प्रश्न पर जिसपर संपूर्ण समाज की श्रद्धा रखता हो, विदेशी मुद्रा का विचार महत्त्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। उदाहरण के लिए, यह स्पष्ट दिखाई देते हुए भी कि नशाबंदी से भारी वित्तीय हानि होगी, सत्तारूढ दल ने इसे चुनाव का विषय बनाया है और वित्तीय हानि की अन्य मार्गों से पूर्ति करने का प्रयास किया है। मेरा निश्चित मत है कि यही बात गोहत्या के संदर्भ में भी अपनाकर विदेशी मुद्रा ओर चर्मव्यवसाय में होनेवाले नुकसान की भरपाई की जा सकती है।

इस आक्षेप में भी कोई अर्थ नहीं है कि गोहत्या बंद कर देने से गोहत्या पर आजीविका चलानेवाले बेरोजगार हो जाएंगे। उन्हें दृढ़ता से कहा जा सकता है कि वे कोई अन्य अच्छा-सा व्यवसाय ढूंढ लें। हथ-करघे का पुश्तैनी व्यवसाय करनेवाले मद्रास के बुनकरों से केंद्रीय मंत्री श्री. टी. टी. कृष्णमाचारी यदि यह कह सकते हैं कि उन्हें सूत नहीं मिलता तो अन्य कोई व्यवसाय ढूंढ लें तो फिर यही बात कसाईयों से क्यों नहीं कही जा सकती।

अपने संविधान की धारा ४८ के अनुसार दुधारू हों या शुष्क सभी पशुओं की रक्षा आवश्यक है। किंतु शासन ने अभी तक इस संबंध में कुछ नहीं किया है। इसलिए सरकार को उसके कर्तव्य का स्मरण कराने के लिए संघ ने यह अभियान प्रारंभ करने का निश्चय किया है।

दि. २६ अक्तूबर को गोपाष्टमी होने के कारण उसी दिन से यह अभियान शुरू

होगा। गोपाष्टमी महोत्सव भगवान श्रीकृष्ण और उनके ग्वालबालों की स्मृति में संपूर्ण देश में मनाया जाता है। दि. २६ अक्तूबर से न केवल संघ के स्वयंसेवक ही अपितु इस अभियान में सहयोग देने की इच्छा रखनेवाले अन्य लोग भी घर-घर जाकर हस्ताक्षर-संग्रह करेंगे। अभियान एक माह तक चलेगा। और अंत में हस्ताक्षरों का यह संग्रह भारत के राष्ट्रपति को समर्पित किया जाएगा। यद्यपि अभी अंतिम रूप से निश्चित नहीं हुआ है फिर भी दि. ७ दिसंबर को हस्ताक्षरों का संग्रह राष्ट्रपति को समर्पित करने का विचार है। हस्ताक्षर समर्पण एक प्रतिनिधिमंडल द्वारा किया जाएगा।

एक पत्रकार– संभवतः आपके नेतृत्व में ?

श्रीगुरुजी– कोई न कोई नेतृत्व करेगा। जहांतक मेरा प्रश्न है, मुझे प्रतिनिधिमंडलों का नेतृत्व करने की रुचि नहीं है।

प्रश्न– राष्ट्रपति तो केवल संवैधानिक प्रमुख मात्र है, इसलिए हस्ताक्षर-संग्रह प्रधानमंत्री को क्यों नहीं समर्पित करते ?

श्रीगुरुजी– राष्ट्रपति संवैधानिक प्रमुख है अतः जो अभियान दलीय राजनीति से पृथक है उसे चलाने वाले राष्ट्रपति से मिलें यह सर्वथा उचित है।

शासन यदि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रस्तावों को स्वीकार नहीं करता है तो संघ सभी संवैधानिक उपायों का अवलंब कर अगली कार्रवाई करेगा। जहांतक सत्याग्रह का प्रश्न है, यदा-यदा होनेवाले सत्याग्रह अपने देश के योग्य विकास की दृष्टि से बहुत उपयोगी नहीं हैं। सत्याग्रह एक अस्त्र है और अन्य सभी अस्त्र विफल हो जाने के बाद ही उसका उपयोग करना चाहिए।

ऐतिहासिक दृष्टि से, गाय के प्रति श्रद्धा का उल्लेख उतना ही प्राचीन है जितना की वेद प्राचीन है।

एक पत्रकार– किंतु गोमांस भक्षण के उल्लेख भी तो हैं ?

श्रीगुरुजी– वेदों में आये "गो" शब्द का गलत अर्थ लगाये जाने के कारण ही यह भ्रांति है। वेदों में आये इस शब्द का अर्थ इंद्रिय है। याज्ञवल्क्य ने इसी अर्थ में कहा है कि मैं 'गो' अर्थात् इंद्रियगत वासनाओं को भक्ष्य करूंगा और अपराजेय बनूंगा। गोहत्या की वकालत करनेवालों ने इस विकृत अर्थ या अज्ञान का सुविधापूर्वक उपयोग किया है।

बंगाल में विस्थापितों की स्थिति

मुझे जो नवीनतम समाचार मिले हैं, उनके अनुसार, पूर्व पाकिस्तान से हिंदु बडी संख्या में आ रहे हैं जो बहुत ही चिंताजनक है। पं. नेहरू ने, स्वयं कलकत्ता जाकर स्थिति की प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त करने का जो निर्णय किया है वह सर्वथा प्रशंसनीय ही है किंतु विचार करें कि नेहरू-लियाकत समझौते पर हस्ताक्षर करने के पूर्व जो अवस्था थी ठीक वही अवस्था आज भी पूर्वी सीमा पर है। जब नेहरू-लियाकत समझौता हुआ

था उस समय प्रधानमंत्री ने घोषणा की थीं कि शांतिपूर्ण उपाय यदि सफल न हुआ तो वे अन्य उपायों का अवलंब करेंगे। मैं नहीं जानता कि उन्होंने कौनसे दूसरे उपाय किए हैं किंतु यह स्पष्ट है कि दूसरा पक्ष निरंतर और योजनापूर्वक समझौते का उल्लंघन करता रहा है।

यह पूर्णतः सत्य नहीं है कि लोग केवल पारपत्र प्रणाली के कारण भयभीत हैं। एक सीमावर्ती ग्राम पर मुसलमानों द्वारा हमला, दो महिलाओं का अपहरण और ग्रामीणों द्वारा सामूहिक स्थलांतर, जिनके समाचार हाल ही में प्रकाशित हुए हैं, बतलाते हैं कि इसके पीछे और दूसरे कारण हैं। दूसरे पक्ष द्वारा समझौते का उल्लंघन किये जाने के कारण वह विफल हो चुका है। इसलिए अब समय आ गया है कि सरकार यह घोषित करे कि समझौते को अब कोई अर्थ नहीं रहा है। अतः दयनीय अवस्था को समाप्त करने के लिए उचित और कडे उपाय अपनाकर सरकार स्थलांतर की समस्या को हमेशा-हमेशा के लिए हल करे।

प्रश्न— इस विषय में आप क्या कुछ सुझाव देना चाहेंगे ?

श्रीगुरुजी— मैं केवल एक नागरिक हूं और सरकार की गतिविधियों के विषय में मेरे पास पूरी जानकारी नहीं है। इसलिए संभवतः मैं कोई विशिष्ट सुझाव नहीं दे सकूंगा।

अखंड भारत ही एकमेव हल

एक पत्रकार— क्या आप सशस्त्र संघर्ष का सुझाव देना चाहेंगे ?

श्रीगुरुजी— एक नागरिक ऐसा कोई सुझाव देने की स्थिति में नहीं होता। वैसे अब जनसंख्या की अदलाबदली का प्रश्न नहीं उठता क्योंकि अब वहां बहुत ही थोडी जनसंख्या रह गई है।

प्रश्न— क्या आप इसका समर्थन करते हैं कि निर्वासित अपने-अपने स्थानों पर वापस जाएं ?

श्रीगुरुजी— मैं केवल समर्थन ही नहीं करता अपितु यह भी प्रतिपादित करता हूं कि उनको उनके स्थानों पर बसाया जाए। ये सब बातें छोड भी दें, फिर भी जनसंख्या की अदलाबदली की योजना चाहे जैसे भी बने, वह सही हल नहीं है अपितु सही हल यही है कि देश के ये विभक्त हिस्से फिर से जोडे जाएं।

एक पत्रकार— इसका अर्थ यही है कि आप अविभाजित भारत के पक्ष में है ?

श्रीगुरुजी— अवश्य ही।

प्रश्न— इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आपके पास साधन क्या हैं ?

श्रीगुरुजी— उचित समय पर आपको उसे अवगत करा दिया जाएगा।

प्रश्न— किंतु जब कोई लक्ष्य निर्धारित करता है, तो उसके साधन भी निश्चित कर लेता है ?

श्रीगुरुजी— हां, यह सही है किंतु वह यह भी निश्चित करता है कि उन्हें कब व्यक्त किया जाए।

('आर्गनायझर,' दि. २० अक्तुबर, १९५२)

गोवा में पुलिस कार्रवाई की जाए

(गोवा की मुक्ति के संबंध में वक्तव्य)

गोवा में पुलिस कार्रवाई करने और गोवा को मुक्त कराने का इससे ज्यादा अच्छा अवसर कोई न आएगा। इससे हमारी अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा में वृद्धि होगी और आसपास के जो राष्ट्र सदा हमें धमकाते रहते हैं, उन्हें भी पाठ मिल जाएगा।

भारत सरकार ने गोवा-मुक्ति आंदोलन का साथ न देने की घोषणा कर मुक्ति–आंदोलन की पीठ में छूरा मारा है। भारत सरकार को चाहिये कि भारतीय नागरिकों पर हुए इस अमानुषिक गोलीबार का प्रत्युत्तर दे और मातृभूमि का जो भाग अभी तक विदेशियों की दासता में सड रहा है, उसे अविलंब मुक्त करने के उपाय करे। झूठी अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा का विचार हृदय से निकाल कर कदम आगे बढाना चाहिए। आज से अच्छा मौका फिर न मिलेगा। यदि इस समय उचित कदम नहीं उठाया गया, तो वर्तमान शासकों के ध्येय, उनकी देशभक्ति और योग्यता के बारे में जनता का मन साशंक हो जाएगा।'

मुक्ति-आंदोलन में वीरगति को प्राप्त हुए सत्याग्रहियों ने जिस उद्देश्य से अपने प्राणों की आहुति दी है, उसकी पूर्ति ही उन्हें सबसे बडी श्रद्धांजलि होगी। मातृभूमि के जरा से भी अंश पर विदेशियों की सत्ता भारतीय को मान्य नहीं है।

बंबई में पुलिस ने प्रदर्शनकारियों पर जो गोली चलाई, वह वीरता गोवा सीमा पर दिखाई जाती, तो आठ दिनों में पुर्तगाली गोवा से भाग खडे होते। घर के लोगों पर ही गोली चलाने में कोई वीरता नहीं है। प्रदर्शनकारियों को चाहिए कि वे हडताल और प्रदर्शनों के समय किसी भी अवस्था में शांति भंग न होने दें।

(बंबई २०–८–१९५७)

गोवध-बंदी की मांग को समर्थन

[प. पू. श्रीगुरुजी ने सभी संस्थाओं और राजनैतिक पक्षों के प्रमुखों को निम्नलिखित पत्र भेजकर उन्हें गो-वध बंदी की मांग को समर्थन देने का आवाहन किया था।]

यह तो आपको विदित ही है कि अपने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने भारत के संपूर्ण गणतंत्र में गोवध बंदी की मांग के पक्ष में सारे देश में सभी वयस्क नागरिकों के हस्ताक्षर कराने का बीडा उठाया है। यह बात आप हम सभी के मन को प्रिय है और इसीलिये हम इस पवित्र और पक्षातीत कार्य में सभी संस्थाओं और राजनैतिक पक्षों के सहयोग

की याचना करते हैं, जिससे हम लोग प्रभावशाली जनमत के द्वारा सरकार को इस दिशा में तत्काल ठोस कदम उठाने को बाध्य कर सकें।

वास्तव में विदेशी सत्ता की समाप्ति और अपना राज्य स्थापित होने के पश्चात् यह कदम तत्काल उठाया जाना चाहिए था, क्योंकि लोग स्वातंत्र्य के सच्चे गौरव की अनुभूति तभी कर सकेंगे जब कि युगों से चले आये हुए राष्ट्रीय सम्मान के बिंदुओं व भावनाओं का लोगों के हृदयों में दीप्तिमान स्वरूप में पुनः प्रतिष्ठान और अर्चन हो सके।

और यह तो सर्वमान्य बात है कि गोमाता के प्रति जिसमें गोवंश के सभी प्राणी समाविष्ट हैं, हम सभी के मन में अत्यंत आदर और असीम-सम्मान की भावना है, चाहे हम किसी भी धार्मिक मत के अनुयायी या राजनैतिक विचार के माननेवाले हों। अतः यह अत्यावश्यक है कि समूचे देश में गोवध पर संपूर्ण रीति से बंदी लगाई जाए और ऐसा कानून बनाया जाए जिससे कोई भी व्यक्ति किसी भी बहाने यदि किसी भी तरह का गोवध करे तो उसे कठोर दंड दिया जा सके।

गोवध रूपी इस राष्ट्रीय अन्याय का अंत करने के लिए शासन को बाध्य करने और साथ ही इस कार्य में शासकों के हाथ सबल बनाने के लिए हमने यह कार्यक्रम अपनाया है, जिससे कि शासन पर इस विषय में वैधानिक किंतु शक्तिशाली प्रभाव पड सके और हस्ताक्षरों के रूप में जनमत की जागृति और अभिव्यक्ति प्रकट हो सके।

आपको जनता का स्नेह और सम्मान प्राप्त है और आपने जनहित के सत्कार्यों में सदैव जनता का सुयोग्य जागरण, मार्गदर्शन और नेतृत्व किया है। इसलिये मैं आपसे प्रार्थना करता हूं कि आप कृपया संघ द्वारा अंगीकृत इस पवित्र और पक्षातीत कार्य में अवश्य सहयोग दें और इसे पूर्णतया सफल करने के लिए आपके बहुमूल्य वक्तव्यों और लेखों द्वारा तथा अन्य सभी ढंगों से इस कार्य का प्रचार हो जिससे सर्वसाधारण जनता में समुचित भावनाओं की जागृति हो और उसमें ऐसा उत्साह जागृत हो कि वह तन-मन-धन से इस कार्य में सहयोग देकर इसे सफल बना सके। [१५ अक्तुबर १९५२]

केवल कानूनी उपायों से आंदोलन रोका जाए

[संयुक्त महाराष्ट्र आंदोलन को कुचलने के लिए बंबई सरकार द्वारा अपनाये गए गर्हित उपायों के विरोध में नागपुर से दिया गया वक्तव्य]

गत सप्ताह मैं बंबई में था। सभी लोगों के मस्तिष्क में एक ही बात बुरी तरह छाई हुई है अर्थात् संयुक्त महाराष्ट्र के नामपर चल रहा सत्याग्रह। इस संबंध में बात-चीत के बीच मुझे उस उपाय से भी अभिज्ञ कराया गया जिसे सरकार ने आंदोलन को कुचलने के लिए अपनाया है। उपाय इस प्रकार है। सत्याग्रहियों को न तो जेल में ले जाया जाता है और न हवालात में बंद किया जाता है। उनको किसी दूर के निर्जन स्थान

पर ले जाकर छोड दिया जाता है, वहां से वे भटकते भटकते घर पहुंच पाते हैं। जैसे ही उनको इस प्रकार छोडा जाता है और पुलिस बिदा होती है, पूर्व नियोजित लठैत गुंडे उन बेखबर तथा निःशस्त्र लोगों पर टूट पडते हैं और उन्हें बुरी तरह पीटने के साथ-साथ अपमानित भी करते हैं। यहां तक कि स्त्रियों को भी नहीं बख्शा जाता। मुझे यह भी बताया गया है कि यह गतिविधि कोई एकाध दिन न होकर अक्सर ही घटित होती है। इन सब बातों से प्रमाणित होता है कि गुंडों को गुंडागर्दी के लिए विशेष रूप से नियुक्त किया जाता है, अन्यथा यह समझ में आने लायक बात नहीं है कि उनको यह कैसे पता चलता है कि सत्याग्रही आज कहां और कब छोडे जाएंगे। उनकी इस गुंडागर्दी को रोकने के लिए भी तो कोई उपाय नहीं किए गए हैं। स्थिति आज यह है कि सरकार और गुंडे एक ओर, शांत सत्याग्रही दूसरी ओर।

यदि यह समाचार सत्य है—मैं उस पर अविश्वास करने का कोई कारण अनुभव नहीं करता—तो वह इतना भीषण है कि शांति और व्यवस्था के प्रत्येक प्रेमी को तथा सरकार को इस पर विचार करना चाहिए और इस प्रकार कानून तथा व्यवस्था का जानबूझकर उल्लंघन करनेवाले तत्त्वों का शांत नागरिकों के विरुद्ध प्रयोग किए जाने की वृत्ति को समाप्त करने का उपाय खोजना चाहिए, क्योंकि इसके कारण उनकी अराजक-वृत्तियों को प्रोत्साहन प्राप्त होता है तथा कानून के प्रति अनास्था उत्पन्न होती है, जिसके कारण सभ्य सरकार का आधार ही हिल जाता है।

राष्ट्रीय, सामाजिक, तथा सांस्कृतिक एकता का पक्षपाती होने के कारण मैं भाषा-वार तथा प्रांतवार विभाजन का सदैव विरोधी रहा हूं, क्योंकि उनके कारण विद्वेष की भावना का निर्माण होता है। जहां तक विभिन्न स्थानों पर चल रहे सत्याग्रह का संबंध है, उससे मेरा कोई सरोकार नहीं। यदि सरकार ने इन कार्यवाहियों को रोकने के लिए समुचित कानूनी तरीके अपनाए होते, तो मुझे कुछ नहीं कहना था। किंतु सरकार के द्वारा प्रोत्साहित यह गुंडागर्दी असहनीय है और मैं अनुभव करता हूं कि यदि इसका मैं तीव्र विरोध नहीं करता तो मैं अपने कर्तव्य से च्युत होता हूं।

(२३ जुलाई १९५६)

राजभाषा की समस्या

प्रश्न— भाषा-समस्या का हल क्या है ?

श्रीगुरुजी— मेरा स्पष्ट मत है कि उच्च शिक्षा और शोध-कार्य के लिए एक सर्वसाधारण भाषा हो। संस्कृतोद्भव सर्वसाधारण तांत्रिक शब्दावलि से इस दिशा में पहल की जाए। संस्कृत का शब्द-भंडार समृद्ध है और उसके बारे में एक पवित्र भावना भी है, इसलिए मेरे विचार से वह राष्ट्र-भाषा का स्थान ले सकती है। कामचलाऊ संस्कृत

की जानकारी प्राप्त करना बहुत ही सरल है। किसी एक समान भाषा के अभाव में विभिन्न प्रांतों के मध्य कोई बौद्धिक विचार-विनिमय संभवनीय नहीं होगा और वे एक दूसरे के निकट नहीं आ पाएंगे। राष्ट्र की एकता के लिए संस्कृत नितांत आवश्यक है।

हिंदी भी इसी उद्देश्य की पूर्ति कर सकती है। हिंदी के पक्ष में यह एक सुविधा है कि उसे आधे से अधिक जनसंख्या समझती है, किन्तु वह संस्कृत के समान सार्वदेशिक नहीं, अपितु एक क्षेत्रीय भाषा है। इसके साथ ही, संस्कृत का शब्दभंडार संपन्न है और उसके साथ सांस्कृतिक नाता है, इसलिए उसके साथ हिन्दी की तुलना नहीं हो सकती।

हिन्दी अन्य प्रादेशिक भाषाओं की तुलना में पुरानी भी नहीं है। कुछ क्षेत्रीय भाषाएं तो उससे अधिक समृद्ध हैं। तमिल २५०० वर्षों से सुसंस्कृत भाषा के रूप में प्रचलित थी। इसलिए अन्य भाषाओं से हिन्दी को श्रेष्ठ कहना ठीक नहीं है। मैं मानता हूं कि अपनी सभी भाषाएं राष्ट्रीय हैं। वे हमारी राष्ट्रीय धरोहर हैं। हिन्दी भी उन्हीं में से एक है परंतु उसके बोलनेवालों की संख्या अधिक होने से उसे राजभाषा के रूप में स्वीकार किया गया है। यह दृष्टिकोण कि हिन्दी ही एक मात्र राष्ट्र भाषा है और अन्य भाषाएं प्रांतीय हैं, वास्तविकता के विपरीत और गलत है।

प्रश्न– कुछ समय पूर्व डॉ. सी. पी. रामास्वामी अय्यर ने दिल्ली की एक सार्वजनिक सभा में हिंदी पर व्यंग्य किया कि हिंदी में दो ही महान् ग्रन्थ हैं–एक तुलसी रामायण और दूसरा रेल्वे समय सारिणी। उसी सभा में डॉ. पनिककार ने डॉ. रामास्वामी के उक्त कथन से सहमति व्यक्त की थी।

श्रीगुरुजी– यह दृष्टिकोण भी उतना ही गलत है जितना कि हिंदी के अति-उत्साहियों का। हिंदी के विषय में ज्ञान न रखने वाले ही हिंदी का इस प्रकार से उपहास कर सकते हैं। कुछ समय पूर्व मराठी के एक प्रमुख नाटककार राम गणेश गडकरी ने अपने एक पात्र के मुख से कहलवाया था–'टिन के डिब्बे में कुछ कंकड रख कर डिब्बे को हिलाने से जो ध्वनि निकलती है वही दक्षिणी भाषाएं हैं।' अब यह बात मजाक में ही कही गई थी। फिर भी मैं समझता हूं कि इस तरह का विघटन पैदा करनेवाला मजाक देश के हित में नहीं है। यह अज्ञानमूलक उपहास बंद होना चाहिए।

प्रश्न– कुछ लोगों की धारणा है कि हिंदी की प्रगति से उनकी मातृभाषा मिट जाएगी?

उत्तर– मैं नहीं मानता। बांगला, तामिल, मराठी और तेलगू अंग्रेजी राज में भी फली-फूलीं। हिंदी की प्रगति से तो ये भाषाएं और भी अधिक फूली फलेंगी और साथ ही साथ हिंदी को भी समृद्ध करेंगी। बंगालियों को बांगला के हिंदीकरण से क्यों भयभीत होना चाहिए? पिछले २० वर्षों में बांगला का उर्दूकरण हुआ है। प्रातः काल के लिए प्रयुक्त 'प्रभाते' के लिए 'फजरे' अधिकाधिक प्रयुक्त होता है फिर भी मैंने अभी तक यह नहीं सुना कि किसी बंगाली ने इस पर आपत्ति की हो। फिर

उन्हें हिंदी क्यों इतनी खटकती है ?

यह बात नहीं कि विभिन्न भाषाओं में प्रचलित उर्दू अथवा अन्य भाषाओं के शब्दों के उपयोग के प्रति मुझे आपत्ति है। कुछ समय पूर्व स्वातंत्र्यवीर सावरकर ने मराठी के शुद्धीकरण का सुझाव किया था। उन्होंने प्रचलित उर्दू शब्दों के लिए संस्कृत समानार्थी शब्द दिए। उन्होंने कहा कि 'जरूरी' के स्थान पर 'आवश्यक' प्रयुक्त हो किंतु यह बात कहते समय उन्होंने 'के स्थान पर' शब्द-प्रयोग करने के बजाय 'ऐवजी' शब्द का प्रयोग किया जो कि स्वयं उर्दू शब्द है। इसलिए मेरी आपत्ति स्वाभाविकतया रूढ हुए शब्दों के प्रति नहीं, अपितु सुनियोजित रूप में परकीय शब्दों को लादने के प्रति है।

कुछ समय पूर्व मदुराई में एक बैरिस्टर महोदय ने मुझ से कहा कि हिंदी से तमिल को क्षति पहुंचेगी। मैंने उनसे पूछा कैसे ? तो वे समझा नहीं सके। मैंने उनसे पूछा कि जिला न्यायालय में जब तमिल के प्रयोग की अनुमति है तब फिर वे अंग्रेजी का प्रयोग क्यों करते हैं ? तमिल क्यों नहीं ? उनके पास इसका भी कोई उत्तर नहीं था। मैंने उनसे कहा, हिन्दी तमिल की शत्रु नहीं है अपितु अंग्रेजी दोनों ही भाषाओं की शत्रु है।

प्रश्न– क्या आप नहीं मानते कि ४ भाषाएं-मातृभाषा, हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी-बहुत नहीं होती हैं ? वे विद्यार्थियों का आधा समय ले लेती हैं ?

श्रीगुरुजी– यह सच है, किंतु मेरे मत से इन ४ भाषाओं में से अंग्रेजी को सबसे पहले हटाया जाय। वह अनिवार्य नहीं होनी चाहिये। शासन यदि दृढतापूर्वक निर्णय ले, उस पर दृढ रहे और दृढगति से उसे क्रियान्वित करे तो वर्तमान संभ्रम धीरे-धीरे दूर होकर समाप्त भी हो जाएगा। वर्तमान अनिश्चितता अंग्रेजी को ही बल प्रदान कर रही है। आज तो पहले से भी कहीं अधिक संख्या में बच्चे कान्व्हेन्ट में जाने लगे हैं। कुछ लोग तो खुले रूप में कहने लगे हैं कि अंग्रेजी भारत की राष्ट्र भाषा हो! राज भाषा के मौलिक प्रश्न पर यदि सरकार ढुलमुल दृष्टिकोण अपनाएगी तो जनता के विश्वास को धक्का लगेगा।

पुराने मध्यप्रदेश में शिक्षा विभाग अपना कामकाज हिंदी और मराठी में चलाया करता था। परंतु बृहत्तर बंबई प्रदेश बनने के बाद, पुराने मध्यप्रदेश के मराठी भाषा क्षेत्र में पुनः अंग्रेजी आ गई!

बंबई में विद्यार्थियों से संस्कृत और विज्ञान में से कोई एक विषय चुनने को कहा जाता है। स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि मेधावी विद्यार्थी विज्ञान विषय चुनता है और केवल कुछ छात्राएँ ही संस्कृत लेती हैं।

यूरोप की अधिकांश भाषाएँ, लैटिन से कहीं अधिक विकसित हैं। फिर भारत वर्ष में संस्कृत के अध्ययन की तुलना में लैटिन का अध्ययन अधिक होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस बात का किसी को महत्त्व प्रतीत नहीं होता।

संस्कृत-शिक्षा से राष्ट्रीय एकात्मता साध्य होती है इस बात का किसी को महत्त्व नहीं है।

यह १९६५ तक राज भाषा के पद से अंग्रेजी को हटाने का रास्ता नहीं है। घोषित नीति और तदनुसार कृति में कुछ सामंजस्य आवश्यक है।

हमारा राजनैतिक अर्थशास्त्र

(द्वितीय पंचवार्षिक योजना व उससे संबंधित विषयों पर श्रीगुरुजी के विचार।)

प्रश्न– द्वितीय पंचवार्षिक योजना के संबंध में आपकी क्या राय है ?

उत्तर– वह अत्यधिक खर्चीली है। छोटे सिंचाई कार्यों और छोटे-छोटे कारखानों के लिए लागत कम लगती और उनसे लाभ भी जल्दी होता है। इसके बाद इन्हीं लाभों को बडे कार्यों में फिर से लगाया जा सकता था। हम गलत छोर से आरंभ कर रहे हैं, भव्यता पर बल दिया जा रहा है।

तथाकथित समाजवादी नियोजन का सर्वाधिक बुरा पहलू समूह-वाद और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अंत है।

प्रश्न– प्रशासन में अधिकांश मध्यमवर्गीय लोग ही हैं। मध्यम वर्ग व्यापारियों की संपन्नता से ईर्ष्या करता है। वह राष्ट्रीयीकरण का समर्थन इसलिये करता है क्योंकि उससे व्यापारी का स्थान 'बाबू' ले सकता है।

उत्तर– किंतु बाबू व्यापारी नहीं बन सकता। दोनों के कार्य सर्वथा भिन्न हैं। व्यापारी घूस देने के लिए जितना तैयार रहता है, बाबू घूस लेने के लिये उससे कहीं अधिक तत्पर रहता है। पिछले वर्ष बजट का भेद खुल जाने के विषय में काफी होहल्ला हुआ किंतु मुझे बताया गया है कि यह तो हर वर्ष की बात है। पिछले वर्ष तो बजट की साइक्लोस्टाईल प्रतियाँ खुले आम बेची गयीं और आपको पता है कि बजट का भेद कौन खोलता है ? यह कार्य बहुत बडे अधिकारी ही करते हैं। यह चारित्र्य के अभाव के कारण होता है। प्रशासन भ्रष्ट है। यदि आप राष्ट्रीयकरण करते चले जाएं तो इसका अर्थ प्रशासन को पुष्ट कहना और उसे अधिक भ्रष्ट बनाना ही होगा।

प्रश्न– कुछ ऐसी बातें हैं जो निजी उद्योग नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए इस्पात संयत्र ही लें।

श्रीगुरुजी– किंतु पहले १० वर्षों के लिए हम 'स्टीलमिल' से ही क्यों न काम चलाएँ और उसके बाद किसी योजनाकाल में हम उन्हें एकत्र ले आएँ।

पता चला है कि भिलाई अब बिर्लाओं के हाथों में सौंप दिया गया है। पिछले ही माह कर्मचारियों को बताया गया कि वे अब सरकारी कर्मचारी नहीं रहे हैं और उन्हें निवृत्ति वेतन नहीं मिलेगा। सरकार ने पहिले ही लोगों को निजी स्टील मिल स्थापित करने की अनुमति क्यों नहीं दी ? दुःख की बात है कि सरकार कुछ आधे दर्जन उद्योगपतियों को बढावा देती है और अन्य अनेकों को परेशान करती है। अभी-अभी एक विख्यात व्यापारिक घराने ने एक विशिष्ट प्रकार की कार के निर्माण हेतु एक विदेशी फर्म के साथ समझौता किया। उद्योगपति सरकार से इतने अधिक भयभीत हैं कि वे सुरक्षा के लिए शक्तिशाली विदेशी गठबंधनों का सहारा ढूंढते हैं।

शासन पूंजी की कमी की शिकायत करता है, अकेले आफ्रिका स्थित भारतीय ही भारत में १००० करोड रुपये लगा सकते हैं ? किंतु सरकारी हस्तक्षेप, करों के बोझ और राष्ट्रीयकरण के खतरों के कारण पूंजी निवेश के लिए कोई आकर्षण नहीं रहा है।

मैं तो सरकार पर आरोप करता हूं कि स्वतः को सदा के लिए सत्ता में बनाए रखने के प्रयास में वह शिक्षा से उद्योग तक सभी को अपने नियंत्रण में करने का प्रयत्न कर रही है।

केवल गरीबों को प्रभावित करने के लिए अमीरों पर अत्यधिक कर लगाए जाते हैं और सब प्रकार के कर देने के लिए गरीबों को बाध्य किया जाता है। वास्तव में यदा-कदा ही अमीर कर चुकाते हैं। कांग्रेस चुनाव कोष में धन देकर, मूल निर्धारित कर का अंश मात्र चुकता कर वे करों की चोरी करते हैं। हाल ही में सुना है कि किसी बहुत बडे उद्योगपति को कुछ अन्य कंपनियों में अनियमितताएं करने के आरोप में गिरफ्तार किया गया। परंतु इन कंपनियों के मालिकों ने काँग्रेस को बहुत बडी राशि चंदा देकर अपना पीछा छुडा लिया। वह उद्योगपति इसलिये गिरफ्तार हुआ था क्योंकि उसने कहा था, 'कांग्रेस को फटा जूता भी नहीं दूंगा।' पिछले चुनाव के समय इस उद्योगपति ने यह धमकी दी थी कि उनसे कांग्रेस चुनाव फंड के लिये पैसा मांगा गया तो वे एक बडे कांग्रेसी नेता की पोल अखबारों में खोल देंगे। इस बार भी वह इसी तरह सोच रहे थे किन्तु सफल नहीं हो सके।

वे चारित्र्य के संकट की बातें करते हैं किंतु प्रश्न है कि वे किसके चारित्र्य की बात करते हैं ? जैसा कि टेनिसन ने कहा है 'एव्हरी डोअर इज बार्ड विथ गोल्ड, एण्ड ओपन्स बट टू गोल्डन की।' ऊंचे से ऊंचा व्यक्ति भी विकृति से अछूता नहीं है।

प्रश्न– यदि कांग्रेस सत्ता खो देती है तो वह नष्ट हो जाएगी ?

उत्तर– नहीं, उसकी भाफ हो जाएगी और अपने पीछे कुछ दुर्गन्ध छोड जाएगी।

प्रश्न– क्या आप सोचते है कि पं. नेहरू स्थायित्व लाने का प्रयास कर रहे हैं ?

उत्तर– नहीं, अपने यहां स्थायित्व है इसका कारण यह है कि अपने यहां के लोगों में

स्थायित्व है। वे अशांति उत्पन्न करने की अपेक्षा किसी मूर्खतापूर्ण बात को भी सहन कर लेते हैं। पं. नेहरू के बिना चारा नहीं यह प्रचार जान बूझकर किया जाता है। उसमें दम नहीं है।

प्रश्न– क्या पं. नेहरू के बाद उनके उत्तराधिकार के लिए संघर्ष होगा ?

उत्तर– मैं समझता हूं, कांग्रेसजन अपने निजी स्वार्थों के लिए किसी एक उत्तराधिकारी के नाम पर सहमत हो जाएंगे। और कुछ नहीं तो अपने दलीय स्वार्थों के लिए ही किसी तरह साथ में जुडे रहेंगे।

प्रश्न– किंतु अब उनके दिन लद गए हैं।

उत्तर– हां और इसीलिए समाज को कम्युनिस्ट संकट से सचेत करना आवश्यक है। साम्यवादी नीतियां अपनाकर कांग्रेस आज कम्युनिस्टों के लिए रास्ता साफ कर रही है। कुछ दिनों पूर्व ही पं. नेहरू ने कहा है कि कांग्रेस यदि असफल सिद्ध हुई तो कम्युनिस्ट छा जाएंगे, यह सोचना और कहना कम्युनिस्टों को आगे लाना है।

(दि. ९–१२–५७)

अंधानुकरण

[दिल्ली से प्रकाशित होनेवाले अंग्रेजी साप्ताहिक ' ऑर्गनायजर ' के दि. १२ मई १९५८ के अंक में प्रकाशित भेंट-वार्ता।]

प्रश्न– ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान समय से पूर्व पश्चिम के अंधानुकरण की प्रवृत्ति इतनी तीव्र कभी भी नहीं थी। कम से कम सन् १९४७ तक पश्चिम की नकल करने के विरुद्ध नैतिक आपत्ति विद्यमान थी और भावनात्मक रूप से उसका प्रतिरोध किया जाता था। किंतु आज जीवन क किसी भी क्षेत्र में ऐसा प्रतिरोध दिखाई नहीं देता।

उत्तर– यह पूर्णतः सत्य है। यदि आज हम जीवन के किसी भी क्षेत्र पर दृष्टिपात करें तो हमें अपने राष्ट्रीय जीवनमूल्यों का विस्मरण होकर समाज में द्रुतगति से गंभीर परिवर्तन होता हुआ दिखाई देगा। उदाहरणार्थ अपने लोकप्रिय फिल्म-संगीत को ही ले लें। आज उसमें भारतीय एवं युरोपियन रागिनियों-धुनों का अत्यधिक एवं अनाकलनीय संमिश्रण दिखाई देता है। अपनी स्थापत्यकला पर आज अपनी छाप लेशमात्र भी दिखाई नहीं देती। वह या तो पश्चिम की पूर्णतः नकल है अथवा उसका कोई स्वरूप ही नहीं है। आज के ' आधुनिक ' कहे जानेवाले भवनों में ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है। अभी कुछ समय पूर्व तक प्रत्येक भवन में ईश्वराराधन के लिए पृथक कक्ष रहा करता था। आज या तो अपने देवी-देवताओं के प्रति उपेक्षा का भाव है अथवा उनका पूर्णतः विस्मरण हो गया है।

भवनों के अंदर भी अपने परंपरागत जीवन का कोई चिन्ह आज शेष नहीं

है। युगों-युगों से हम अपने भवनों के निर्माण में चूने का प्रयोग कर रहे थे। ताजमहल, विशाल स्तंभ (कुतुब मिनार) और दक्षिण भारत के चिरस्थायी भव्य मंदिरों में सर्वत्र चूने के संमिश्रण का ही हमने प्रयोग किया था और उसके स्थायित्व एवं सुंदरता से हम परिचित भी थे। किंतु आज सीमेंट के प्रचलन ने सब कुछ परिवर्तित कर दिया है। यहां तक कि सुदूर ग्रामीण क्षेत्रों में भी भवन-निर्माण में सीमेंट का ही प्रयोग होता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि अपना विकेंद्रित चूना-उद्योग आज प्रायः निःशेष अवस्था को पहुंच चुका है। दूसरी ओर सीमेंट उत्पादन के लिए विशालकाय कारखाने स्थापित किए जा रहे हैं। फलस्वरूप नगरों में अत्यधिक गंदी बस्तियां बढती जा रही हैं और सीमेंट के समुचित वितरण का दायित्व रेल्वे पर बढता जा रहा है।

अंततोगत्वा सीमेंट का मुख्य निर्माणक तत्त्व पत्थर है। आज होता यह है कि एक स्थान पर पत्थरों का संग्रह कर उनसे सीमेंट बनाया जाता है और फिर उसका वितरण किया जाता है। इसकी अपरिहार्यता क्या है? हम पत्थर एवं गारे का प्रयोग क्यों नहीं कर सकते और यदि आवश्यक ही हो तो सीमेंट द्वारा दीवालों की पुताई क्यों नहीं की जा सकती?

सीमेंट से उत्पन्न होनेवाले कष्टों का अंत यहीं नहीं है। सीमेंट से बने हुए भवन ग्रीष्म ऋतु में अत्यधिक गरम और शीत ऋतु में अत्यधिक शीतल होते हैं। अभी कुछ ही दिनों पूर्व सीमेंट से निर्मित एक विशालकाय भवन में गंभीर दरारे पड जाने का समाचार आया था। इस संबंध में यह बताया गया कि इन दरारों और ऐसी ही अन्य दरारों के पडने का कारण इस्पात और सीमेंट की भिन्न-भिन्न संकुचनशीलता है। किंतु इसके अन्य कारण भी हैं। बृहत् परिमाण में सीमेंट को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में प्रायः दीर्घ समय लगता है। यदि ऐसी स्थिति वर्षा ऋतु में उत्पन्न होती है तो सीमेंट वातावरण में विद्यमान आर्द्रता, नमी ग्रहण कर लेती है और वह पत्थर के समान कठोर हो जाती है। ऐसी सीमेंट व्यर्थ होती है यद्यपि वह सीमेंट सरीखी दिखाई देती है किंतु उसमें सीमेंट का कोई गुण शेष नहीं रह जाता।

प्रश्न– पश्चिम के इस अंधानुकरण का क्या परिणाम होगा?

उत्तर– कालचक्र पुनः परिवर्तित होगा, इन बाह्य परिस्थितियों से अपनी संस्कृति निःशेष नहीं हो सकती क्योंकि उसमें सत्यरूपी संजीवनी शक्ति विद्यमान है। अपनी संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों का पूर्ण वेग के साथ पुनः स्थापन होगा। मेरी आकांक्षा यही है कि वे अवांछित वेग के साथ पुनः स्थापित न हो जिससे पश्चिम की कुछ श्रेष्ठ बातें, जिन्हें हम अंगीकार करना चाहते हैं, नष्ट न हो जाएं। राष्ट्रीय संस्कृति की पुनर्स्थापना की यह प्रक्रिया आज श्रीलंका में दृष्टिगोचर हो रही है। आज कोलंबो में अंग्रेजी वेशभूषा के अंग 'पेंट' को सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता।

श्री. भंडारनायक ने शासन पर अधिकार करने में सफलता " बुद्ध धर्म को पुनः अंगीकार करने " का नारा देकर ही प्राप्त की थी। उनके दल के कार्यक्रम के मुख्य आधारों में से एक आयुर्वेद को राजकीय मान्यता देना था।

प्रश्न-- आज विश्व में जितने भी महत्त्वपूर्ण आंदोलन चल रहे हैं उन सभी का आधार है, 'पूंजीवाद एवं साम्यवाद'। कम्युनिज्म सरीखी आर्थिक विचार-प्रणालियाँ अथवा इस्लाम और ईसाईयत की धार्मिक विचारप्रणालियाँ सभी अंतरराष्ट्रीय स्तर पर सक्रिय हैं। उनकी तुलना में हिंदुत्व और हिंदु विचारधारा मर्यादित एवं संकुचित प्रतीत होती है।

उत्तर-- अंतर्राष्ट्रीय जगत् में दिखाई देनेवाले इस दृश्य में तथ्य की अपेक्षा दिखावा अधिक है और उसका ठोस आधार नहीं है। इन सभी आंदोलनों अथवा विचार-धाराओं के पीछे कोई न कोई एक देश अथवा देशों का एक वर्ग है जो संपूर्ण विश्व को अपने नियंत्रण में ले लेना चाहता है। अतः इसे प्रामाणिक अंतर्राष्ट्रीय विचार-धारा न मानकर उद्धत राष्ट्रवाद ही कहा जा सकता है। किंतु अदूरदर्शी हिंदु, शक्तिसंपन्न विदेशी राज्य के प्रदर्शनों से चका-चौंध होकर भ्रमित हो जाता है।

शांतिपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय जीवन की एक मात्र सत्य व्यवस्था हिंदुत्व एवं हिंदु विचारधारा ही है। अपने अद्वैतवादी दर्शन की तुलना में विश्व के सभी वाद सामूहिक रूप से भी अंतर्राष्ट्रीयता के आधार का सही विकल्प नहीं बन सकते।

(दि. १२ मई १९५८)

दिखावे की प्रवृत्ति

(दिल्ली से प्रकाशित होनेवाले अंग्रेजी साप्ताहिक 'आर्गनाजर' के संपादक के साथ वार्तालाप)

प्रश्न-- हम अपनी अर्थव्यवस्था पर्याप्त गति से विकसित नहीं कर रहे हैं, चीन द्रुत-गति के साथ विकास कर रहा है। इसका हम पर गंभीर परिणाम हो सकता है?

श्रीगुरुजी-- चीन ने स्वतः को एक विदेशी विचारधारा के हाथों बेच दिया है। इतनी तेजी से हमें बढने की आवश्यकता नहीं जिससे कि हम अपना स्वत्व ही खो डालें। भीख का कटोरा लेकर दुनिया भर घूमने से क्या लाभ है? यदि उसके कारण अपने देश में शीतयुद्ध भडकाने की रुचि रखनेवाले विदेशी लोग बडी संख्या में आयातित होते हों।

वास्तविक कठिनाई यह है कि हम एक तो पर्याप्त कठोर परिश्रम नहीं करते हैं और जो कुछ थोडा बहुत करते हैं उसका बहुत अधिक ढिंढोरा पीटते हैं।

बातें तो श्रमदान की जाती हैं किंतु उसकी निर्लज्जता से खिल्ली उडाते हैं। माओत्से-तुंग ने स्वयं मजदूरों के साथ काम कर आदर्श उपस्थित किया है, जबकि हमारे नेतागण केवल फोटो खिंचवाने के लिए मिट्टी खोदने का स्वांग रचते हैं। इसलिए इसमें कोई अचंभे की बात नहीं कि हम जो कुछ करते हैं वह घटिया होता है। नवनिर्मित बांध ढह जाते हैं, नई इमारतों में दरारें पड जाती हैं। इतना ही नहीं तो कारखानों में निर्मित उत्पादन भी घटिया दर्जे का होता है। आप कह नहीं सकते कि भारत में बनी कार कितने दिन चलेगी। वह १० साल भी चल सकती है या फिर ६ महिनों में ही बंद पड जाए।

देश के सर्वव्यापी शीघ्रतम विकास का विचार कोई नहीं करता। सब ओर दुरवस्था है। हम कपडा और शक्कर का निर्यात करने का प्रयत्न करते हैं, जबकि उनके लिए बाजार ही नहीं। फिर इस निर्यात से होनेवाली क्षति को हम अपने ही लोगों पर करों का बोझ लाद कर पूरा करते हैं। यह नियोजन है या पागलपन? दूध में दूध से कहीं अधिक तो पानी रहता है। ईमानदारी तो है ही नहीं।

पहली योजना में अनाज की आत्मनिर्भरता की बातें कही गई, लेकिन इस लक्ष्य की प्राप्ति करने की आज कोई बात तक नहीं करता। प्राचीन भारत में सम्राट का यह निरंतर प्रयास रहा करता था कि ३ वर्ष तक के लिए पर्याप्त अनाज का भंडार रहे। आज हमारे पास एक मौसम तक के लिए पर्याप्त अनाज नहीं रहता। जिसमें आत्मनिर्भरता का विचार नहीं, वह योजना ही नहीं है। यदि युद्ध छिड जाए और अनाज आयात करना असंभव हो तो क्या होगा? क्या हम अपनी कोटि-कोटि जनता को भूखों मरने देंगे?

प्रश्न– क्या किया जाना चाहिए?

श्रीगुरुजी– प्रामाणिकता से प्रयत्न होने चाहिए। भूदान की बात कही जाती है। भूदान का अर्थ है, प्रत्येक को थोडी-थोडी भूमि दी जाए किंतु इससे भूमि के छोटे-२ टुकडे हो जाएंगे। कृषि सहकारिता की बातें कही जाती हैं किंतु क्या इसमें भी ईमानदारी है?

नलकूप खोदन के लिए करोडों रुपये खर्च किये गए। मैंने ७ वर्षों पूर्व कहा था कि नलकूपों से नए मरुस्थल उत्पन्न होंगे। लेकिन सरकार के ध्यान में अब यह बात आयी है कि नलकूप इतना अधिक और इतनी तेजी से पानी खींचते हैं कि वे संपूर्ण भूमिगत जल को सोख लेते हैं और कुछ ही समय बाद पानी ही शेष नहीं रहता। यह बात ध्यान में आ जाने के बाद भी अधिकाधिक नलकूपों की स्वीकृति दी जा रही है। ये नलकूप विदेशी फर्मों द्वारा लगाए जा रहे हैं। दूसरी ओर पुराने तालाब बरबाद हो रहे हैं। पुराने कुएं पाटे जा रहे हैं। क्या यह अनाज-उत्पादन वृद्धि की पद्धति है?

भिलाई में लोहे का कारखाना लगाया जानेवाला है। इसके लिए १०० वर्ग-

मील भूमि ली गई है। इस्पातनगर के निर्माण के लिए अधिगृहीत भूमि में सर्वोत्कृष्ट धान की फसल होती है। लोहे की खदान यहां से ३० मील दूर है और खदान के निकट ही बंजर जमीन है। ऐसी स्थिति में यह उपजाऊ जमीन छोडी जा सकती थी। उद्योग और कृषि-नीति के बीच कोई समन्वय नहीं है।

नागपुर नगर का निर्माण बडी बुद्धिमता के साथ उपजाऊ क्षेत्र में अनुपजाऊ भूमि पर किया गया किंतु अब उपजाऊ भूमि पर नगर का अतिक्रमण होता जा रहा है। इससे उपजाऊ भूमि की हानि तो होगी ही, मकान बनवाने का खर्च भी बढेगा। इसका अर्थ यह है कि भवन-निर्माण की दृष्टि से अनुपयोगी भूमि पर भवन निर्माण पर अधिक खर्च उठाना है। शहरों को अनियंत्रित ढंग से क्यों बढने दिया जाए? इसके परिणाम आप दिल्ली में उस समय भोग ही चुके हैं जब वहाँ जलपूर्ति जैसी प्राथमिक व्यवस्था टूट गई थी।

अब कहते हैं कि नागपुर नगर को आकर्षक बनाया जानेवाला है। इसका कारण यह है कि एक प्रभावशाली दल इस वर्ष अपना अधिवेशन नागपुर में आयोजित करनेवाला है। उनका कहना है कि वे शुक्रवारी तालाब का पूरा पानी उलीच डालेंगे और बहते पानी से भर देंगे। इसके लिए भारत सरकार ने भी कुछ लाख रुपये मंजूर किये हैं। यह बहुत अच्छी बात है। किंतु नागपुर में पीने का पानी तक तो पर्याप्त नहीं है। ऐसी परिस्थिति में भी एक दर्शनीय स्थल के रूप में तालाब के लिए बहते पानी के प्रबंध पर वे धन खर्च कर सकते हैं; नगर में पीने के पानी की व्यवस्था के लिए नहीं। तात्पर्य यही कि उनका सारा आग्रह दिखावे, प्रदर्शन पर है, न कि प्रत्यक्ष उपलब्धियों पर। गांवों में नये मकान बनाने के बजाय पुराने मकान अधिक संख्या में ढह रहे हैं। मैं यह नहीं कहता कि सरकार स्वतः मकान बनाए किंतु कीमतों-करों का ढांचा ऐसा होना चाहिये जिससे लोग मकानों की मरम्मत और उनका पुनर्निर्माण कर सकें। प्रत्यक्ष में वे ग्रामों को निर्धन बनाकर दिल्ली जैसे शहरों का दिखावटी सौंदर्य बढाने में लगे हुए हैं।

प्रश्न— यह स्थिति कैसे सुधारी जा सकती है?

श्रीगुरुजी— दिखावे की वृत्ति छोडकर और समाज की राष्ट्रभक्ति की भावनाओं को दिशा देकर। स्टेशन की नई इमारतें बनाने पर लाखों रुपये खर्च किये जाते हैं किंतु रेल की पटरियां और पुल इतने अधिक उपेक्षित हैं कि बार-बार दुर्घटनाएँ होती रहती हैं। देश को गलत दिशा की ओर ले जाया जा रहा है। स्वतंत्रता की आभा दिखाई नहीं देती। उत्साह से श्रम करने की प्रेरणा नहीं है। प्रति वर्ष हजारों लोग उच्च शिक्षा प्राप्त करने बाहर जाते हैं किंतु कोई मौलिक विचार से प्रेरित होकर नहीं लौटता है। कहा जाता है कि हमारे देश में तेल की खोज, खनन और उसके शुद्धीकरण के लिए हमें विदेशी विशेषज्ञों की आवश्यकता है। मैं पूछता हूं कि हमारा खनिज विभाग इतने दशकों तक क्या करता रहा है? वेनेजुएला में, अमेरिका में, रूस में

जब पहले-पहल तेल का पता लगा तो वहां तेल का उत्खनन-शुद्धीकरण किसने किया ? खंभात की भूमि में तेल की गंध है। ज्वालामुखी की अखंड ज्वाला उस क्षेत्र में तेल के भंडार का ज्वलंत प्रमाण है।

विदेशी ढांचे की देशभक्ति के प्रति लोगों का नशा तथा उससे प्रेरणा ग्रहण करना क्या देश को आगे बढा सकता है ? विदेशी सहायता या दिखावटी बातें अपनी प्रगति में सहायक नहीं हो सकती।

(दिनांक २९-९-५८)

प्रकरण ५

संस्मरण

संगीतज्ञ

सन् १९५० में बंगलोर में संघ शिक्षा वर्ग हुआ था। इस वर्ग में श्रीगुरुजी की उपस्थिति के समय एक दिन रात को वाद्यवृंद्ध (ऑर्केस्ट्रा) का कार्यक्रम हुआ। ३०-४० वादकों के इस वाद्यवृंद में अनेक स्वयंसेवक भी थे। रात के शांत वातावरण में हुए इस कार्यक्रम में श्रीगुरुजी भी उपस्थित रहे और उन्होंने बडे ध्यान से वादन सुना। कार्यक्रम पूर्ण होने के बाद श्रीगुरुजी मंच पर गए और सभी वादकों का उन्होंने परिचय करा लिया। परिचय कराते समय श्रीगुरुजी प्रत्येक से उसके वाद्य का नाम पूछते और फिर उस वाद्य को अंग्रेजी, फ्रेंच, इटालवी में क्या कहते हैं, कौनसा वाद्य मूलतः भारतीय है, उसी प्रकार किस वाद्य से शुद्ध स्वर निकलते हैं, किसमें से अपस्वर निकलते हैं आदि विस्तृत जानकारी स्वयं देते जा रहे थे।

श्रीगुरुजी की बहुश्रुतता के इस पहलू से अधिकांश कार्यकर्ता अपरिचित थे, इसलिये अवाक् भी थे।

(के. सूर्यनारायणराव, मद्रास)

सच्चा नागरिक

संभवतः सन् १९५० की बात है। रायपुर में एक सार्वजनिक सभा में श्रीगुरुजी ने अपने भाषण में, तत्कालीन प्रधानमंत्री स्व. पं. नेहरू के ब्रिटेन प्रवास के समय किसी भारतीय द्वारा उन्हें काले झंडे दिखाए जाने की घटना का उल्लेख किया और उसकी भर्त्सना कर उन्होंने ब्रिटिश नेता स्व. श्री. चर्चिल की अमेरिका-यात्रा का एक प्रसंग सुनाया।

श्रीगुरुजीने कहा, श्री. चर्चिल उस समय सरकार में नहीं थे अपितु विपक्ष के नेता थे। इसलिए तत्कालिक ब्रिटिश सरकार के विषय में श्री. चर्चिल से कुछ आलोचनात्मक बातें प्राप्त करने की आशा से अमेरिका के कुछ पत्रकारों ने उनसे कुछ प्रश्न किये। इस पर श्री. चर्चिल ने कहा, ' आय एम द लीडर ऑफ अपोझिशन ऑफ द गव्हर्नमेंट इन माय कंट्री, बट द मोस्ट ओबीडियंट ॲण्ड फेथफूल टू माय गव्हर्नमेंट एब्रॉड अर्थात् मैं अपने देश में सरकार के विपक्ष का नेता हूं किंतु देश के बाहर मैं अपने देश की सरकार का एक आज्ञाधारी और निष्ठावान प्रतिनिधि हूं।

पं. जवाहरलाल नेहरू की राजनीति से मौलिक विरोध के उपरांत भी परकीय देश की भूमि पर उन्हें किसी भारतीय द्वारा काले झंडे दिखाए जाने की श्रीगुरुजी ने जिन शब्दों में भर्त्सना की और सच्चे राष्ट्रभक्त के लक्षण बताए उससे उनके बहुमुखी व्यक्तित्व के एक बिरले ही पहलू पर प्रकाश पडा और वह पहलू यही था कि वे ' प्रिडॉमिनेंटली ' सच्चे व अनुशासित नागरिक थे।

(बी. बी. शाह, मांगरोल, सौराष्ट्र)

रूस को सचेत क्यों किया ?

सन् १९५१ में तिब्बत पर चीन का आक्रमण हुआ। उस समय श्रीगुरुजी कर्नाटक के प्रवास पर थे। मैं भी उनके साथ था। इसी प्रवास में उन्होंने एक वक्तव्य शिमोगा से प्रसारित किया। सभी समाचारपत्रों ने उसे प्रकाशित भी किया।

इस वक्तव्य में चीन की विस्तारवादी प्रवृत्ति का स्मरण दिलाकर देश के शासकों को उन्होंने सचेत किया था कि चीन भारत पर आक्रमण की तैयारी में है। अपने वक्तव्य में उन्होंने यह भी कहा था कि चीन आज यद्यपि रूस के ' सेटेलाइट ' की भांति दिखाई दे रहा है फिर भी वह रूस की इच्छा के विपरीत अनेक बातें कर रहा है। तिब्बत पर धावा बोलकर भारत की ओर बढ रहे चीन से रूस को आज भले ही कोई खतरा दिखाई न देता हो किंतु चीन की विस्तारवादी प्रवृत्ति कल रूस को भी संकट में डाले बगैर नहीं रहेगी यह बात रूस भली भांति समझ ले।

जहां तक भारत सरकार को सचेत करने का प्रश्न था, श्रीगुरुजी का वक्तव्य योग्य ही प्रतीत हुआ किंतु अनेकों को यह बात खटकी कि वक्तव्य में श्रीगुरुजी ने रूस को घसीट कर उसे चेतावनी क्यों दी। किंतु उक्त वक्तव्य के बाद १५-२० वर्षों के कालखंड में रूस और चीन एक-दूसरे से किस भांति दूर होते गए और उसके बाद चीन की विस्तारवादी प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने के लिए रूस क्या-क्या कर रहा है, इसे देखकर सन् १९५१ में श्रीगुरुजी द्वारा दी गई चेतावनी का स्मरण हो आता है और राजनैतिक क्षेत्र की उनकी अभ्यस्त, अनुभवी कूटनीतिज्ञता का परिचय मिलता है।

(जगन्नाथ अ. जोशी, दिल्ली)

सेनापति बापट अवाक् रह गए

दि. ९, १०, ११ व १२ मई १९५२ को, स्वातंत्र्यवीर सावरकरजी की विख्यात संस्था 'अभिनव भारत' का समापन-समारोह पुणे नगरी में संपन्न हुआ। इस समारोह का अध्यक्षस्थान विख्यात क्रांतिकारी सेनापति बापट ने मंडित किया था। श्री. तात्याराव सावरकर समारोह में पूरे समय उपस्थित रहे। अभी जहाँ सारसबाग है वहीं, तालाब के गणेशमंदिर के सामने के मैदान में यह समारोह हुआ था।

अध्यक्ष महोदय प्रत्येक वक्ता का नाम लेकर उन्हें भाषण के लिए आमंत्रित करते जा रहे थे। श्रीगुरुजी श्रोताओं में बैठे हुए थे। प्रत्येक वक्ता अपनी-अपनी शैली में, अपनी जानकारी के अनुसार क्रांतिकारियों के कार्य का वर्णन कर रहा था किंतु प. पू. डॉक्टर हेडगेवारजी के संबंध में किसी भी वक्ता के भाषण में उल्लेख तक नहीं हो रहा था। यह बात श्रीगुरुजी को संभवतः खटक गई। अतः उन्होंने अध्यक्ष सेनापति बापट जी से बोलने की अनुमति मांगी। वे स्वभाव से बडे कठोर और अनुशासनभक्त थे। उनके सामने ध्वनिक्षेपक रखा है, यह भूलकर उन्होंने सीधा सवाल किया, पहले से अनुमति क्यों नहीं मांगी?

श्रीगुरुजी ने कहा, 'भूल हो गई, पहले अनुमति नहीं ले सका, फिर भी बोलने की इच्छा है। आशा है, आप अनुमति देंगे।'

सेनापतिजी ऊंचा सुनते थे, उन्होंने ऊंची आवाज में कहा, 'ठीक है किंतु केवल १० मिनिट ही मिलेंगे, ११ वां मिनिट नहीं मिलेगा।'

श्रीगुरुजी 'मंजूर' कहते हुए अपनी नित्य की पद्धति से खिलखिला कर हंसे।

इस बातचीत के बाद, उस समय जो वक्ता भाषण दे रहे थे,उनका भाषण समाप्त होते ही सेनापतिजी ने श्रीगुरुजी को भाषण के लिए आमंत्रित किया। श्रीगुरुजी बगल में ही खडे थे। श्री. तात्यारावजी यह सब दृश्य देख रहे थे।

श्रीगुरुजी बोलने के लिए सामने आए। उन्होंने अपनी कलाई से घडी उतार कर सेनापतिजी के सामने रख दी। सेनापतिजी ने फिर से दुहराया, 'केवल १० मिनिट।' इस पर श्रीगुरुजी ने फिर एक बार मुक्त हास्य बिखेरा। उनके साथ ही श्रोतवृंद में भी हंसी फूट पडी।

श्रीगुरुजी ने प. पू. डॉक्टरजी के जीवन की क्रांतिकारी घटनाओं का वर्णन कर ठीक १० वें मिनिट पर अपना भाषण पूर्ण किया।

भाषण समाप्त होते ही तालियों की गडगडाहट शुरू हुई। तालियों को रह-रहकर उबाल आ रहा था। सेनापतिजी लगातार घडी देखते जा रहे थे, लोगों को शांत होने का आवाहन कर रहे थे। लगभग १० मिनिट तक यह स्थिति बनी रही।

इस पर तात्यारावजी ने टिप्पणी करते हुए सेनापतिजी से कहा, इस १० मिनिट का क्या करेंगे? इससे अच्छा यही होता आप श्री. गोलवलकर जी को १० मिनिट

अधिक दे देते।

सेनापतिजी अवाक् थे, तालियां बंद होने की प्रतीक्षा कर रहे थे।

(श्री. गोडसे, समर्थ सेवा मंडल के कार्यकर्ता, पुणे)

हिंदुत्व कोई 'इझ्म' नहीं

सन् १९५२ की बात है। चंद्रपुर में एक सज्जन ने प. पू. श्रीगुरुजी से पूछा संघ किस वाद (इझ्म) का समर्थन करता है? क्या यह पूंजीवादी या फॅसिस्ट है या समाजवाद तथा साम्यवाद का समर्थक है? श्रीगुरुजी ने उत्तर दिया इनमें से किसी भी 'वाद' का नहीं। संघ 'हिंदुत्व' पर आधारित है और 'हिंदुत्व' का समर्थक है। उन सज्जन ने कहा–लेकिन हिंदुत्व तो कोई 'वाद' नहीं है, हिंदु इझ्म इज नो 'इझ्म', इट इज नॉट इंटरनॅशनली नोन ऍज ए सोशल ऑर इकॉनॉमिक फिलॉसफी। श्रीगुरुजी ने उत्तर में केवल एक किस्सा सुनाया। उन्होंने कहा, एक भारतीय किसान विदेशियों को हाथी के बारे में बता रहा था। विदेशियों ने हाथी कभी भी नहीं देखा था। उन्होंने पूछा हाथी होता कैसे है? घोडे के समान, गधे के, बैल के, या ऊँट के समान? किसान ने कहा किसी के भी समान नहीं वह अपने ही समान होता है। विदेशियों ने कहा–लेकिन हमने तो ऐसा जानवर अपने देशों में नहीं देखा। किसान ने उत्तर दिया लेकिन इसका मतलब यह तो नहीं होता कि हाथी नाम का कोई जानवर नहीं होता या उसकी महिमा नगण्य है।

यह किस्सा सुनकर संघ का 'इझ्म' पूछनेवाले सज्जन हंस पडे और निरुत्तर हो गए।

(बा. नी. देशमुख)

अखंड भारत का स्वप्न साकार कैसे हो ?

दि. २९ अक्टूबर १९५३ को पहली ही बार पू. श्रीगुरुजी उडुपी (कर्नाटक) गए। वहां सुप्रसिद्ध कृष्णमंदिर में मठाधिपतियों ने यथोचित, भव्य, भावपूर्ण स्वागत किया। पू. श्रीगुरुजी ने भी मंदिर की गतिविधियों की जानकारी ली और वहाँ के विद्यार्थियों को संस्कृत और योगासन की शिक्षा देने का सुझाव दिया। भगवान के दर्शन कर पू. श्रीगुरुजी लौटे।

मंदिर में अष्ट मठाधिपतियों की व्यवस्था है। प्रत्येक मठाधिपति को बारी-बारी से दो वर्ष पूजा करने का अधिकार मिलता है। उस समय पेजावर मठाधीश श्री विश्वेश

तीर्थ पीठाधीश जिनकी आयु केवल २९ वर्ष की थी पूजा-अधिकारी (पर्याय) थे। उडुपी से मंगलौर के लिए प्रस्थान करते समय पेजावर स्वामी की ओर से संदेश आया कि वे पू. श्रीगुरुजी का दर्शन चाहते हैं। कुछ विशेष बात करनी है।

मंगलौर के कार्यक्रम के लिए जल्दी प्रस्थान करना चाहिए और समय कम है यह जानते हुए भी पू. श्रीगुरुजी श्रद्धेय स्वामीजी से मिलने पुनः गए। स्वामीजी ने कहा, " प्रातः की भेंट के समय एकांत न मिलने से मैं बात नहीं कर सका। क्या भारत का पुनः अखण्ड रूप हम लोग देख सकेंगे ? "

पू. श्रीगुरुजी ने संथ गति से कहा, " हम लोग अभी भी मंत्र कहते हैं " –

गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वती।
नर्मदे सिंधु कावेरी जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥

हम लोग सिंधु नदी को भूले नहीं हैं। सिंधु के बिना मातृभूमि की धारणा अपूर्ण है। उस स्वप्नपूर्ति के लिये हम लोग कटिबद्ध हैं।

स्वामी जी बडे ध्यान से और उत्सुकता से एक-एक शब्द ग्रहण कर रहे थे। पुनः उन्होंने पूछा कि यह स्वप्न किस प्रकार साकार होगा।

पू. श्रीगुरुजी बोले, " देश विभाजन के कारण को समाप्त कर। हिन्दु समाज विभाजित था, इसलिए देश का विभाजन हुआ। हिंदु एकता से देश का एकीकरण होगा।"

स्वामीजी ने अपने मन का विचार नम्रता से पू. श्रीगुरुजी के सम्मुख रखा। वे बोले, " इस वर्ष मेरा पर्याय काल समाप्त होने पर मैं संचार के लिए निकल सकूंगा। धर्मप्रसार मैं अधिकाधिक कर सकूं इस विषय में मुझे सुझाव दें। "

पू. श्रीगुरुजी ने कहा, आपके पीठ के तत्त्वज्ञान के साथ-साथ हिन्दु धर्म के विचारों का प्रचार करना उपयोगी होगा। अपने धर्म के सर्वसाधारण सिद्धान्तों का आप, हिंदुओं के अलावा ईसाईयों में भी, प्रचार कर सकते हैं। श्रीरामकृष्ण परमहंस जिस वैशिष्ट्यपूर्ण शैली से अपने विचारों का प्रतिपादन करते थे उस प्रकार प्रतिपादन करने से, ईसाईयों में विरोध भाव न लाते हुए, उन्हें क्रमशः वापिस अपने में ला सकेंगे। "

स्वामीजी के लिए यह प्रसंग इतना प्रेरक था कि तब से स्वामीजी लगातार धर्म-प्रचार-विस्तार कार्य में प्रयत्नशील हैं और हिन्दु दृढीकरण-कार्य में वे आज एक महान प्रभावशाली शक्ति हैं।

(**एच. वी. शेषाद्री**, बंगलोर)

आप धन्य हैं........

संभवतः सन् १९५३–५४ की बात होगी। श्रीगुरुजी के माता-पिता शृंगेरीक्षेत्र की यात्रा पर गए थे। वहां परम श्रद्धेय श्री शंकराचार्य श्री चंद्रशेखर भारती स्वामी के दर्शन करने की उनकी बडी इच्छा थी। किंतु स्वामीजी विगत ३-४ महिनों से अंतर्मुख होकर

ध्यानस्थ थे। फलतः दर्शन नहीं होगा, यह निश्चितसा हो गया। फिर भी यह तय किया गया कि दर्शन नहीं तो न सही, उनके निवास स्थान का ही दर्शन कर लिया जाए। तद्नुसार वे 'नरसिंहवन' की ओर गए। उनके साथ एक कार्यकर्ता भी था। उसने उस स्थान की पूरी जानकारी दी और बताया कि पिछले ४ महिनों से स्वामीजी के निवास का द्वार नहीं खुला है। आदरणीय भाऊजी और सौ. ताई (श्रीगुरुजी के माता-पिता) बंद द्वार को ही प्रणिपात कर लौटने के विचार में थे, इसी बीच अचानक द्वार खुल गया और दोनों के सौभाग्य से स्वतः स्वामी शंकराचार्यजी द्वार पर खडे दिखाई दिए।

स्वामीजी ने कहा, 'आप गोलवलकरजी के माता-पिता हैं न ? आइए, अंदर आइए।'

सब लोग भक्तिभाव से भीतर गए।

स्वामीजी ने सौ. ताई और भाऊजी से कहा, 'आपने देश को एक महापुरुष प्रदान किया है, आप धन्य हैं।' इस भांति चंद्रमौलीश्वर का प्रसाद अकस्मात प्राप्त हो, सभी लोग प्रसन्न होकर वहां से लौटे।

(**श्री. एन. कृष्णप्पा**, बंगलोर)

अनुशासन का आदर्श

संघ शिविर में एक सामान्य स्वयंसेवक के सभी नियमों का कडाई से पालन कर कडे अनुशासन का आदर्श उपस्थित करनेवाले श्रीगुरुजी याद आते हैं। सन् १९५३ या सन् १९५४ की बात होगी। सुधागढ (पाली) में कुलाबा जिले का शीत-शिविर लगा हुआ था। श्रीगुरुजी भी इस शिविर में आए थे।

संघ ने सामाजिक जीवन में जो अनेक अच्छे आदर्श रूढ किए उनमें से एक यह भी है कि शिविरों में स्वयंसेवकगण जहां तंबुओं में रहते हों, वहीं शिविर प्रमुखों, नेताओं को भी रहना चाहिए। नेताओं के लिए गेस्ट हाऊस डाकबंगला, एयर कंडीशन या ओबेराय शेरेटन आदि कुछ नहीं। एक ही भूमि पर सब साथ बैठें। सूर्यास्त के समय सभी एक ही साथ प्रार्थना कहें, सभी एकसाथ नाश्ता करें, सार्वजनिक जीवन की अहंमन्यता, बडे-छोटे का भेद, जातियों-जमातों के बीच की खाई कम से कम संघस्थान पर पूरी तरह पाट दी गई है। इस उच्च आदर्श विचार के पीछे श्रीगुरुजी की प्रभावी मूर्ति खडी थी।

पाली के शिविर में ठंड कडाके की थी। प्रातः ४ बजे बिगुल बजते ही उठना ही चाहिए, यह नियम था। हमारे तंबू में मैं गोट्या देशमुख, माधव कुंटे आदि स्वयंसेवक बिगुल बजते ही उठे और मुंह हाथ धोने के लिए तंबू से बाहर आए। ठंडी हवा चल रही थी। ठंड से शरीर कांप रहा था।

इतनी ठंड में हमने सामने देखा तो हमारे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। श्रीगुरुजी अपने तंबू के बाहर सूर्यनमस्कार लगा रहे थे।

श्रीगुरुजी का शौच-मुखमार्जन तो निपट ही चुका था, उनका स्नान भी हो चुका था।

(**मधुकर भावे**, मराठा, श्रीगुरुजी श्रद्धांजली विशेषांक)

नींद कैसे कम हो ?

सन् १९५४ में सिंदी में प्रचारकों का एक वर्ग हुआ। वर्ग के समारोप के उपरांत, हम कर्नाटक के प्रचारकगण श्रीगुरुजी से मिलने के लिए गए। वहां एक अन्य प्रचारक बैठे थे जो बता रहे थे कि वे रात को भोजन नहीं करते। श्रीगुरुजी ने उनसे कारण पूछा तो उन्होंने बताया कि एक तो रात को वे पढते हैं, दूसरे रात की बैठकों में नींद न आए इसलिए भोजन नहीं करते।

इस पर श्रीगुरुजी ने कहा, 'नींद आती है इसलिए भोजन छोडने की आवश्यकता नहीं।'

प्रचारक : "भोजन कर लेने पर जल्दी नींद आती है।"

मने पूछा, कितने बजे सोना चाहिए ?

श्रीगुरुजी : 'अपने कार्यकर्ताओं को रात १२ बजे सोना चाहिए और प्रातः ४ बजे उठ जाना चाहिए।'

मेरा अगला प्रश्न था, "क्या इतनी नींद कम नहीं है ?"

श्रीगुरुजीः 'दोपहर के भोजन के बाद थोडी वामकुक्षी लेनी चाहिए।' नींद आए तो सोना चाहिए अन्यथा लेटे रहना चाहिए। इस 'रिलॅक्सेशन' का अच्छा लाभ होता है।

मैंने फिर पूछा, 'नींद कम कैसे करनी चाहिए ?'

श्रीगुरुजी, 'प्रातः उठने के बाद मुखमार्जन कर सामान्य पलथी मारकर बैठना चाहिए और १० मिनिट तक दीर्घश्वसन करना चाहिए। यह दीर्घश्वसन इतने आहिस्ते हो कि १० मिनिट में १०-१५ बार दीर्घश्वसन हो, इसमें पूरक-रेचक करना चाहिए। कुंभक करने की आवश्यकता नहीं। इससे नींद कम होती है।'

मैंने पूछा, 'श्वास और नींद का क्या संबंध ?'

श्रीगुरुजी– दिनभर की शरीर की हलचलों से शरीर में 'टॉक्सिन्स' के विषबीज संग्रहित होते जाते हैं। इससे नींद आती है। नींद में श्वासोश्वास नियमित होने के बाद ऑक्सिजन की पूर्ति होती है और 'टॉक्सिन्स' नष्ट हो जाते हैं। शरीर में ताजगी आ जाती है। दीर्घश्वसन से रक्त में 'ऑक्सिजन' संग्रहित होता है और फलतः दिनभर में

रक्त में निर्माण होनेवाले ' टॉक्सिन्स ' बीज ' ऑक्सिजन ' से नष्ट होते हैं। इससे नींद घटती है। और दिन भर ताजगी बनी रहती है।

मेरा अगला प्रश्न था, क्या केवल इतना करने से नींद घट जाती है ?

श्रीगुरुजी, ' दीर्घश्वसन व रिलॅक्सेशन ' से नींद कंट्रोल में आती है। रिलॅक्सेशन का अर्थ है, बिना हिलेडुले पडे रहना। सब अवयव ढीले छोडकर पडे रहना...।

(बाबूराव देसाई, गुलबर्गा)

गर्मी और अंग्रेज

सन् १९५४ में संघ की तृतीय वर्ष शिक्षा प्राप्त करने मैं नागपुर गया था। मई मास की कडी गरमी थी। बंगलौर की ठंडी आबहवा से नागपुर की ११६° की चबडा देने वाली गरमी अनेकों को कष्टदायी थी। पू. श्रीगुरुजी के ध्यान में यह बात आई। एक शाम वे संघस्थान के कार्यक्रमों के बाद स्वयंसेवकों से घुल-मिल कर बातचीत करने लगे। उन्होंने एकत्रित हुए स्वयंसेवकों को कडी गरमी के बारे में पूछताछ की और स्वयंसेवक गरमी के विषय में क्या सोचते होंगे यह जानना चाहा। अंग्रेज इस देश में जब राज्य करते थे उस समय की याद करते हुए पू. श्रीगुरुजी ने कहा,

" देखो, अंग्रेजों ने अपनी सेना की कुछ टुकडियाँ इस देश में अनेक गरम स्थानों पर रखी थीं। उनकी सत्ता का आधार सेना ही थी। अति शीत आबहवा वाले इंग्लैण्ड से गरम हिंदुस्थान में उनकी सेना के नौजवान अंग्रेज आते थे। यह परिवर्तन उन युवकों के लिये आकस्मिक और कष्टदायी रहता था। किन्तु वे इसकी परवाह नहीं करते थे। पीठ पर सामान लाद कर धूप में उनको घण्टों चलवाया जाता था। उनसे अपेक्षा रहती थी कि शिकायत के बिना वे सब गरमी सहन करें। और वे अंग्रेज युवक प्रसन्नता से सब आज्ञाओं का पालन करते हुए इस परीक्षा में खरे उतरते।

ब्रिटन के युवक अपने ' राजा और देश ' के लिए प्रसन्नता से ऐसे कष्टमय जीवन को अपनाते थे। इसी कारण ब्रिटन विश्व में एक प्रबल सामर्थ्यशाली राष्ट्र था, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। हम लोगों ने उससे क्या यह पाठ नहीं सीखना चाहिए ?

(श्री. एम. सी. सत्यनारायण, इंग्लैण्ड)

आयु घट रही है, काम बाकी है।

अपनी इक्कावनवीं वर्षगांठ के अवसर पर प्राप्त एक अभिनंदनपत्र का श्रीगुरुजी ने जो उत्तर भेजा था वह उनके जीवन की विशेषता का प्रमाण है।

अत्यंत ज्वलंत शब्दों में प्रेषित उक्त उत्तर में श्रीगुरुजी ने लिखा, ' प्रत्येक जन्मदिवस

के अवसर पर मुझे स्मरण होता है कि ईश्वर ने जो आयु दी है, उसमें से १ वर्ष आज घंट गया है परंतु अभी तक ध्येयपूर्ति नहीं हुई है। अभी तो कितना ही काम करना शेष है।'

अपने देश की सेवा में, ध्येयप्राप्ति के लिए अविश्रांत परिश्रम कर एक तपस्वी की भांति वे अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे।

(श्री शेषाद्रि, बंगलोर)

मेरा रिश्तेदार है........

रंगून (बर्मा) में १९५० से संघ का प्रारंभ हुआ। १९५६ में अधिकारी शिक्षण वर्ग में प्रवेश लेने के लिए मैं अप्रैल मास में भारत के लिए रवाना हुआ। हर एक स्वयंसेवक नागपुर को तीर्थ स्थान ही समझता है क्योंकि संघ का प्रारंभ इसी शहर में हुआ था। २३ अप्रैल १९५६ के दिन जब नागपुर पहुँचा तब अपना सामान लेकर प. पू. श्रीगुरुजी के निवास स्थान पर ही पहुँचा। पू. श्रीगुरुजी के दर्शन की अभिलाषा पूर्ण हुई। लगभग १५-२० प्रौढ बैठे हुए थे और मैं पू. श्रीगुरुजी के समीप ही बैठा था। उसी समय एक प्रख्यात डॉक्टर ने मेरा थोडा परिचय होते ही पूछा, "तुमारा सगावहाला कोण छे, अने अहिं क्या उतर्यो छो ?" यह सवाल सुनते ही मैं असमंजस में पड गया कि क्या जबाब दूँ, क्योंकि संघ के दो स्वयंसेवकों में भाईयों से भी बढकर निःस्वार्थ प्रेम रहता है। इसी अवसर पर पू. श्रीगुरुजी ने झट से जबाब दिया कि "ये मेरा सगावहाला है और मेरे घर ही उतरा है"। यह सुनते ही मेरा रोम-रोम पुलकित हो उठा। और मेरे जीवन पर संघ कार्य की ऐसी गहरी छाप पडी कि मैं अब तक सभी स्वयंसेवक बंधुओं को अपने रिश्तेदार से भी अधिक समझता हूँ।

(प्रवीणचंद्र दोशी)

सिझेरियन या मॅक्बेथेनियन

घटना संभवतः सन् १९५७–५८ के बीच की है। नित्य की भांति प्रवास करते हुए श्रीगुरुजी अमरावती आए थे। नगरसंघचालक डॉ. भागवत के यहां उतरे थे। बैठक में अनेक डॉक्टर भी थे। चर्चा में किसी बात को लेकर शल्यक्रिया पर चर्चा छिड गई। गर्भ में शिशु आडा हो जाए तो उसे शल्यक्रिया द्वारा निकालना पडता है। इसे सिझेरियन कहा जाता है। आख्यायिका यह है कि रोम के बादशाह सिझर का जन्म इसी भांति हुआ था।

श्रीगुरुजी ने पूछा, 'क्या इस शल्यक्रिया का यह नाम योग्य है ?'

हमने कहा, – 'हां'

इस पर श्रीगुरुजी ने पूछा, ' आप में से किसी ने ' मॅक्बेथ ' पढा है ? '।

श्रीगुरुजी का अगला प्रश्न था, ' मॅक्बेथ का जन्म पहले हुआ या सीझर का ? ' और उन्होंने स्वयं ही उत्तर दिया कि ऐतिहासिक कालक्रम के अनुसार, मॅक्बेथ का जन्म पहले हुआ था तथा चूंकि मॅक्बेथ का जन्म भी इसी शल्यक्रिया से हुआ था, इस शल्यक्रिया को ' मॅक्बेथेनियन ' कहा जाना चाहिए ।

श्रीगुरुजी द्वारा दी गई इस जानकारी से सभी अवाक् रह गए । वे विज्ञान के स्नातक थे फिर भी इतिहास और साहित्य का इतना गहन अध्ययन सभी के लिए आश्चर्य का विषय था ।

(अ. ल. पूर्णपात्रे, जळगांव)

उनके जैसा आदमी नहीं....

आचार्य डॉ. रघुवीर के निवासस्थान को एक अद्‌भुत वस्तुसंग्रहालय कहना होगा । उन्होंने एक बार समय निकालकर श्रीगुरुजी को अपना संपूर्ण संग्रह दिखाया । घंटे-डेढ घंटे तक वे एक-एक वस्तु दिखाते रहे और श्रीगुरुजी अपना आश्चर्ययुक्त अभिप्राय व्यक्त करते रहे ।

संग्रह देखने के बाद श्रीगुरुजी ने कहा, ' आपने अपने अकेले के बलबूते इतना विशाल सांस्कृतिक कार्य किया है किंतु सरकार को इसका जितना महत्त्व प्रतीत होना चाहिए उतना उसे प्रतीत नहीं होता । '

इसके उत्तर में आचार्यजी ने कहा, ' इसके लिए एक ही व्यक्ति उत्तरदायी है– पं. जवाहरलाल नेहरू । '

मैं यह नहीं कह सकता कि आचार्य रघुवीरजी ने पंडित जवाहरलाल नेहरू का उल्लेख कौनसा हेतु रखकर किया किंतु इस पर श्रीगुरुजी ने तत्काल ही कहा, ' पंडितजी का एक दोष याने मुसलमानों के प्रति अतिरिक्त पक्षपात, इसे छोड दिया तो उनके जैसा आदमी नहीं । '

श्रीगुरुजी की यह आदत थी कि बोलने के प्रवाह में वे एकाध वाक्य दो-तीन बार दुहरा दिया करते थे । उसी के अनुसार उन्होंने उपरोक्त वाक्य कहने के बाद ' उनके जैसा आदमी नहीं ' दो-तीन बार दुहराया ।

(श्री. भा. वर्णेकर, नागपुर.)

अंतिम प्रयाण के लिए पाथेय

" आपने अपने जीवन में कभी भी किसी का कोई अहित नहीं किया, किसी के अहित का कभी सोचा तक नहीं फिर चिंता किस बात की ? "

श्री. भास्कररावजी झिंजर्डे १७ वर्षों तक बिहार में प्रचारक रहने के पश्चात् तपेदिक से बीमार हुए। ३ वर्षों तक बडी हिम्मत के साथ बीमारी से जूझते रहे। उपचारार्थ उन्हें सोलापूर, बंबई, वाई आदि स्थानों पर रखा गया परंतु कोई लाभ नहीं हुआ। अंत में उन्हें नागपुर के टी. बी. अस्पताल में भर्ती किया गया। उन्हें अपने प्रयाण की आहट मिल गई। अगस्त सन् १९५५ में श्रीगुरुजी जब उनसे मिलने के लिए गए तो उन्होंने अपने अंतिम प्रयाण की बात उनके सामने कही। श्रीगुरुजी ने उनको सान्त्वना देते हुए उपर्युक्त शब्द कहे।

बातचीत में श्रीगुरुजी ने श्री भास्कररावजी से कहा, 'इस शरीर से जितना काम लेना संभव था आपने लिया तो फिर चिंता किस बात की है? यह शरीर छोडकर जाने के लिए अपना बिस्तर हमेशा बांधकर रखना क्या उचित नहीं है? जो होना होगा सो होगा। हमें अपने प्रयत्न जारी रखने चाहिए, बस।'

श्री. भास्करराव झिंजर्डे ने दिनांक २५ सितंबर सन् १९५५ को इहलोक लीला समाप्त की।

(वि. ह. मुंजे, नागपुर)

आर्थिक समस्याएं

श्रीगुरुजी केवल सामाजिक समस्याओं का ही चिंतन नहीं करते थे, आर्थिक समस्याओं का उनका चिंतन उतना ही अभ्यासपूर्ण होता था।

श्रीगुरुजी के विषय में मेरे मन में कभी कोई गलतफहमी नहीं थी। उनसे मिलने की मेरी बडी इच्छा थी। यह इच्छा एक बार पूर्ण भी हुई। 'नवयुग मेंशन' में श्री. फडके के निवासस्थान पर हमारी २ घंटे तक बातचीत हुई।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पर अनेक आरोप किए जाते हैं किंतु मुझे उनसे कुछ लेना-देना नहीं क्योंकि संस्था, कोई भी हो, दल कोई भी हो, उस पर आरोप-प्रत्यारोप होते ही रहते हैं। श्रीगुरुजी से मेरी बातचीत आर्थिक समस्याओं पर हुई। अनाज की जिलाबंदी-प्रांतबंदी को लेकर उन्होंने कहा, 'प्रत्येक प्रांत स्वयंपूर्ण होकर देश को स्वयंपूर्ण बनाए। यदि सभी प्रांत सोचने लगें कि पंजाब से अनाज आएगा तो काम कैसे चलेगा?'

मैं समाजवादी, कुछ अधिक वामपंथी, फिर भी श्रीगुरुजी ने आर्थिक विषय पर जो विचार व्यक्त किए, उनसे मेरा कहीं कोई मतभेद उत्पन्न नहीं हुआ।

श्रीगुरुजी का राष्ट्रसमर्पित जीवन था, उन्होंने केवल हिन्दुत्व का ही विचार नहीं किया। मुसलमान नहीं चाहिए, यह उनकी भावना कदापि नहीं थी, किंतु उनका यह आग्रह अवश्य ही था कि मुसलमान राष्ट्रीय प्रवाह से समरस हों।

(प्रा. अनंत काणेकर)

समाज-बंधुओं की सेवा

डॉक्टरी की अंतिम वर्ष की शिक्षा ग्रहण करनेवाले ३-४ विद्यार्थी स्वयंसेवक पुणे में श्रीगुरुजी से एक बार मिलने गए। उन्होंने श्रीगुरुजी से कहा, संघ का कार्यक्षेत्र मर्यादित है, हम कुछ नया विधायक कार्य करना चाहते हैं। क्या करना चाहिए?

श्रीगुरुजी ने कहा, इतने बहुत सारे काम पडे हैं कि वस्तुतः कोई तुम्हें बताए इसकी तो आवश्यकता ही नहीं पडनी चाहिए। सातारा जिले में वाई तहसील है, जहां हजारों ग्रामीण 'नारू' रोग से ग्रस्त हैं। 'नारू' पर रामबाण औषधि खोज निकालो और अपने बंधुओं को रोगमुक्त करो। अपने बंधुओं के काम आना भी तो संघकार्य ही है।

श्रीगुरुजी ने इस भांति सैकडों व्यक्तियों का मार्गदर्शन किया, उन्हें कार्य-प्रवृत्त किया।

(राम. वि. गोडबोले, बंबई)

विश्वकर्मा दिवस

श्रीगुरुजी से जो भी मिलने आया करता था, उससे उसके कार्यक्षेत्र के संबंध में बातचीत करना, चर्चा करना, कुछ मौलिक सूचनाएं देना श्रीगुरुजी का स्वाभाविक नित्यक्रम था।

भारतीय जीवन प्रणाली के आधार पर देश के श्रमिकों को संगटित करनवाले श्री. दत्तोपंत ठेंगडी एक बार श्रीगुरुजी से नासिक में मिलने के लिए गए।

बातचीत में मई दिवस की चर्चा चल पडी। प्रश्न यह उठा कि सभी को प्रेरणा दे सके और एक सूत्र में पिरो सके ऐसा कोई अपनी परंपरा में सभी के लिए श्रद्धास्पद दिवस है अथवा नहीं?

श्रीगुरुजी ने बताया, ऐसा दिन है और वह है 'विश्वकर्मा दिवस'। श्रीगुरुजी इतना बताकर ही नहीं रुके। इसके संबंध में विस्तृत जानकारी कहां मिलेगी, अपने समाज के सभी स्तर के लोग विश्वकर्मा को किस भांति से मानते हैं इसका विस्तृत विवरण भी उन्होंने दिया। इतना ही नहीं तो उन्होंने यह भी बताया कि पुणे के 'केसरी' ग्रंथालय में इस विषय पर कौन-कौन सी पुस्तकें उपलब्ध हो सकती हैं।

सर्व विदित है कि भारतीय मजदूर संघ देशभर 'विश्वकर्मा दिवस' मनाता है।

(नानाराव ढोबळे)

प्रांतीयता के विरोधी

शिवसेना-प्रमुख श्री. बाल ठाकरे एक बार श्रीगुरुजी से मिलने गए। बातचीत में उन्होंने शिकायत की कि जनसंघ शिवसेना से सहयोग नहीं करता।

इस पर श्रीगुरुजी का दो टूक उत्तर था, मेरी जानकारी के अनुसार, जनसंघ प्रांतवाद नहीं मानता। एक प्रांत के लोगों को दूसरे प्रांत के लोगों के विरुद्ध खडा करना जनसंघ को मान्य नहीं है।

(दि. पा कुळकर्णी)

स्नेह कभी न तोडे

जबलपुर के श्री. केकरे वकील और उनका संपूर्ण परिवार कम्युनिस्ट विचारधारा का था। मुझे आश्चर्य यह था कि श्रीगुरुजी जब भी जबलपुर जाते श्री. केकरे वकील के ही यहां ठहरते। मुझसे रहा नहीं गया और एक बार मैंने श्रीगुरुजी से पूछ ही लिया—वह परिवार तो कम्युनिस्ट है फिर भी आप उन्हींके यहां ठहरते हैं?

श्रीगुरुजी ने कहा, वह मेरा पुराना मित्र है। जब मैं संघ में नहीं था और वह भी कम्युनिस्ट नहीं था तबसे मेरा और उसका प्रगाढ संबंध है। स्नेह कभी तोडना नहीं चाहिए। साथ ही मनुष्य को किसी भी समय अनुभूति हो सकती है। भविष्य में वह भी संघ का ही विचार करने लगेगा, इसमें मुझे संदेह नहीं है।

(डा. कृष्ण महादेव जोशी, नांदेड)

राष्ट्रीयता की कसौटी

एक बार, एक विख्यात अमेरिकी प्राध्यापक ने श्रीगुरुजी से प्रश्न किया, 'मुस्लिम व ईसाई इसी देश के हैं तब आप उन्हें अपने ही क्यों नहीं मानते?'

इसके उत्तर में श्रीगुरुजी ने उक्त प्राध्यापक से एक प्रतिप्रश्न किया। उन्होंने पूछा, 'मान लीजिए हमारे देश का एक नागरिक अमेरिका जाता है। वह वहीं स्थाई हो जाता है। उसे अमेरिकी नागरिकता तो चाहिए किंतु वह अब्राहम लिंकन, जॉर्ज वाशिंग्टन, जेफरसन आदि को राष्ट्रपुरुष मानने के लिए तैयार नहीं है। ऐसे व्यक्ति को क्या आप अमेरिका का राष्ट्रघटक मानेंगे।'

प्राध्यापक महोदय ने क्षणार्ध का भी विलंब किए बिना उत्तर दिया, 'नहीं'!

इस पर श्रीगुरुजी ने कहा, 'हमारे देश में भी यदि यही कसौटी लगायी जाए तो उसमें क्या गलती होगी। इस देश के वीर पुरुषों को, राष्ट्रपुरुषों को, राष्ट्रगीतों को जो

नहीं मानते, उन्हें हम अपना क्यों कहें ? मानसिक निष्ठा को ही संपूर्ण जगत में राष्ट्रीयता की सर्वमान्य कसौटी माना गया है ।'

(मराठा, श्रीगुरुजी श्रद्धांजलि विशेषांक)

देशभक्ति का भाव

जनरल के. एम. करिअप्पा दि. २१ नवम्बर १९५९ को मैसूर में पू. श्रीगुरुजी से मिले । कुछ समय तक भाषा-विवाद पर तर्क उपस्थित होते रहे । जनरल करिअप्पा अंग्रेजी भाषा को राष्ट्रभाषा बनाए रखने के पूर्ण समर्थक थे । उन्होंने बातचीत के दौरान पू. श्रीगुरुजी से सीधा सवाल किया, 'फिर आपका क्या यह मतलब है कि अंग्रेजी बोलनेवालों में हिन्दी बोलनेवालों से कम देशभक्ति का भाव रहता है ?' पू. श्रीगुरुजी ने उतनी ही दृढता से उत्तर दिया, "बाकी सब गुणों में दोनों बराबर रहते हुए यदि बोलनेवाला अंग्रेजी में बात करता है तो निश्चित ही हिन्दी में बोलनेवाले से देशभक्ति का भाव उसमें कम है ।"

इस खरे और कडे उत्तर से जनरल करिअप्पा स्तम्भित हो गए और उनके सब तर्क शान्त हो गये ।

(एच. व्ही. शेषाद्रि बंगलोर)

शंकराचार्य के प्रयासों को सफल करें

बद्रीनाथ निवास में कुछ वृद्ध पुरोहित एवं प्रमुख नागरिकों के साथ पू. श्रीगुरुजी वार्तालाप कर रहे थे । मंदिर के पुजारी केरल के नंबूद्री ब्राह्मण थे । जहां रामेश्वर के समुद्र जल से बद्रीनाथ का अभिषेक कर एकात्मता का संस्कार देनेवाली व्यवस्था है वहां दक्षिण के एक सुदूर पुजारी की नियुक्ति भी उसी संस्कार को दृढ करती है । इस बात का स्मरण कराते हुए उन्होंने आगे कहा कि यहां आनेवाले यात्रियों में मूलतः यही भाव होता है । हम अपने विविध भौतिक या धार्मिक व्यवहार से उनकी इस एक राष्ट्रीयत्व की भावना को पुष्ट करें । इसी में प्रातःस्मरणीय शंकराचार्य के प्रयास की सफलता है । वर्तमान समय की धनापेक्षी मनोवृत्ति के असुर से हम अपनी रक्षा करें तभी धर्म की रक्षा होगी । जानेवाला यात्री धर्मभाव लेकर जाएगा । उसमें श्रद्धा बढाने का या अश्रद्धा जगाने का दायित्व व्यावहारिक स्तर पर तीर्थक्षेत्रों के प्रमुख लोगों पर, विशेष कर पुरोहितों पर है । यदि हमारा व्यवहार ठीक रहा तो प्रचार चाहे जितना विरोधी हो, भावुक हिंदु धार्मिक ही बना रहेगा ।

(श्री. विश्वनाथ लिमये)

स्वयंसेवक भ्रष्टाचार से दूर रहे

हैदराबाद विभाग के शिविर में प. पू. श्रीगुरुजी का दो दिन निवास था। जिलाशः परिचय की बैठकें चल रही थीं। एक बैठक में एक स्वयंसेवक ने अपना परिचय देते समय कहा कि वह वैद्य है। प.पू. श्रीगुरुजी ने उसको पूछा " आपने कौनसी परीक्षा पास की ?" उसने कुछ परीक्षा पास नहीं की थी। " आपको वैद्यकी का व्यवसाय करने के सर्टिफिकट के बिना अनुमति कैसी मिली ?" गुरुजी ने प्रश्न किया। प्रश्न का सीधा उत्तर न देते हुए वह कहने लगा कि " इस भ्रष्ट सरकार की सारी बातें देखनेवाला कौन है ? " उस की यह बात सुनकर प. पू. श्रीगुरुजी के चेहरे के भाव एकदम बदल गये। कठोर दृष्टि से उसकी ओर देखकर गुरुजी कहने लगे– " खुद की गलती सरकार पर क्यों थौंपते हो ? तुम्हारे समान लोग रहे तो कोई भी सरकार भ्रष्ट हुए बिना नहीं रहेगी। हमने पहले हमारा व्यवहार ठीक करना चाहिए। सरकार को भ्रष्ट कहने में कुछ मतलब नहीं है। और एक स्वयंसेवक ने ऐसा कहना बडा ही लज्जास्पद है। स्वयंसेवक से यह अपेक्षित नहीं है।"

(श्री. व्ही. एल. देशमुख)

नाम की सार्थकता

एक बार नागपूर के लॉयन्स क्लब में श्रीगुरुजी को आमंत्रित किया गया तथा उनसे कहा गया कि वे राजनीति और धर्म को छोड किसी भी विषय पर बोलें।

इस पर टिप्पणी करते हुए श्रीगुरुजी ने कहा, " राजनीति पर तो मैं बोलता नहीं परंतु आपने धर्म पर भी न बोलने के लिए कहा है। इस विषय में स्वामी विवेकानंद ने कहा है कि ए मॅन विदाउट रिलीजन इज ए मॅन विदाउट हार्ट। संस्कृत में भी कहा गया है–धर्मेण हीनः पशुभिः समानः। धर्म पर न बोलने के लिए आपने मुझसे कहा है। इससे तो आप का लॉयन्स क्लब नाम सार्थ है।"

(जोधपुर की एक बैठक में स्वयं श्रीगुरुजी द्वारा वर्णित)

चाँद तारा कहां से आया ?

गोण्डा जिले के उत्तरौला स्थान पर संघ का एक कार्यक्रम था। पूजनीय श्रीगुरुजी को लेकर मैं वहां गया था। उसी समय वहां मुसलमानों का सडक पर एक जुलूस निकला। वे लोग हाथों में झंडे लिए हुए आ रहे थे। हरे कपड़े पर चाँद-सितारे वाला उनका झंडा देखकर गुरुजी ने मुझसे पूछा-जानते हो यह चाँद-सितारे वाला निशान इन लोगों ने कहां से लिया ? मैंने अपनी अनभिज्ञता व्यक्त की। गुरुजी बोले-चांद के साथ ऐसा सितारा प्रकृति में तो कहीं कभी होता नहीं। आधा चाँद और उसके अन्दर तारा

यह कभी नहीं होता। यह इन लोगों ने हमारे ॐ के ऊपर का ँ भाग लेकर बनाया है।

(मा. श्री. बालाबाबू)

चिन्ताग्नि

इस बार बंगलूर विभाग के कार्यक्रम के पश्चात् आगे के प्रवास के लिए श्रीगुरुजी रात को बंगलूर रेलवे स्टेशन पर उतरे। इतने में एक स्वयंसेवक ने, जो उसी समय रेडियो सुनकर आ रहा था, उनको बम्बई की हृदय विदारक घटनाओं का ताजा समाचार सुनाया। उसने बताया कि आन्दोलनकारियोंपर पुलिस ने कई बार गोलियाँ चलाई, जिनसे अनेक लोगों की जानें गयीं।

दूसरे दिन प्रातःकाल वे मोटर से मंगलोर जा रहे थे। किसी ने उनसे पूछ ही लिया, "क्या कल रात आपको नींद व आराम मिला?"

श्रीगुरुजी ने मार्ग के सभी स्टेशनों के नाम बताते हुए कहाँ, मैं सारी रात जागता रहा। कभी-कभी देश की चिन्ता भी करनी पडती है। कल ही रात बम्बई की दुर्घटना सुनी थी।"

दिन-रात राष्ट्र की कितनी चिन्ता। कितना उग्र है उनका तप।

(श्री. यादवराव जोशी)

तुम कैसे स्वयंसेवक हो?

बाराबंकी (उत्तरप्रदेश) में पू. श्रीगुरुजी का बौद्धिक वर्ग चल रहा था। उस समय एक स्वयंसेवक पेंसिल से कागज पर श्रीगुरुजी का चित्र बना रहा था। भाषण समाप्त होते-होते उसने माइक के साथ खड़े श्रीगुरुजी का हू-ब-हू चित्र बना लिया था। कार्यक्रम की समाप्ति पर वह मा. श्री. रज्जू-भैय्या के पास आया और चित्र दिखाकर बोला – इस पर पू. श्रीगुरुजी के हस्ताक्षर दिलवा दीजिए। रज्जू भैय्या उसे पू. श्रीगुरुजी के पास ले गये। पू. श्रीगुरुजी ने चित्र देखा और पूछा कि तुम केवल चित्रकार हो कि स्वयंसेवक भी हो? उसने उत्तर दिया, 'मैं स्वयंसेवक हूं, नियमित शाखा में जाता हूं।' तब पू. श्रीगुरुजी ने कहा – मैं जिस समय अपनी सम्पूर्ण शक्ति से अपने हृदय के भावों को वाणी से व्यक्त कर रहा था, उस समय तुम उधर ध्यान न देकर चित्र बनाने में तल्लीन थे, वह समय तो इस काम के लिए नहीं था, तुम कैसे स्वयंसेवक हो? इस पर मेरे हस्ताक्षर नहीं मिल सकते, और कहा – मैं बैठा हूं अब तुम यदि मेरा चित्र बनाए होते तो मैं हस्ताक्षर दे भी देता।

(नरनारायण पांडे,
जिला कार्यवाह, गोंडा जिला)

परमपूजनीय श्रीगुरुजी और श्रमिकक्षेत्र

सन् १९५० के प्रारंभ में मध्यप्रदेश 'इंटुक' के प्रधान श्री. पु. य. देशपांडेजीने मुझे उनकी संस्था में आनेका निमंत्रण दिया। उस समय के सरकार्यवाह माननीय बालासाहाब देवरसजी ने मुझे बताया कि उनके निमंत्रण को मैं स्वीकार कर लूं। मार्च मास के अन्त में मैंने 'इंटुक' में प्रवेश किया। उस समय परमपूजनीय श्रीगुरुजी ने बताया कि जिस संस्था में तुम काम करने जा रहे हो उस संस्था के अनुशासन का पूरी तरहसे पालन करो। जब उनका अनुशासन और तुम्हारी ~~सद्सद्~~विवेक बुद्धि में संघर्ष पैदा होगा तब त्यागपत्र देना अच्छा रहेगा। किंतु जबतक उस संस्थामें हो, उसका अनुशासन ही प्रमाण मानना चाहिए।

ट्रेड युनियनिझम् में पूजनीय महात्माजी तथा मार्क्स दोनों के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिये भी उन्होंने कहा। इस दृष्टि से किस–किस पुस्तक का वाचन मैं कर रहा हूं इसके विषयमें वे बीच–बीच में पूछते रहते थे। कुछ दिनों के बाद कार्य का दबाव बढने के कारण अध्ययन के लिए समय नहीं मिलता था। इस पर श्रीगुरुजीने असंतोष प्रकट किया और कहा कि दोनों बातें साथ-साथ चलाने के लिए आवश्यक मानसिक संतुलन प्राप्त करनाही चाहिए। स्वयं अपने को कंसेशन देने की प्रवृत्ति उचित नहीं।

कम्युनिस्ट ट्रेड युनियन कार्यकर्ताओंकी कार्यपद्धतिका भी प्रत्यक्ष कार्यक्षेत्र में अध्ययन करने के लिए उन्होंने बताया। यह भी कहा कि जहांतक बने वहांतक दौरे में अपने मजदूर कार्यकर्ताओंके मकान में ही ठहरना चाहिए। गरीब लोगों के परिवारों में निवास न रहा तो केवल पुस्तकें पढने से उनके साथ मानसिक तादात्म्य प्राप्त नहीं हो सकता यह उनका विचार था।

सन १९५० के दिसंबर में 'इंटुक' के जनरल कौन्सिलपर मेरा निर्वाचन हुआ। जमशेटपूरसे लौटते ही मैंने यह समाचार मा. भय्याजी दाणीको दिया। मेरी बातचीतके ढंग से वे समझ गए कि इस यशके कारण मैं न केवल आनंदित अपितु उत्तेजित भी होगया हूं, और पदप्राप्तिको केवल कर्तव्य के नाते नहीं अपितु व्यक्तिगत बडप्पनकी निशानी के नाते मेरे मनमें महत्त्व प्राप्त हुआ है। वे मुझे श्रीगुरुजी के पास ले गए, और उन्हें यह समाचार बताया। श्रीगुरुजीने तुरंत कुछ प्रतिक्रिया प्रकट नहीं की। इधर-उधरकी बातें कुछ देरतक होने के पश्चात् उन्होंने एकदम पूछा, कि मैं जनरल कौन्सिलमें किन मजदूरोंके प्रतिनिधिके रूपमें गया हूं। मैंने कहा, मैंगनीज मजदूरोंके। उन्होंने पूछा, मैंगनीज मजदूरोंमें 'इंटुक' की सदस्य संख्या कितनी है? मैंने अंदाजसे कहा, तीस एक हजार तक। फिर आधा एक मिनिट वे स्तब्ध रहे, और फिर बोले, "देखो, मेरे एक प्रश्न का सीधा उत्तर दो; घुमाफिराकर नहीं। क्या तुम इन तीस हजार मजदूरोंसे उतनीही उत्कटतासे प्रेम करते हो जितनी उत्कटता से तुम्हारी माताजी

तुमसे प्रेम करती है ? सच्ची बात बताओ।" मैंने उत्तर दिया कि ईमानदारीसे मैं 'हां' नहीं कह सकता। इसपर श्रीगुरुजी बोले कि, "तो फिर तुम इंटुककेही जनरल कौंसिलके सदस्य बन सकते हो, भगवानके जनरल कौंसिल के नहीं बन सकते।"

'इंटुक' के साथ-साथ कुछ कम्युनिस्ट प्रभावित यूनियनोंमें भी काम करने का अनुभव लेना चाहिये, यह उनकी इच्छा थी। संयोगसे पी. एण्ड टी. तथा बैंकिंगके क्षेत्रमें मुझे वह अवसर प्राप्त हुआ। इसपर श्रीगुरुजीने संतोष प्रकट किया। उस समय भी उन्होंने यही कहा कि जबतक उन संस्थाओंमें तुम कार्यकर्ताके रूपमें हो तबतक उनके अनुशासनका ठीक ढंगसे पालन करो। अन्य कारणोंसे वैसे करना असंभवनीय होगया तो वहांसे त्यागपत्र दे दो। किंतु संस्था में रहते हुए अनुशासनहीन व्यवहार करना अपने लिए अच्छा नहीं।

इन दोनों क्षेत्रों में (पी. एण्ड टी. तथा बैंकिंग) मेरे रहते हुए एक अवसर ऐसा आया जब कि उसके कम्युनिस्ट नेतृत्वने सार्वदेशीय हडतालका निर्णय लिया। स्वयं मुझे वे निर्णय अनुचित लगते थे। किंतु दोनों संस्थाओं में मेरी श्रेणी छोटीही थी। उन दोनों अवसरोंपर श्रीगुरुजीने कहा कि, 'ऊपर के निर्णय में परिवर्तन लाने की दृष्टि से लोकतांत्रिक पद्धति से जो कुछ भी कर सकते हो, अवश्य करो। किंतु निर्णय कायम रहा तो उसका क्रियान्वयन करना होगा। क्योंकि इसी बात को एक 'ईश्यू' बनाकर त्याग-पत्र देना इस समय हितकर प्रतीत नहीं होता।' दोनों निर्णय बदल लेने में मैं असमर्थ था। किंतु अन्य किन्हीं कारणों से उनमें परिवर्तन हो गया।

इसी अवधि में एक बार म. प्र. हाथकरघा बुनकर काँग्रेस के नेता श्री. रा. बा. कुंभारेजी मा. बच्छराजजी के साथ श्रीगुरुजी से मिलने आए। उन्होंने अपने बुनकर काँग्रेस के बारे में कुछ बातें बतायीं तथा सहायता की याचना की। मा. श्री. बच्छराजजी को तथा मुझे श्रीगुरुजीने बाद में बताया कि 'अपनी शक्ति का ख्याल रखते हुए जितनी हो सके उतनी सहायता आप दोनों बुनकर काँग्रेस को करें। यह करते समय राजनैतिक लाभालाभ या सौदेबाजी का विचार हमारे मन में न रहे। अपने संपर्क का क्षेत्र विस्तृत करना और बुनकरों की समस्या के बारे में प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त कर लेना, इतनाही हमारा उद्देश्य होना चाहिये।' बुनकरों के संगठन-आंदोलन के संदर्भ में सोचते समय हम सब बुनकरों को एक इकाई समझ कर चलें—चाहे फिर वे सवर्ण बुनकर हों, अस्पृश्य बुनकर हों, या मुसलमान–बुनकर सब मिलकर एकही आर्थिक इकाई है, यही सोचना उचित होगा, यह श्रीगुरुजी का अभिप्राय था।

श्री. कुंभारेजी से बात करते समय श्रीगुरुजी ने सुझाव दिया कि आज के हथकरघे में कुछ तांत्रिक सुधार लाना चाहिए, जिसके फलस्वरूप उत्पादन तो बढे किंतु जिसपर काम करने में बुनकरों को कठिनाई प्रतीत न हो, थोडीसी शिक्षा प्राप्त कर वे उसपर काम कर सकें।

इसी वार्ता के समय श्रीगुरुजी ने यह विचार प्रकट किया कि द्विभार्या प्रतिबंधक

कानून बुनकरों पर लागू करना उनकी आर्थिक व्यवस्था की दृष्टि से अनुचित होगा।

शेडयूल्ड कास्ट्स् फेडरेशन के कार्यकर्ताओं के साथ हमारे कार्यकर्ताओं ने अच्छे संबंध प्रस्थापित करने चाहिये, यह उनकी इच्छा थी। वे उच्चवर्णियों को गाली देते हैं, इस कारण उत्तेजित न होते हुए हम उनसे प्रेम बढाएँ, यही वे श्रेयस्कर मानते थे। हमारे संबंध व्यक्तिगत तथा सामाजिक स्तरपर रहें; राजनैतिक सौदेबाजी का विचार मन में लाना उचित नहीं–उससे दीर्घकालीन राष्ट्रीय लाभ से भी हम वंचित रहेंगे और सद्यः-कालीन लाभ तो होगाही नहीं, ऐसा वे कहते थे। मजदूर क्षेत्र के कार्यकर्ताओं से बोलते समय एक बार उन्होंने कहा कि, आर्थिक क्षेत्र की दृष्टि से शेडयूल्ड कास्ट्स् फेडरेशन याने अखिल भारतीय खेतीहर मजदूर संघ है। यह आर्थिक ' कॅरेक्टर ' उनके ध्यान में रहेगा तो बाकी खेतीहर मजदूरों के साथ घुलमिल जाने की इच्छा उनमें जागृत होगी और सामाजिक कटुता की तीव्रता कम होगी।

(श्री. दत्तोपंत ठेंगडी)

• •

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	१२	तत्त्व को	तत्त्व की
७	संस्कृत श्लोक	राजाऽऽसीत्न	राजाऽऽसीत् न
९	१३	करता है	करना है
२२	२६	जब में	जब मैं
२५	अंतिम	आवश्कता	आवश्यकता
२८	११	कसते	सकते
३२	२२	स्यान	स्थान
५८	३०	और	ओर
६४	७	इनका	इसका
६७	१२	की	कि
७८	६	और	ओर
८०	१	बठकर काय	बैठकर कार्य
८०	१२	मनुष्व	मनुष्य
८३	३	समय हाथ से	जब समय हाथ से
९८	११	सुख-संतोप	सुख-संतोष
९८	१६	दुखेदे	दुखद
१०७	२२	और	ओर
१०७	२५	जीवनादशा	जीवनादर्शों
१२३	६	तया	तथा
१२५	२८	उनकी	उनके
१२७	१०	इंटर्नल	इटर्नल
१३३	१७	रखता	रहती
१४१	२५	कहना	करना
१४६	१	की जाती हैं	की की जाती हैं
१४७	३३	में	मैं
१४९	२	वाद्यवृंद्ध	वाद्यवृंद
१५१	२४	श्रीतवृंद	श्रोतृवृंद

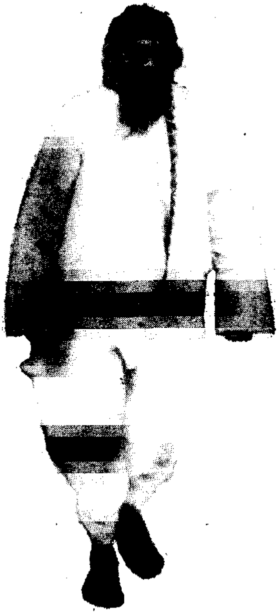

श्रीगुरुजी समग्र दर्शन खण्ड ३

चित्र-संच ●●●●●●●●

मा. नगरसंघचालक
लाला हरिचंदजी, दिल्ली
परम पूज्य श्रीगुरुजी का
स्वागत करते हुए।
(सन् १९५०)

विजयवाडा में
प्रकट वार्षिकोत्सव
समारोह में भाषण
करते हुए
प. पू. श्रीगुरुजी।
(सन् १९५०)

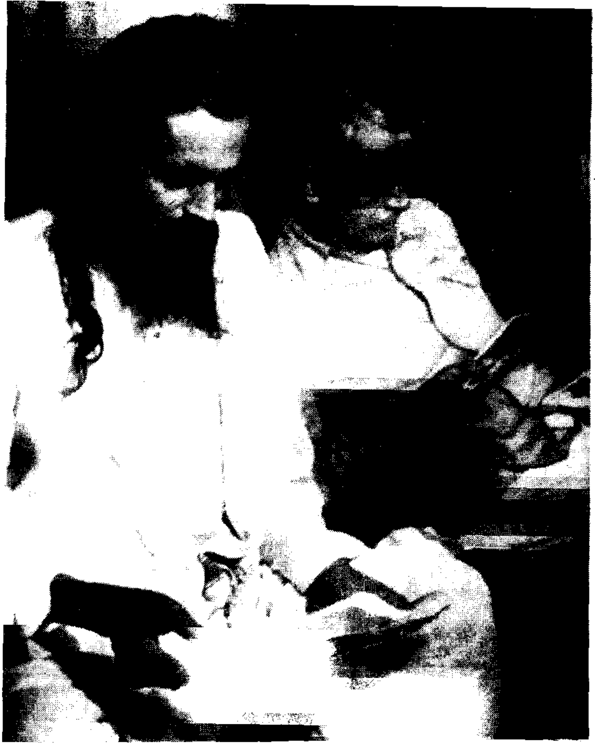

भूतपूर्व सिंध प्रांत संघचालक
मा. बै. खानचंद गोपालदासजी
के साथ।
दिल्ली (१० फरवरी १९५१)

स्वातंत्र्यवीर सावरकर
सत्कार-समारोह पर
प. पू. श्रीगुरुजी,
न्यायरत्न धुंडिराज शास्त्री 'विनोद'
तथा बै. सावरकर।
(सन् १९५२)

प. पू. श्रीगुरुजी एर्नाकुलम (केरळ) नगरपालिका के अध्यक्ष श्री. अलेक्जांडर परमन्नियरा (बाएँ) तथा बै. ए. एन्. मेनन के साथ। (नवम्बर, १९५२)

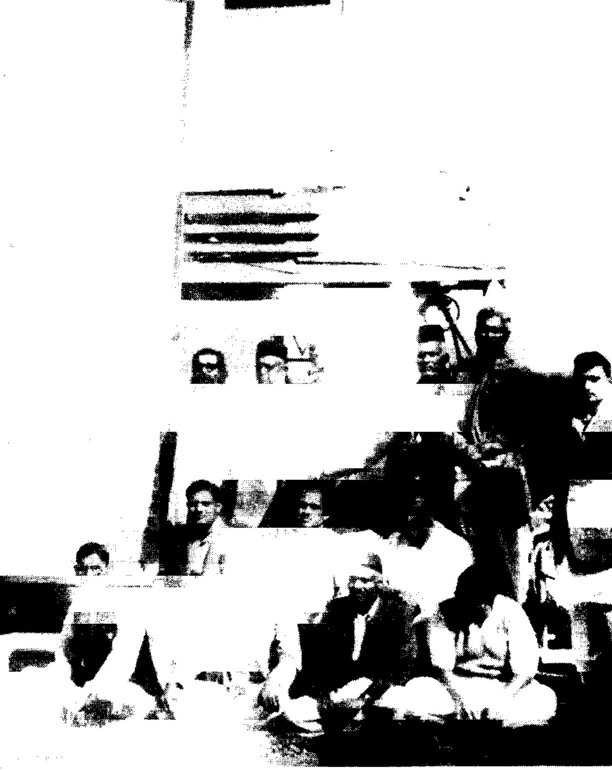

गोहत्या निरोध की मांग के लिए अखिल भारतीय जनमत-संग्रह। आवेदनपत्र राष्ट्रपति को देते समय राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के केंद्रीय कार्यकारी मंडल के साथ प. पू. श्रीगुरुजी। (७ दिसम्बर १९५२)

अ. भा. गोहत्या निरोध सम्मेलन, दिल्ली : गोपूजन करते हुए नामधारी पंथ के नेता सद्गुरु प्रतापसिंह, लाला हरदेवसहाय आदि नेताओं के साथ प. पू. श्रीगुरुजी। (७ दिसम्बर १९५२)

अ. भा. गोहत्या निरोध सम्मेलन, दिल्ली : दिल्ली प्रांत संघचालक मा. लाला हंसराजजी मंचपर डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी का स्वागत करते हुए। (७ दिसम्बर १९५२)

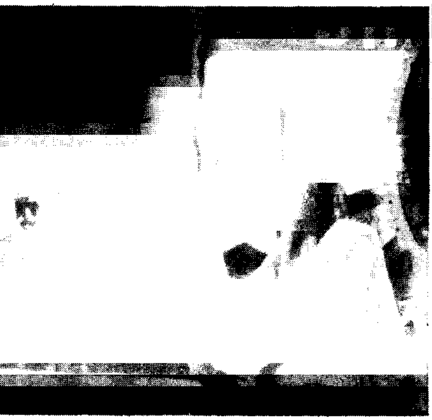

गोहत्या निरोध सम्मेलन : दिल्ली
मंचपर सद्‌गुरु प्रतापसिंह,
डा. मुखर्जी, प. पू. श्रीगुरुजी
तथा मा. भय्याजी दाणी (आवृत्त)
(७ दिसम्बर १९५२)

गोहत्या निरोध सम्मेलन : दिल्ली
डा. मुखर्जी, प. पू. श्रीगुरुजी
तथा मा. लाला हंसराजजी।
(७ दिसम्बर १९५२)

सिमला में संघ के कार्यक्रम के
लिए प्रस्थान करते समय।
(४ अक्तूबर १९५३)

मथुरा में गोग्रास यज्ञ का
उद्‌घाटन करते हुए
श्री पुरुषोत्तमदास टंडन। साथ में
प. पू. श्रीगुरुजी।
(९ अगस्त १९५५)

मथुरा में गोहत्या निरोध
सम्मेलन का उद्‌घाटन भाषण
करते हुए प. पू. श्रीगुरुजी।
(९ अगस्त १९५५)

नागपुर स्थित निवासस्थान में
५१ वे जन्म-दिवसपर पूजा विधि।
(सन् १९५६)

गट्टांभी (केरळ) में
डा. ए. के. वारियर के परिवार के साथ।
(तैल चिकित्सा के लिये
प. पू. श्रीगुरुजी यहां गये थे।)
(२८ फरवरी १९५६)

प. पू. श्रीगुरुजी का ५१ वां जन्मदिन
सत्कार-समारोह—जबलपुर।
महाकोशल प्रांत संघचालक
मा. भय्यालाल सराफ तथा प्रांत कार्यवाह
मा. भाऊसाहेब भुस्कुटे।
(१० मार्च १९५६)

प. पू. श्रीगुरुजी का ५१ वां जन्मदिन
सत्कार-समारोह—मद्रास।
(२७ मार्च १९५६)

प. पू. श्रीगुरुजी का ५१ वां जन्मदिन–पुणे।
बाएं–प्रांतसंघचालक मा. लिमयेजी,
दाएं–महर्षि कर्वेजी। (१ अप्रैल ५६)

प. पू. श्रीगुरुजी का ५१ वां
जन्मदिन सत्कार-समारोह :
दिल्ली स्टेशनपर स्वागत। (८ अप्रैल १९५६)

स्वामी अमूर्तानंद तथा
प. पू. श्रीगुरुजी।
बीच में जो
कमण्डलु है वह
प. पू. श्रीगुरुजी को,
उनके दीक्षा गुरु
स्वामी अखंडानंदजी
की ओर से मिला था।
(सन् १९५७)

सोमनाथ भेंट।
(१२ फरवरी १९५७)

एर्नाकुलम नगर कार्यवाह
श्री. डी. अनंत प्रभु के विवाह-समारोह
के अवसर पर।
(१४ जुलाई १९५८)

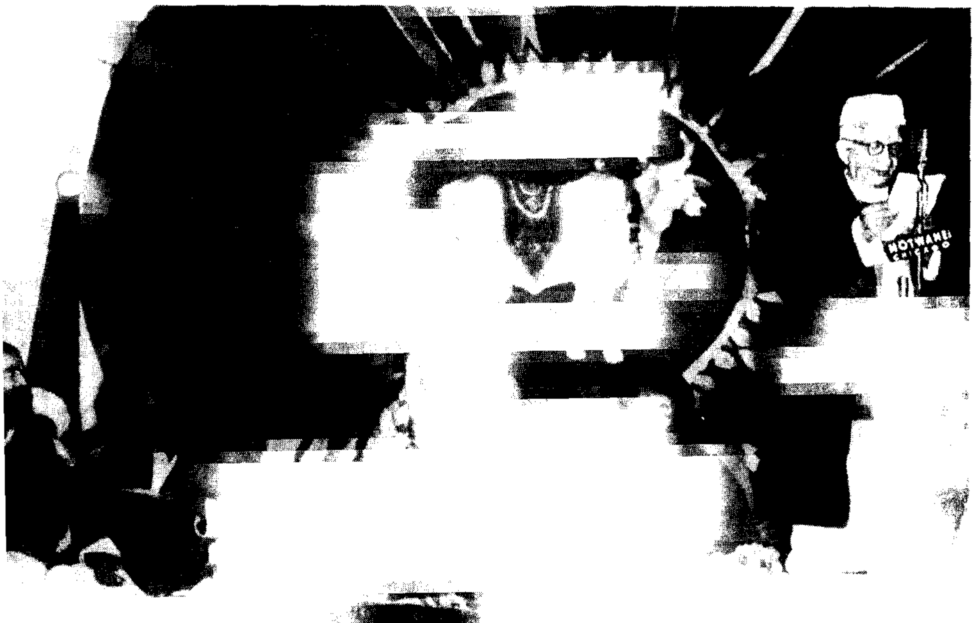

गोहत्या निरोध सम्मेलन, दिल्ली :
द्वारकापीठ शंकराचार्य की अध्यक्षता में।
पं. सातवळेकर भाषण करते हुए।
(१३–१४ दिसम्बर १९५८)

गोहत्या निरोध सम्मेलन :
प्रभुदत्त ब्रह्मचारी तथा
प्रांतसंघचालक
मा. लाला हंसराजजी ।
(सन् १९५८)

जम्मू में ।
पं. प्रेमनाथजी डोगरा द्वारा
स्वागत ।
(१८ मार्च १९६०)